विषय परिचय

विद्वद्वरनेमिचन्द्रविरचितः

सूर्यप्रकाशग्रन्थः प्रारभ्यते

मंगलाचरण

श्रीमन्त सर्वयोगीन्द्रवद्यांह्रि सन्मर्ति जिनम्। वदे प्रारब्धसिद्धयर्थं सिद्ध सिद्धिकर वरम् ॥ १ ॥

अर्थ—अतरंग अनंतचतुष्टयादि लक्ष्मी और बहिरंग समवसरणादि लक्ष्मी से सुशोभित, सर्व योगीश्वरों से पूजित, चार घातिया कर्मोका नाश करने से सिद्ध अवस्था (भाविनयकी अपेक्षा) को प्राप्त हुए, समस्त प्रकारकी सिद्धियों को प्रदान करनेवाले, श्रेष्ठ ऐसे वीर प्रभुको मैं, प्रबलतर मोहनीयादि कर्मो के नाशकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रीवीरप्रभुके गुणो की अचित्य महिमाको प्रकट करनेके लिये ग्रंथकर्ताने श्रीमंत आदि विशेषणों से यह बतलाया है कि जगत् में आभ्यंतर और बहिरंग लक्ष्मीसे प्रभु वीर भगवान् अतिशय प्रभावित हैं। महान् ऋद्धियोंके धारक योगीश्वरों से भी पूजित हैं। और समस्त प्रकार रागादि भावों का नाश कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुके हैं। ऐसे वीर भगवान्को नमस्कार करने से मेरे कार्य की सिद्धि हो।

शर्मद शर्मभोक्तार नेमिचंद्र जिनेश्वरम्। वक्ष्ये सूर्यप्रकाशाख्यं ग्रथमानददायकम् ॥ २ ॥

अर्थ—अनंतसुखके स्वामी, अतएव जगत्के जीवों को अनंत सुखके प्रदान करनेवाले ऐसे श्री नेमिचंद्र जिनेंद्र भगवान्को नमस्कार कर परमानंद देनेवाले इस सूर्यप्रकाश नामक ग्रंथका वर्णन करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्यके उद्योत से अंधकार नष्ट होकर आनंदकी प्राप्ति होती है उसी प्रकार इस सूर्यप्रकाश ग्रन्थ से भव्य जीवो का चिरकालका घोर मिथ्यांधकार नष्ट होकर उनको परम आनंद अवश्य ही प्राप्त होगा।

वृपभादिजिनान् सर्वान् पंचकल्याणभूपितान् । ज्ञानाब्धिपारगान् शुद्धान् वदे भवविहानये ॥ ३ ॥
सर्वान् सिद्धानह वदे शर्ममग्नान् सदा खलु । लोकाग्रशिखरारूडान् तेपा सद्गुणसिद्धये ॥ ४ ॥
सूरीन् सर्वानिह वदे पट्त्रिंशद्गुणभूपितान् । भुक्तिमुक्तिप्रदान् नित्य नार्नाद्धिगुणमडितान् ॥ ५ ॥
पाठकान् बुद्धिवृद्धयर्थं वदे देवेन्द्रवदितान् । स्वव पठति सर्वाङ्ग शिष्यान् सपाठयत्यहो ॥ ६ ॥
सर्वान् साधूनह वदे त्रिकाले ध्यानकारकान् । योगसरोधने दक्षान् ध्यानज्ञानादिसिद्धये ॥ ७ ॥
जिनाननात्समुत्पन्ना भारती मतिवृद्धये । वदे भवतु मे देवि ! बोधलाभो भवे भवे ॥ ८ ॥

अर्थ—गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण ऐसे पंचकल्याणकों के द्वारा महान् अतिशय को प्राप्त हुए, समस्त प्रकारके दोषों से रहित, परम विशुद्धताको प्राप्त और ज्ञानरूपी समुद्रके पारंगत ऐसे वृषभादि चतुर्विशति परम तीर्थंकर परमदेवको मै संसार नाश करनेके लिये नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

अर्थ—लोकके शिखरके अग्रभागमें विराजमान और अनंत सुख मे निमग्न ऐसे समस्त सिद्ध परमात्माओंको उनके गुणो की प्राप्तिके लिये मै नमस्कार करता हूँ ॥ ४ ॥

अर्थ—पंचाचारादि छत्तीस गुणो से सुशोभित, अनेक प्रकारकी ऋद्धियो से विभूषित, और स्वर्ग मोक्षके प्रदान करने वाले ऐसे आचार्य परमेष्ठीको मै नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

अर्थ—जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वको स्वयं पढ़ते है और शिष्योको पढ़ाते हैं तथा देवेन्द्र नरेन्द्र आदि से पूजनीक हैं ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीको बुद्धिकी वृद्धिके लिये मै नमस्कार करता हूँ ॥ ६ ॥

अर्थ—तीन कालमें ध्यानको धारण करने वाले, मन-वचन-कायका संरोधन करने वाले, इन्द्रियों को वश करने वाले, समस्त प्रकार के परिग्रह और आरंभ से विरक्त ऐसे साधु परमेष्ठीको ज्ञान-ध्यान की सिद्धिके लिये मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

अर्थ—श्री सर्वज्ञ-वीतराग-अरहंत प्रभुके मुखकमल से प्रकट हुई अनादिनिधन सरस्वती देवी को बुद्धिके विकासके लिये नमस्कार हो । हे त्रिलोक को जानने वाली सरस्वती देवी ! आपके प्रसाद से मुझे भव-भवमें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो ॥ ८ ॥

वंदे वृषभसेनादीन् ह्यग्निपचगुणान्वितान् । नानर्द्धिमडिनान् शुद्धान् गणाधीशान् सुरार्चितान् ॥ ९ ॥
मुनीन्द्रान् जिनसेनादीन् वदे धर्मप्रकाशकान् । दिशावासोधरान् वीरान् ज्ञानध्यानात्तमानसान् ॥ १० ॥
जिनेन्द्र शर्मदातारं सीमंधरमह मुदा । दत्त सुदर्शन पूर्वं कुंदकुंदतपोनिधेः ॥ ११ ॥
पूर्वाल्ये सुदरे क्षेत्रे विदेहे भव्यसंभृते । वदेह मुक्तिभर्त्तारं तत्पदाप्ताय केवलम् ॥ १२ ॥
कल्कनाशने वीरमकलक दयापतिम् । वदे बौद्धमत्तेभाना नाशने सिंहसदृश (पाटवं) ॥ १३ ॥

अर्थ—त्रेपन गुणों से सुशोभित महान् अतिशयोंको प्रकट करनेवाली बड़ी-बड़ी ऋद्धियों से सम्पन्न, परम विशुद्ध, देवेन्द्रो कर वंदनीक ऐसे वृषभसेन आदि गणधर देवोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ९ ॥

भावार्थ—२८ मूल गुण और २५ उपाध्यायके गुण इस प्रकार दोनो गुण मिलाकर गणधर देवमें ५३ गुण होते हैं। गणधर देवोंके मनःपर्ययज्ञान होता है और भी अनेक सातिशय ऋद्धियाँ होती हैं। वे समस्त मुनीश्वरोके स्वामी होते हैं। तथा देव, मनुष्य और अहमिन्द्रोकर पूज्य होते है। आदि तीर्थंकर ऋषभदेवके मुख्य गणधर श्री वृषभसेन थे। इसी प्रकार अन्य तेईस तीर्थंकरोके गणधर जानने। महावीर स्वामीके मुख्य गणधर गोतम स्वामी थे। ग्रन्थकार इन समस्त गणधर देवोंको बुद्धिकी अतिशयता प्राप्त होनेके लिये नमस्कार करते है।

अर्थ—परम धर्मके प्रकाशक, दिशारूपी वस्त्रको धारण करनेवाले (भगवती दैगबरी दीक्षाके धारक) ज्ञान-ध्यान में लवलीन ऐसे जिनसेनाचार्यादि मुनीश्वरोको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १० ॥

अर्थ—स्वर्ग मोक्षके सुखो को प्रदान करनेवाले, तपोनिधि आचार्यवर्य श्रीकुंदकुंद स्वामी को अपना दर्शन देकर कृतकृत्य करनेवाले, भव्यजीवोसे परिपूर्ण ऐसे पूर्व विदेह क्षेत्रको अपने अवतार से पवित्र करनेवाले, मुक्ति रमणीके स्वामी, ऐसे श्री सीमंधर स्वामी को मैं आनंदके साथ उनके गुणोकी प्राप्तिके लिये सदा नमस्कार करता हूँ ॥११-१२॥

अर्थ—समस्त प्रकारके कलंको को नाश करने में साहसिक वीरोत्तम, दयाके अधिपति और बौद्धमतरूपी उद्धत गजराजके नाश करनेके लिये प्रबल सिंह ऐसे भगवान् अकलंक देव को नमस्कार करता हूँ ॥ १३ ॥

नदे गकलकीर्त्याख्य मुनीन्द्र पावन मुदा । चतुरशीतिग्रथाना कर्तार तत्पदाप्तये ॥ १४ ॥
मगलार्थं नमस्कृत्य एतेषा चरणाब्जयो । वक्ष्यहं च शृणुध्व वै यथोचेम बुधोत्तमा. ॥ १५ ॥
जम्बूद्वीपोऽ॰ विख्यातस्तन्मध्ये राजते महान् । क्षेत्रोहि भारतो नाम्ना रिपुखडविमडित ॥ १६ ॥
तस्मिश्च शोभते ह्यार्यखडो वै आर्यमर्त्ययुक् । देशे च मगधे ख्याते सर्वेषु चोत्तमे खलु ॥ १७ ॥

भावार्थ—यदि बोद्ध राजाके नगरमें जैन मतका रथ सबसे प्रथम उसके ही नगरमें नही निकलता तो जैनधर्म के लिये यह एक बड़ी भारी कालिमा थी। उस कालिमाका नाश करने वाले और ज्वालामालिनी देवीके सहारेसे, बौद्धोंसे स्थापित तारा देवी की अदम्य शक्तिको नाश करने वाले और शास्त्रार्थ द्वारा जगत् में जैनधर्म की प्रभावना स्थापन करने वाले अकलंक भगवान्के लिये मै नमस्कार करता हूँ।

अर्थ–शुद्ध चारित्रके धारक, परमपवित्र और चौरासी ग्रंथोंके निर्माणकर्ता यतीश्वर सकलकीर्ति आचार्यके लिये मै उनके गुणप्राप्त्यर्थ नमस्कार करता हूँ ॥१४॥

भावार्थ—सकलकीर्ति आचार्यने चौरासी ग्रंथ बनाये है। यद्यपि इस समय समस्त ग्रन्थ देखने में नहीं आते है तो भी उनमें बहुत कुछ मिलते है।

अर्थ—उपर्युक्त अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्व साधु और सीमंधरादि मंगलोत्तम परमेष्ठियोंके चरण कमलोंकी मंगल कामना के लिये नमस्कार कर यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रन्थ कहता हूँ। हे भव्योत्तम हो ! आप लोग आत्मकल्याणके लिये इसको सावधानतापूर्वक श्रवण करें ॥ १५ ॥

अर्थ—इस प्रसिद्ध जंबूद्वीपमें भारतवर्ष नामका सुन्दर क्षेत्र है। जो छह खण्डोंसे सुशोभित है ॥ १६ ॥

अर्थ—उस भरतक्षेत्रमें एक आर्य खण्ड है और पॉच म्लेच्छ खण्ड हैं। आर्य खण्डमें उत्पन्न हुए मनुष्योंको [1]क्षेत्रज आर्य कहते है। उस आर्य खण्डमें एक मगध नामका सुन्दर देश है। जो समस्त देशों से उत्तम है ॥ १७ ॥

---

१. क्षेत्रज आर्य एक समान नही होते है। उनमे भी जाति आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य आदि अनेक भेद है वैसे ही भगी, चमार, कोली आदि क्षेत्रज आर्य होने पर भी अस्पर्श है, क्षेत्रज आर्यों मे जिनको नीचगोत्र का उदय प्राप्त हुआ हे ऐसे जीव अपने शरीर की स्थिति पर्यंत नीच ही रहते है उनके साथ जाति आर्यों का खान-पान सबंध व कन्याविवाहादि सबध नही होता है। ऐसे

पुरे वै भाति देवाना नदद सज्जनैर्युतः। नाम्ना राजगृहश्चैव सभृतो धनधान्यत ॥ १८ ॥
क्षमी दमी कृती पूज्यो निर्जरैर्वा नृभिर्नृपैः। शुद्धक्षायिकसम्यक्त्वराजितस्तेजस्वी गुणी ॥ १९ ॥
श्रीवीरजिनराजस्य मेवार्पितमना- सदा। भोक्ता वधुजनै सार्धं शूरवीराग्रणी खलु ॥ २० ॥
त्रिवर्गपालने दक्ष. प्रतापजितपूषण:। भुजैश्च खडितारातीं रूपेण मन्मथोपम ॥ २१ ॥
पुत्रवत्स्वप्रजाना च पालको बुद्धिमान् शुचिः। दुष्टाना नाशकर्ता च न्यायवान् पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥
इत्याद्यन्यगुणैर्युक्तो नाम्ना श्रीश्रेणिको नृप। तस्मिन्नासीद्गुणैः पूर्णः ईदृशैरुज्वलै परैः ॥ २३ ॥

अर्थ——मगध देशमें देवताओंको भी आनन्द देनेवाला, ऐसा राजगृह नामका एक भव्य नगर था। जिसमें सज्जन जन निवास करते थे। और जो धन-धान्यादि सुख सामग्रीसे परिपूर्ण था ॥ १८ ॥

अर्थ——राजगृह नगरका अधिपति क्षमावान् दयालु कृतकृत्य कामादि शत्रुओंका दमन करनेवाला, नीतिके समस्त कर्तव्योंको जाननेवाला, देवताओंसे पूज्य अथवा मनुष्य और राजाओंसे पूजित, शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला,प्रतापवान्, तेजस्वी, महामना, गुणवान्, श्री वीर भगवान्के चरणकमलोंकी सेवा करनेवाला, जैनधर्मका परमभक्त, कुटुम्ब परिवारोंकी बहुसंख्याके साथ राज्यका उपभोग करनेवाला, शूर-वीरशिरोमणि, धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थोंके पालन करनेमें समर्थ, अपने प्रताप कर सूर्यको भी तुच्छ करनेवाला, बलवान्, कामदेवके समान रूपवान्, प्रजाको पुत्रके समान पालन करनेवाला, बुद्धिमान्, पवित्र, दुष्ट और दुर्जनोंका निग्रहकर्ता (दण्ड देनेवाला), नीतिपर चलनेवाला इत्यादि अनेक उत्तमोत्तम और पवित्र गुणोंसे विभूषित ऐसा श्रेणिक नामका राजा था ॥ १९-२३ ॥

मनुष्यों को मुनिव्रत धारण करने की योग्यता नहीं होती है। कितने ही कर्मज अनार्य होते है। जिनका चारित्र आचारांग शास्त्र की आज्ञासे विरुद्ध होता है। जो स्त्रीका पुन संस्कार (विधवा विवाह) करते है, जो विजातीय विवाह करते हैं, जो अपने कुल व जातिके योग्य चारित्र के विरुद्ध मांस भक्षणादि करने लग जाते हैं वे भी अनार्य ही है।

क्षेत्र आर्यों की अपेक्षा जाति आर्य अधिक पूज्य है। वे मोक्ष मार्गके अधिकारी है। विशुद्ध कुल और विशुद्ध वंशमे जो ऊँच गोत्र के उदय से उत्तम (चारित्र धारण करने योग्य) जातिमे उत्पन्न हुए हों उनको जाति आर्य कहते है। जाति आर्य मे सावद्य कर्म और निरवद्य कर्म आदि के कारण बहुत से भेद हैं। जाति कुल अनादि निधन हैं। और उनका संबंध नीच-ऊँच गोत्र से है। ऐसा नहीं है कि जिसका रोजगार (धंधा) ऊँचा हो वह ऊँच और जिसका धंधा नीचा हो वह नीच हो।

तस्यासीत् भूपते राज्ञी चेलना शातदायका । नाम्ना शुभगुणैर्युक्ता दंभभावविवर्जिता ॥ २४ ॥
शुद्धशीलव्रतैर्युक्ता रूपेण निर्जिताप्सरा । भर्त्राज्ञापालका नम्रा धर्ममार्गविचक्षणा ॥ २५ ॥
मृगशावसमानेत्रा शुभा क्षायिकदर्शना । ज्ञानविज्ञानसपन्ना गत्या च करिणी जिता ॥ २६ ॥
मनोवाक्हरा भर्तुर्मोदवारविमडिता । वामासु खलु सर्वासु मुख्या ह्यष्टमदापहा ॥ २७ ॥
गुर्वाज्ञाधारका मन्युवर्जिता सत्क्रियान्विता । जिनार्चनरता भक्त्या वासर प्रति शर्मणे ॥ २८ ॥
स्वमतस्थेपु वात्सल्यकरा न्यायादिभि खलु । मुनोशिना गृहस्थाना वेददानप्रदायका ॥ २९ ॥
यात्राभिश्चैव धर्मस्य वर्द्धका स्यदनस्य वै । स्वपुरे भ्रामणेनैव सिद्धभूमौ निरालसा ॥ ३० ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजके चेलना नामकी अत्यंत सुन्दर गुणवती रानी थी जो कि सब रानियोमें मुख्य थी । यद्यपि चेलनामे अनेकानेक उत्तमसे उत्तम और पवित्रसे पवित्र गुण थे जिनकी गणना होनी अशक्य है । तो भी उनमेंसे मुख्य मुख्य गुणोंका दिग्दर्शन इस प्रकार है । शुद्ध शील और शुद्ध व्रतोंको धारण करने वाली, दंभवृत्ति से रहित, रूपसे अप्सराओंको जीतनेवाली, अपने स्वामीकी आज्ञाका पालन करनेवाली, नम्र, धर्म-मार्गके जाननेमे अतिशय निपुण, मृगके बालकके समान सुन्दर नेत्रवाली, शुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाली, ज्ञान और विज्ञान गुणोंसे विभूषित, गतिसे हथिनीकी गतिका भी तिरस्कार करनेवाली, मनको हरण करनेवाली, स्वामीको आनन्द देनेवाली, गुणवती, समस्त स्त्रियोमें मुख्य, आठ प्रकारके मदोसे रहित, धर्मगुरुओंकी आज्ञाको अखंड रीतिसे पालनेवाली, क्रोध रहित, श्रेष्ठ क्रियाएँ जो श्रीजिनेन्द्र देवने आगममें कही है उनको पालन करनेवाली, आगमके अनुसार अपनी जीवनचर्याको पालन करने वाली, श्री जिनेन्द्र देव की पूजा-भक्ति और सेवा आदिमें नित्यप्रति तत्पर रहनेवाली, अपने धर्मके अनुयायी गृहस्थों को भोजन-पान आदि देकर वात्सल्य अंगको प्रकट करने वाली, व्रती पुरुषो की भक्तिपूर्वक वैयावृत्य आदि सेवा करने वाली, मुनी-श्वरोंको आहारदान, औषधदान, शास्त्रदान और वसतिका दानको भक्तिपूर्वक देनेवाली, जैनधर्मपरायण गृहस्थों की सेवा सुश्रुषा करनेवाली, जैनधर्मकी उत्कृष्ट प्रभावना के लिये सदैव रथोत्सव मेला आदि महोत्सव करने-वाली, और सिद्धभूमियो की यात्रा प्रतिष्ठादि के द्वारा अपने जीवनको कृतकृत्य माननेवाली, प्रमाद रहित, धार्मिक कार्यों में तत्पर रहनेवाली थी । इनको आदि लेकर और भी बहुत से गुण चेलनारानीमें थे ॥२४-३०॥

प्रतिपद्दर्शनी भूयो तामाप्य शर्मदायकाम् । तथा साक च सरेभे पूर्वसुकृतसंचयात् ॥ ३१ ॥
शर्ममग्नौ गत काल न जानतौ च तस्थतु । अविराध्य जिनेन्द्रोक्तं धर्मं कामार्थदायकम् ॥ ३२ ॥
एवं राज्य प्रकुर्वाण सावद्यादिविवर्जितम् । यावदास्ते सुखेनैव उदत शृणुथापरम् ॥ ३३ ॥
अथैकदा सभामध्ये आनदरसनिर्भरः । वनपाल समागत्य भूपं नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥ ३४ ॥
राजेन्द्र शृणु मे वाच विपुलाद्रौ जिनाविराट् । महावीरो गुणैर्युक्त समायात शुभोदयात् ॥ ३५ ॥
नम्य प्रभावत सर्वे सिंहा नागा दुराशया । मातगा मृगधेन्वाद्या- सजाता भद्रमानसा ॥ ३६ ॥

अर्थ–प्रतिपदाके चन्द्रमाके समान आल्हाद करनेवाली और सुखोंको प्रदान करनेवाली ऐसी अपूर्व स्त्री-को पाकर श्रेणिक महाराज पूर्व भव के सातिशय पुण्यके योग से उसके साथ मनोहर भोगोंका सेवन करता था ॥ ३१ ॥

अर्थ—चेलना महारानी ओर श्रेणिक महाराजने पूर्व पुण्यके उदयसे सुखमें निमग्न होकर अपना व्यतीत होता हुआ काल भी नही जाना । परन्तु समस्त प्रकार की कामनाओ को पूर्ण करनेवाला श्रीजिनेन्द्र भगवान्के धर्मका यथावत् पालन करनेमें यत्किंचिन्मात्र भी प्रमाद नही रक्खा ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराज सावद्य प्रवृत्ति से रहित, सुखपूर्वक राज्य शासनको नीतिपूर्वक पालन कर रहे थे । उस समय एक नवीन बात हुई वह श्रवण करना चाहिये ॥ ३३ ॥

अर्थ—अथानंतर–एक दिवस श्रेणिक महाराज सभामें विराजे हुए थे कि वहाँपर आनंदसे हर्षित एक वनमाली आया और महाराजको नमस्कार कर प्रार्थना करने लगा ॥ ३४ ॥

अर्थ—हे राजेंद्र ! मेरे वचनोको कृपा कर श्रवण कीजिये । आपके पुण्यके उदयसे विपुलाचल पर्वतपर अनंत गुणोके विकाससे परमोत्कृष्ट पदको प्राप्त ऐसे देवाधिदेव श्री महावीर प्रभु पधारे हैं ॥ ३५ ॥

अर्थ—उनके प्रभावसे दुष्ट अभिप्रायवाले ऐसे सिंह, हाथी, मृग, गाय आदि क्रूर प्राणी अपना-अपना स्वाभाविक वैर भाव तजकर भद्रपरिणामी हो गये हैं ॥ ३६ ॥

वनतु' विना सर्वे नगा पुष्पफलोत्करे । भूषितास्तृप्तिकर्तार आसन्नेत्रमनोहरा. ॥ ३७ ॥
इत्याद्याश्चापरा शोभा या जाता वर्णिता मया । सा खलु मगधाधीश महदानददायका ॥ ३८ ॥
वनाधिप इति धृत्वा तस्थौ चोपायन पुर । तस्यैव कथयित्वा च मोदवृ देन स तदा ॥ ३९ ॥
मगधेशोऽपि तस्मै च दत्वा वै पारितोपिकम् । स्वागे स्थित पुन स्थानादुत्थायासौ मुदा कृतो ॥ ४० ॥
यद्दिशि आगतो वीर तद्दिशि नम अभ्यधात् । परोक्षा हि नतिर्लोके मत सद्दर्शनोपमम् ॥ ४१ ॥
पश्चात्स्वनगरे भेरीमानदरसपूरिताम् । दापयित्वा वरैर्लोकै स्वस्ववाहनभूपित्तै. ॥ ४२ ॥

अर्थ––हे राजेंद्र ! और भी वहुतसे चमत्कार हो रहे है। वसंत ऋतुके बिना ही समस्त वनावलि फल-फूलोंसे पल्लवित हो गई है। तृप्तिको करनेवाली और नेत्रोंको प्रिय ऐसी वनराजकी अपूर्व शोभा हो गई है ॥ ३७ ॥

अर्थ––हे मगधाधीश ! इस प्रकार आनंदके देनेवाली अनेक प्रकारकी शोभा जो मैने वर्णन की है वह वनमे हो रही है ॥ ३८ ॥

अर्थ––श्री भगवान् महावीर स्वामीका विपुलाचल पर्वतपर पधारनेका शुभ समाचार निवेदन कर और उनके प्रभाव से बिना ऋतुके फले-फूले हुए फलफूलकी भेट रखकर खड़ा हो गया ॥ ३९ ॥

अर्थ––वह मगधेश्वर श्रेणिक महाराज उस वनपालको अपने शरीर पर के समस्त वस्त्राभूषणोंको प्रदान कर अत्यंत आनंदके साथ अपने सिंहासनसे उठा ॥ ४० ॥

अर्थ––जिस दिशाकी तरफ महावीर स्वामी पधारे हुए थे उस दिशाकी तरफ मुख करके श्रेणिक महाराजने वीर प्रभुको नमस्कार किया। सो ठीक ही है क्योंकि परोक्ष नमस्कार भी लोकमें सम्यग्दर्शनके समान माना गया है ॥ ४१ ॥

भावार्थ––परोक्ष नमस्कार करनेसे विशेष श्रद्धा प्रतीत होती है। बिना विशेष श्रद्धाके परोक्ष नमस्कार हो नहीं सकता। इसीलिये वीर प्रभुको परोक्ष नमस्कार करना विशेष सम्यग्दर्शनके समान बतलाया है।

अर्थ––फिर श्रेणिक महाराजने परम आनंदकी देनेवाली ऐसी घोषणा अपने नगरमें दिलवाई और समस्त नगरनिवासियोंको वीर प्रभुकी वंदनाके लिये चलनेको कहा। नगरनिवासी अपने २ वाहनों पर चढ़कर

प्रयातो वीरयात्रार्थं स प्रियो भव्यभावयुक् । पुष्पदीपादिद्रव्योघैः सपत्नो नागवाहनः ॥ ४३ ॥
आलोक्य सकला काष्ठा रञ्जयन् प्रजनोद्यते । चचाल नगरात्स्वस्य ससैन्य इव देवराट् ॥ ४४ ॥
आगत् वीरजिनस्य समवसरण ममत्रादिकम् । दृष्ट्वा गजात्समुत्तीर्य राज्याक च निराकरोत् ॥ ४५ ॥
पद्भ्यां सकलभव्यौघै सार्द्धं तन्मस्तकोपरि । गत्वा श्रीजिनस्थानस्य दत्वा प्रादक्षिणा मुदा ॥ ४६ ॥
पश्चाद्धि द्वारमार्गेण प्रवेशमकरोत्स च । भूत्यावलोकनं चक्रे वीरराजस्य राजराट् ॥ ४७ ॥

तथा वस्त्राभूषणोसे सब प्रकार अलकृत होकर महाराज श्रेणिक के साथ वीर प्रभुकी वंदना करनेको चले ॥ ४२ ॥

अर्थ——श्रेष्ठ भावोंसे हर्षित महाराज श्रेणिक वीर प्रभुकी पूजाके लिये रत्नोंके थालोंमें पुष्प-दीप आदि मनोहर सामग्री लेकर और हाथी पर बैठकर चला ॥ ४३ ॥

अर्थ——अपने प्रभावसे समस्त दिशाओंमें प्रकाश करता हुआ वह श्रेणिक महाराज सेना सहित और पूजनकी सामग्री सहित गमन करता हुआ देवेन्द्रके समान शोभाको प्राप्त हुआ ॥ ४४ ॥

अर्थ——श्री वीर भगवान्‌के समवशरण को समीप आया देखकर श्रेणिक महाराज अपने हाथीसे नीचे उतरा और उसने समस्त राज्यचिन्हों का परित्याग किया ॥ ४५ ॥

अर्थ——महाराज श्रेणिक संपूर्ण भव्यों के साथ-साथ अपने मस्तकको विनय से नवाकर समवशरण में पैदल ही गये । और बड़े हर्षसे श्रीजिनेन्द्र भगवान् के स्थान की प्रदक्षिणा दी ॥ ४६ ॥

अर्थ——महाराज श्रेणिक ने फिर द्वारमार्गसे समवशरण में प्रवेश किया और वहाँपर समवशरण की महान् दिव्य विभूतिको आश्चर्यके साथ देखा ॥ ४७ ॥[1]

---

[1] महान् विभूतिके स्वामी मडलीक राजा श्रेणिकने वीर प्रभुके समवशरणकी विभूतिको बडे आश्चर्यसे देखा । वीतराग [illegible] वीर भगवान्‌के अवलोकनको छोड़कर विभूतिको देखनेका कारण क्या ? इस प्रश्नका समाधान यह है कि एक तो वीर [illegible] विभूति [illegible] भी जो राजा, महाराजा और चक्रवर्तीके भी नहीं हो सकती है । इतनी महाविभूतिके धारक अवश्य महान् [illegible] इस प्रकार का ज्ञान श्रेणिक महाराजको उत्पन्न हुआ । जो बात मनुष्योंमे असाधारण है वह बात श्रीवीर प्रभुमे है इसी- [illegible] है । दूसरे——साधारण जनता विभूति आदि के देखने मे स्वाभाविक रूपसे उत्सुक रहती है । कितने भव्य

मानस्तभादिस्तूपाना विभोर्भूतिं व्यलोकयन् । ततः सोपि ददर्शाग्रे चेलनाचित्तरजधीः ॥ ४८ ॥
गभाद्वादशमध्यस्था गधकुटी मनोहराम् । पश्चात्तस्योपरि दृष्ट्वा त जिनं भवनाशकम् ॥ ४९ ॥
सिहविष्टरमध्यस्य तप्तकाचनभास्वरम् । तुर्यास्यभूपित शुद्धं सार्व नेत्रमनोहरम् ॥ ५० ॥
वर्द्धमान महादेव मानमायादिवर्जितम् । वागात्मभाग्यातिशयसपन्न च निरजनम् ॥ ५१ ॥
कोट्यादित्याधिकतेज कामद मोहभजकम् । सर्वदेवाधिदेव वै शकर शरणार्थिनाम् ॥ ५२ ॥
इन्द्रोरगनरेन्द्राद्यै सेव्यांघ्रि तामसापहम् । प्रातिहार्यादिभूत्योपलक्षित तारक वरम् ॥ ५३ ॥

अर्थ——चेलना महारानीके चित्तको रंजन करनेवाले श्रेणिक महाराजने समवशरणमें सबसे प्रथम मानस्तंभ और स्तूपादिकों की दिव्य विभूतिको देखा और फिर, ॥ ४८ ॥

अर्थ——बारह सभाके मध्य मनोहर गंधकुटी पर विराजमान और जन्ममरणरूप संसारको नाश करने-वाले ऐसे श्री वीर भगवान्को देखा ॥ ४९ ॥

अर्थ——सिंहासनपर विराजे हुए तपाये हुए सुवर्णके समान दिव्य कांतिके धारक, महान् देवोंके भी अधिदेव, चतुर्मुख श्रीवर्द्धमान भगवान् देखे । जिनके मान-मायादि एक भी विकार नहीं था, जो दिव्यध्वनि, शुद्ध आत्मा और अपूर्व पुण्योदयसे अत्यंत सुशोभित थे । जो समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित परमविशुद्ध तथा समस्त जीवोंके हितकारक थे । जिनके चार मुख थे । नेत्रोंको तृप्तिकारक अतिशय मनोहर थे । जो करोड़ो सूर्योंसे भी अधिक तेजस्वी समस्त प्रकारकी कामनाको प्रदान करनेवाले, मोहका नाश करनेवाले, शरणार्थी जनोंको सर्व प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाले, इन्द्र, धरणेन्द्र, नरेंद्र आदि महान् पुरुषोंसे पूजित, मोहरूपी गाढ़ अन्धकारको सहसा नाश करनेवाले, प्रातिहार्यादि दिव्य विभूतिसे सुशोभित, संसारसे तारक और जगत्के

परिणामी भगवान्‌की विभूतिको देखकर तथा उससे भगवान्‌की लोकोत्तर महिमाको जानकर सम्यग्दृष्टी हुए हैं और फिर भगवान्के गुणोमे आसक्त हुए है । मदिरोमे आज चमर, छत्र, भामंडल आदि महान् शोभा की जाती है उसका भी एक यही अभिप्राय है कि ससारी जीव दिव्य सपदाको देखते हुए श्रीजिनेन्द्र भगवान्का स्वरूप भी देखते है और उससे आत्मकल्याण करते हैं । जो लोग कहते है कि मदिरो मे छत्र, चमरादि विभूतिकी क्या जरूरत है । वीतराग प्रभुको वह क्यो चाहिये ? उनको जिनधर्मकी महिमाको प्रगट करनेका तरीका मालूम नही है और भगवान्का समवशरण कैसा था सो भी मालूम नही है ।

ईदृश लोकपालेश भूमिपालो हृदि स्फुट। प्रापानद प्रदत्वाहि त्रिप्रमा च प्रदक्षिणाम् ॥ ५४ ॥
वन्यानविधिना त च नत्वा इज्या च तस्य वै। कृत्वाष्टशुभद्रव्यौघैः पापालि नाशितु स च ॥ ५५ ॥
गमारेभे पुनस्तस्य स्तवन कर्तुमादरात्। पूर्वाहौघ कृत यत्तन्नाशार्थं चाग्रहानये ॥ ५६ ॥

तुभ्य नम सकललोकहितकराय, तुभ्य नम सकलकर्मविनाशकाय। तुभ्य नम. सकलभूतसुतारकाय, तुभ्य नमो जिनवरेंद्र सुखातिकाय। तुभ्य नम सकलदोषविवर्जिताय, तुभ्य नम. सकलमर्मप्रदर्शकाय। तुभ्य नम. परमसेवकतारकाय, तुभ्य नमो रतिपतेर्मदनाशकाय ॥५८ तुभ्य नमोऽखिलकषायविवर्जिताय, तुभ्य नमोऽखिलभवोदधिशोषणाय। तुभ्य नम. परमकेवलज्ञानदाय, तुभ्यं नम. परमदेवजिनेश्वराय।

दृश थे। ऐसे श्री वीर प्रभुको देखकर श्रेणिक महाराज अपने मनमें अतिशय प्रसन्न हुआ और भगवान्‌की तीन प्रदक्षिणा दी ॥ ५०-५४ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजने श्री वीर प्रभुको अष्टांग नमस्कार किया। और पापोके नाशके लिए उत्तम और पवित्र अष्टद्रव्यमे भगवान्‌की पूजा की ॥ ५५ ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिकने पूर्वके पापोका प्रक्षालन करनेके लिए और आगामी होनेवाले पापोकी शांतिके लिए श्री वीरप्रभुका स्तवन करना प्रारंभ किया ॥ ५६ ॥

अर्थ—हे वीर प्रभो ! समस्त जीवोके आप हितकारक हो इसलिए आपको नमस्कार है। समस्त कर्म-मल के नाश करनेवाले हो एतदर्थ नमस्कार है। समस्त प्राणियोके संसार समुद्रसे तारक हो इसलिए नमस्कार है। और चन्द्रमाके समान सुखको प्रदान करनेवाले हे जिनचन्द्र, आपको नमस्कार है ॥ ५७ ॥

अर्थ—हे वीर प्रभो, आप समस्त प्रकारके दोषोसे सर्वथा विनिर्मुक्त हैं एतदर्थ आपको नमस्कार है। हे वीर, आप समस्त पदार्थोंमें सारभूत (समस्त पदार्थोका मर्म) आत्माके प्रकाशक हो इसलिये नमस्कार है। हे भगवन् ! आप अनन्य भक्त सेवकों के शीघ्रही संसारसे तारक हो एतदर्थ नमस्कार है। और कामदेवके मदको नाश करनेवाले हो इसलिये आपको नमस्कार है ॥ ५८ ॥

अर्थ—हे भगवन्, आपने चारों प्रकार के (क्रोध, मान, माया, लोभ) कषायोको नाश किया है एतदर्थ नमस्कार है। चार प्रकार नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवगति रूप संसारसमुद्रको शोषण कारक होनेसे नमस्कार

तुभ्य नम सकलदर्शनधारकाय, तुभ्य नम सकलज्ञानप्रकाशकाय । तुभ्य नमः सकलवीर्यसुधारकाय, तुभ्य नमः सकलशर्मधराधिकाय ॥
तुभ्य नमः सकलसत्त्वहितकराय, तुभ्य नमो दशसुधर्मविवर्द्धकाय । तुभ्य नमः सकलपापविनाशकाय, तुभ्य नम सकलतत्त्वप्रकाशकाय ॥
तुभ्य नमः सकलव्यार्तिविनाशकाय, तुभ्य नम सकलभूषणभूषकाय । तुभ्य नम सकललोकविभासकाय, तुभ्य नमः परमपूज्यनिरजनाय ॥
तुभ्य नमो हतप्रमादजिनाग्रिमाय, तुभ्य नम परमदेवमुनीश्वराय । तुभ्यं नम परमशातपदस्थिताय, तुभ्य नमो वसुगुणाकितशर्मदाय ॥
इत्याद्यनेकगुणव्यूहयुक्त त्वा वीरवीरेशमह नमामि । सुरेन्द्रभूतिर्गणनायकोऽपि क्षमो हि नो वक्तुमहो गुणान् ते ॥ ६४ ॥

है । परम केवलज्ञानके प्रदान करनेवाले हो इसलिये नमस्कार है । हे जिनेश्वर, हे परम देव, आपको नमस्कार है ॥ ५९ ॥

अर्थ—हे जिनेश ! आप अनंत दर्शनके धारक हो इसलिये आपको नमस्कार है । अनन्त ज्ञान के प्रकाशक हो इसलिये नमस्कार है । अनंत वीर्यके धारक हो इसलिये नमस्कार है । और हे जिनराज ! अनंत सुखके स्वामी होनेसे आपको नमस्कार है ॥ ६० ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आप सकल जीवोके हित करनेवाले, दश प्रकार उत्तमक्षमादि धर्मके बढ़ानेवाले हैं, समस्त प्रकारके पापसमूहों के नाश करनेवाले हैं । सकल तत्त्वोंके प्रकाश करनेवाले हैं । इसलिए आपको नमस्कार है ॥ ६१ ॥

अर्थ—समस्त प्रकारकी पीड़ाके नाशक, समस्त प्रकारके भूषणोसे विभूषित, समस्त लोकके प्रकाशक, समस्त दोषोसे रहित परमपूज्य हे वीर प्रभो ! आपको बार-बार नमस्कार है ॥ ६२ ॥

अर्थ—समस्त प्रकारके प्रमादोके निरवशेष नाशक होनेसे जिनवर पदको प्राप्त, केवलज्ञान प्राप्त होनेसे मुनीश्वर पदके धारक, वीतराग होनेसे परम शांत अवस्थाको प्राप्त और आठ प्रकारके गुणोसे युक्त होनेसे समस्त प्रकारके सुखोके प्रदाता परम देवाधिदेव हे वीर ! आपको नमस्कार है ॥ ६३ ॥

अर्थ—इत्यादि अनन्त गुणोके समूहसे सुशोभित हे वीर प्रभो ! आपको मैं नमस्कार करता हूँ । हे वीर ! आपके समस्त गुणो का वर्णन करना मुझसे अशक्य है क्योंकि समस्तविद्याके पारगामी इन्द्र गणधर देव भी आपके समस्त गुणोको कहने के लिए असमर्थ है ॥ ६४ ॥

गुणान् जिनाधीश कथं हि मंद, शक्नोमि ते वक्तुमहो सुरार्च्यः । शरण्ययोग्य मयि नाथ दीने, दया कुरुत्तारक तारय त्वम् ॥६५॥
जनार्दनो वा मन्द ब्रह्मणो वा, शिवस्तथा केवलनामयुक्ताः । वार बहु दृष्ट दयोज्झितो वै, त्वं नो कदाचिदपि वीक्षितोऽपि ॥ ६६ ॥
वरं न याचे नविधे तथापि, त्रिलोकराजस्य जिनेंद्रदेव । किंतु हृदि स्वद्गुणसततिर्हि, मेस्तु सदा चिन्मय आशिषा ते ॥ ६७ ॥
पूत्कारमेव शृणु वीरनाथ, करोमि देव सदयो भव त्वम् । अन्योहि देवो भवनेषु नास्ति, त्वत्सदृशो दोषविकारहीनः ॥ ६८ ॥
अतो जिनाधीश क्षयं कुरु मे, पापस्य, मोक्षस्य पद प्रदेहि । सतारिता पापकलंकमग्ना, ये चांजनाद्याश्च नराः त्वया च ॥ ६९ ॥
उत्य म चेलनाकातः स्तुत्वा वीर गणाधिप । गौतमादीन् मुनीन्नत्वा नृकोष्टेषु ह्युपाविशत् ॥ ७० ॥

अर्थ——हे जिनाधीश ! आपके गुणोका गान करनेमें मैं मंदबुद्धि सर्वथा असमर्थ हूँ । भला जिन गुणोका गान इंद्र भी नही कर सकता उनका मैं कैसे करूँ ? मात्र एक यही प्रार्थना है कि हे नाथ ! मुझ दीन-अनाथको शरण योग्य बनाइए और हे तारक ! मुझे संसारसमुद्रसे पार करिये ॥ ६५ ॥

अर्थ——हे भगवन् ! जगत्में विष्णु-ब्रह्मा-शिव-शंकर आदि जितने देव हैं वे केवल नाम मात्र से ही विष्णु-ब्रह्मा-शिव कहलाते हैं उनमें ब्रह्मा विष्णुके गुण नही हैं । दयारहित मैंने उनको अनेक बार देखा परंतु कुछ भी लाभ नही । परंतु हे भगवन् ! आप कभी देखे नही ॥ ६६ ॥

अर्थ——हे स्वामिन्, जिनेंद्रदेव, त्रिलोकके नाथ, आपके समीप मैं कुछ वर नही माँगता हूँ । किंतु हे चिदानन्द, मेरे हृदयमें आपके आशीर्वाद से आपके समस्त गुण विराजमान रहे ॥ ६७ ॥

अर्थ——हे स्वामिन् वीर प्रभो ! अब मैं अपने भव-भवके दारुण दुखसे अत्यन्त क्लेशित होकर दीनताके साथ पुकार करता हूँ । हे प्रभो ! अब तो मेरी प्रार्थना को सुनिये । और मुझपर दया कीजिये । क्योंकि संसारमें आपके समान दोष और विकारसे रहित अन्य कोई देव नही है ॥ ६८ ॥

अर्थ——हे जिनाधीश ! इसलिये मेरे पापोका क्षय करिये और अनंत सुखोका स्थान ऐसा मोक्ष पद प्रदान कीजिये । क्योंकि आपने अंजन आदि अनेक पापीजन संसार समुद्र से पार कर दिये ॥ ६९ ॥

अर्थ——इसप्रकार चेलना महारानीका स्वामी महाराज श्रेणिक गणोके अधिपति श्रीवीर भगवान्का स्तवन कर और गौतम गणधर देव एवं अन्यान्य मुनीश्वरोंको नमस्कार कर मनुष्यके कोठेमें बैठा ॥ ७० ॥

वीतरागमुखोद्गीता वाणी संसारतापहाम् । समाप परमं मोदं श्रुत्वा श्रेणिकभूमिराट् ॥ ७१ ॥
पुनः प्रश्नमिति चक्रे सर्वभूतहिताप्तये । स्वात्मनोऽज्ञाननाशाय तत्वानां च प्रकाशकम् ॥ ७२ ॥
तीर्थाधिप महावीर संशयो मे प्रवर्तते । तस्य त्वं नाशकर्ता स्या किंचित्पृच्छामि मे वद ॥ ७३ ॥
पंचमे कीदृशा भूना का चेष्टा कीदृशो क्रिया । भविष्यति कथं तर्हि सज्ञस्यति नवाच ते ॥ ७४ ॥
इति मे संशयो वीर हृदि हि वर्ततेतराम् । नाशोऽस्य त्वदृते स्वामिन्नन्यो देवो क्षमो नहि ॥ ७५ ॥
वदतांवर वीरेश तारक कल्मपापह । संशयस्य तिरस्कारं कुरु तीर्थाधिराट् प्रभो ॥ ७६ ॥

अर्थ——श्रेणिक महाराज संसारके समस्त पापसमूहको नाश करनेवाली ऐसी श्री वीतराग देवके मुख-कमलसे प्रकट हुई जिनवाणीको सुनकर परम आनंदको प्राप्त हुआ ॥ ७१ ॥

अर्थ——फिर श्रेणिक महाराजने समस्त जीवोंके हितके लिये तथा अपने अज्ञानको नाश करनेके लिये और समस्त तत्त्वोंको जाननेके लिये नीचे लिखा प्रश्न किया ॥ ७२ ॥

अर्थ——हे तीर्थाधिप ! हे महावीर प्रभो ! मेरे हृदयमें कुछ संदेह हो रहा है आपही उसके नाश करने-वाले हो इसलिये उस संदेहको दूर करनेके लिये मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। दयाकर मुझसे कहिये ॥ ७३ ॥

अर्थ——हे वीर प्रभो ! पंचमकालमें जीव कैसे होंगे । उनकी कैसी चेष्टा होगी । उनकी कैसी क्रियाएँ होंगी । उनके आचरण कैसे होंगे । उनके विचार कैसे रहेंगे । उनको सुबोध प्राप्त होगा या नहीं ? सो सर्व खुलासा कहिये ॥ ७४ ॥

अर्थ——हे वीर प्रभो ! मेरे हृदयमें यही संदेह जम रहा है । हे प्रभो ! आपके बिना अन्य किसीसे उसका नाश नहीं हो सकता । क्योंकि आपके समान त्रिलोकका ज्ञाता सर्वशक्तिशाली अन्य कोई देव नहीं है ॥ ७५ ॥

अर्थ——हे वदतांवर ! हे वीरेश, हे संसार तारक, हे पाप नाशक, हे तीर्थाधिराट्, हे सर्वज्ञ, मेरे उक्त संशयको दूर करिये ॥ ७६ ॥

इति प्रश्ने तदा वीरो दिव्येन ध्वनिना जनान् । मोदयन् सकलान् वक्तु वीरराट् स प्रचक्रमे ॥ ७७ ॥
शृणु त्वं भावितीर्थेश वर्णनं पंचमस्य वै । समासख्या तथा चेष्टामायुःकाये क्रिया नृणाम् ॥ ७८ ॥
पंचमाभिधकालस्य अब्दसख्या नराधिराट् । दु खदा त्वं च जानीहि सहस्रभूकरप्रमाम् ॥ ७९ ॥
तावत्प्रमाच षष्ठस्य पुन. षष्ठस्य तत्प्रमाम् । पंचमस्यापि भो भूप ! बुद्धस्व खलु तत्प्रमाम् ॥ ८० ॥
मनुहस्तप्रमा काया हायन प्रतिहानिकाः । नो भविष्यंति यस्मिन् वै केवलाढ्या मुनीश्वराः ॥ ८१ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजके इस प्रकार प्रश्नोको सुनकर श्री वीर भगवान् समस्त द्वादश सभाको हर्षित करते हुए दिव्य-ध्वनिके द्वारा उत्तर कहने लगे ॥ ७७ ॥

अर्थ—हे मगधेश श्रेणिक महाराज, हे भावि तीर्थेश ! पंचमकालमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंकी चेष्टा धर्माचरण, विचार, आयु, काय और उनकी क्रियायें तथा वर्ष प्रमाण कहता हूँ उसको सावधान होकर श्रवण कर ॥ ७८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचम काल २१ हजार वर्षका है । वह अतिशय दुःखकर है । इस श्लोकमें अब्द संख्या का अर्थ वर्षोंकी सख्या और सहस्रभूकरप्रमां का अर्थ २१ हजार है ॥ ७९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इक्कीस हजार वर्षका ही फिर छट्ठा काल होगा । अवसर्पिणीके छठे कालके बाद फिर भी इक्कीस हजार का छठा काल उत्पसर्पिणी का आवेगा । उसके बाद उत्सर्पिणीका पंचम काल भी २१ हजार वर्षका आवेगा । इस प्रकार ये चारो ही काल इक्कीस-इक्कीस हजार वर्षके के होगे ॥ ८० ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचम कालमें मनुष्योका शरीर ७ हाथ का ऊँचा होगा । वह भी प्रति वर्ष घटता ही जायगा । और उस पंचम कालमें केवलज्ञानके धारक मुनीश्वर उत्पन्न नही होगे ।

भावार्थ—पंचमकालमें उत्पन्न हुए मनुष्योको केवलज्ञान नही होगा । हॉ चतुर्थ कालमें जन्म लेकर पंचम कालमें केवलज्ञान उत्पन्न कर सकता है ॥ ८१ ॥

---

१ भू का अर्थ पृथ्वी है जो एक है, कर हाथोको कहते है जो दो होते है । तथा अकाना वामतो गति. । सख्या बॉई ओरसे गिनी जाती है । इस हिसाबसे भू कर का अर्थ २१ होता है । तथा सहस्र साथमे होनेसे इक्कीस हजार अर्थ होता है ।

यस्मिन् काले भविष्यति भूता ये पापमडिता-। चंचलचित्ता- क्रियाभ्रष्टा मिथ्यामार्गस्य पोषका ॥ ८२ ॥
अन्नकीटा कुरूपाढ्या वीर्यहीना मदोद्धता । मिथ्यामार्गरता- क्रूरा देवगुर्वादिनिंदका- ॥ ८३ ॥

अर्थ--जिस पंचम कालमें उत्पन्न हुए मनुष्य बड़े पापी होंगे । जिनका मन बडा चपल होगा। उनके आचरण बड़े भ्रष्ट होंगे । उनके विचार और उनकी बुद्धि मिथ्यामार्गको ही पुष्ट करने वाली होगी ॥ ८२ ॥

भावार्थ--पंचम कालके मनुष्योको पापाचरणकी नीति प्यारी लगेगी । और पापाचरणको सदाचार बतलायेंगे । ऐसी राजनीतिके कानून बनाये जायेंगे जिनसे पापोंकी वृद्धि हो । मनुष्य अपने पापोंको पोषण करनेके लिये ऐसे ग्रन्थो की रचना करेंगे जिनमे भगवान्‌की पवित्र आज्ञाके विरुद्ध अनेक प्रकारकी मलिन बातोंका संग्रह किया जायगा । जिनसे वे स्वय भ्रष्ट होंगे और धर्मात्मा भाइयोंको भ्रष्ट करेंगे तथा मिथ्यामार्गको पुष्टि करेंगे ।

अर्थ--पंचमकालके मनुष्य अन्नके कीड़े होंगे, कुरूपी होंगे, वीर्यहीन होंगे, तो भी मदोन्मत्त होगे । मिथ्या मार्गमे रत होंगे । क्रूर परिणामी और देवगुरु आदि पूज्य पुरुषोंके निंदक[2] होंगे ॥ ८३ ॥

---

१ मर्कटस्य सुरापान तस्य वृश्चिकदशकम् । तस्यापि भूतसचारो यद्वा तद्वा भविष्यति ॥

भावार्थ—मर्कट—बंदरका मन बडा चपल होता है । यदि बंदरको शराब (मदिरा) पिला दी जावे तो फिर क्या कहना । बंदर का चपल मन सौगुण अधिक चपल हो जायगा । और फिर मदिरापान किये हुए बंदरको बिच्छुओसे कटवा दिया जाय तो फिर उसके मनकी चपलताका क्या ठिकाना ? फिर उस पर एक भूत लगा दिया जाय तो चपल बंदर जो न कुछ करे वही गनीमत है । ठीक इसी प्रकार कुशिक्षासे चचलचित्त मनुष्योंको नेता पदवी मिल जाय तो वे स्वय तो क्रिया भ्रष्ट होते ही है और सारी समाजको क्रियाभ्रष्ट पापी बना डालनेका प्रयास करते है। ऐसे दभी चंचलचित्त नेता कदाचित् धर्मका भेष धारण कर लेवें तो फिर उसका कुछ भी ठिकाना नही रहता । समस्त धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञापर पानी फेर कर अपनी मनमानी कल्पनाको धर्मशास्त्र बनाकर दुनियाको ठगते है । लोगोको भ्रष्ट करते है। खोटे उपदेश द्वारा मिथ्यामार्ग बढाते है और अपने धर्मकी, अपने धर्मशास्त्रकी, अपने गुरुओकी निन्दा (अवर्णवाद) कर खुश होते हैं ।

२. पचम कालके मनुष्यो के उत्तम सहनन और श्रेष्ठ सस्कारोका अभाव होनेसे मन और शरीर की कमजोरो इतनी अधिक होगी कि उनसे तपचर्यादि उत्तम आचरण (उपवासादिक) नही हो सकेंगे। इतना ही नही, बल्कि उपवासादि पवित्र कर्मोंका निषेध करेगे । स्वय अन्नके कीडे होगे। शक्तिहीन होनेपर भी बडे मदोद्धत होगे। धर्मकार्यों मे स्वतन्त्र विचार फैलायेंगे और

शिवविष्णुपरा ब्रह्मसेवाभक्तिपरायणाः। सर्वोत्कृष्टमत स्वस्य त्यक्त्वा चान्यमते रताः ॥ ८४ ॥
ममारार्णवसमग्ना मोहमग्ना दुराशयाः। निर्दया वैरसयुक्ताः स्वस्यैव पक्षनाशकाः ॥ ८५ ॥
आर्त्तरौद्रे सदा लीना निर्विचारा क्रियोज्झिताः। नि शीला निस्त्रपा दुष्टा दिवानिशिपभक्षकाः ॥ ८६ ॥

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य अपने सर्वोत्कृष्ट और पवित्र जैनधर्म को छोड़कर अन्यमतके शिव, विष्णु, ब्रह्मा और कुगुरुओंकी सेवामें लग जायँगे ॥ ८४ ॥

भावार्थ—पंचम कालके मनुष्य सत्य और असत्यकी परीक्षा रहित होंगे। जिससे उनको हिताहितका विचार नही होगा। वे सत्य जैनधर्मको छोड़ देंगे और मिथ्या धर्मको ग्रहण करेंगे।

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य संसार रूपी समुद्रमें ही निमग्न होंगे, मोहमे निमग्न होंगे और दुष्ट अभिप्रायको अपने हृदयमें धारण करेंगे। निर्दय होंगे। वैरको धारण करनेवाले होंगे। तथा अपने धर्मका अपने आप नाश करनेवाले होंगे ॥ ८५ ॥

भावार्थ—पंचमकालके मनुष्य संसारके बढ़ानेमें ही अपना धर्म समझेंगे। और संसारकी उन्नति मानेंगे। हृदयमें बड़े भयंकर दुष्ट अभिप्राय रखेंगे। तथा जैनी भाई ही अपने जैनधर्मका नाश स्वतः करेंगे।

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य आर्त-रौद्र ध्यानमें ही लवलीन रहेंगे। विचार रहित होंगे। क्रिया रहित होंगे। शील रहित होंगे। लज्जा रहित होंगे। दुष्ट होंगे। और रात्रि दिवस भक्षण करनेवाले होंगे ॥ ८६ ॥

भावार्थ—पचमकालके मनुष्योंमें सदाचार संस्कार-धर्म दान पूजादि शुभ क्रिया और भोजनपानादि उत्तम

अपने अभिमान से मिथ्यामार्गको बढायेंगे तथा देवशास्त्रगुरुकी निंदा करेंगे—कोई देवको सर्वज्ञ नही मानेगा। कोई अष्टद्रव्य से पूजाका निषेध करेगा, कोई जिनदेवकी मूर्तिको अस्पृश्य शूद्रोसे पूजा प्रक्षालन करनेका उपदेश देगा। कोई शास्त्रोको समालोचना अपने स्वतन्त्र विचारोसे युक्ति और आगमविरुद्ध करेंगे। और इस बहाने से अपना मतलब बनायेंगे। अपनी निज बुद्धिको आचार्योंकी बुद्धिसे उत्तम मानेंगे। मुनियोके सत्यस्वरूपकी निंदा करेंगे। उनमे मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे और धर्मके स्वरूपमे भी उसी प्रकार मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे। धर्मकी पवित्रता नष्ट करेंगे। विवाहादिक धार्मिक क्रियाओंको व्यवहार कार्य बतला कर शीलव्रतकी महिमाको नष्ट करेंगे। विधवाविवाह करेंगे, करायेंगे। जाति पांतिका लोप करेंगे। सदाचारकी क्रियाएँ नष्ट कर शूद्रोके साथ खानपान करायेंगे। इस प्रकार पंचम कालमें अनेक प्रकार देवशास्त्रगुरुओंकी निंदा कर मिथ्या मार्ग बढायेंगे।

कदमूलाशनाः चर्मआज्यभक्षणतत्पराः। जतुनिकायभूताना घातकाः कर्मवर्जिताः ॥ ८७ ॥
द्वाविंशतेरभक्षाणा भक्षका [1]ज्ञानवर्जिताः। आत्मशसे कृताभ्यासाः परनिंदनचातुरा. ॥ ८८ ॥
किंचिद् द्रव्य च सप्राप्य मानाद्रिमस्तके स्थिताः। विभूतिहानिमालोक्य सदा शोके रता. खलु ॥ ८९ ॥

आचरणोंका विचार नहीं रहेगा। धर्मका भेष धारण कर अधर्मको बढ़ानेवाले होंगे। जो निर्लज्ज होकर विधवाविवाहादि अधर्म फैलायेंगे। और जैनधर्मको धारण कर जैनधर्मके विषयमे ही दुष्ट अभिप्राय रखेगे।

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य कंदमूल आदि अभक्ष्यभक्षण करनेवाले होंगे। चर्ममें रखे हुए घृत आदि अपवित्र पदार्थके सेवन करने वाले होंगे। छह प्रकारके जीवोंके घातक होंगे। तथा धर्मकर्म और चारित्रसे रहित होंगे ॥ ८७ ॥

अर्थ—हे राजन्! पंचमकालके मनुष्य बाईस अभक्षके सेवन करने वाले होंगे। धार्मिक श्रेष्ठ ज्ञानसे रहित होंगे। जिनको अपनी आत्माके प्रशंसन का ही लक्ष्य बना रहेगा, और धर्मात्मा बनकर दूसरों की मिथ्या निंदा करनेमे बड़े चतुर होंगे ॥ ८८ ॥

अर्थ—पंचमकालके मनुष्योंके पुण्य कर्मके उदयसे कुछ धन प्राप्त हो जावे तो वे फिर मानके पहाड़ पर बैठकर सच्चे धर्मात्माओंकी निंदा करायेंगे और पापकर्मके उदयसे कदाचित् धनकी हानि हो गई तो सदैव शोकमे आर्तरौद्र ध्यान करेंगे ॥ ८९ ॥

---

१ दर्शन मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे जीवोंको श्रेष्ठ ज्ञान नही होता है। यद्यपि उनको ज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशम से मिथ्याज्ञान अधिक होता है। भव्यसेन मुनि ग्यारह अगका पाठी था तो भी उसको दर्शन मोहनीय कर्मका उदय होनेसे उसको विवेक नही था। हिंसक व्यापार करनेमे उसको जरा भी ग्लानि नही हुई। इसी प्रकार वर्तमान समयमे लोगों को कुज्ञान अधिक होता है। परतु सत्यज्ञान नही होता। जिससे वे अपने कुज्ञानके मदमे मदमाते होकर मदिरापान करते है, मास भक्षण करते हैं। होटलो मे अभक्ष पदार्थोका भक्षण करते है। बाजार की अपवित्र वस्तुओंका सेवन करते है, नीच और म्लेच्छ लोगोके साथ खाते है। ऐसे लोग जूता पहनकर खाते है। जिनका अपनो आत्माका स्वत विश्वास (श्रद्धान) नही परंतु ढोंगी धर्मात्मा बनकर सच्चे धर्मात्मा गृहस्थ और विद्वानोकी निंदा करते हैं, मुनि, आर्यिका और श्रावक, श्राविका आदि चतुर्विध सघकी निंदा करने मे बडे चतुर होते है।

जिनवाक्य विहीनाश्च स्ववाक्यपोषणे रताः। मनोऽभिमतसल्लीनाः पाखडमतधारका ॥ ९० ॥
साधुगुणविहीनाश्च पैशून्या मानधारका । पूजका कुपरस्थाना कुस्वना न्यायवर्जिता ॥ ९१ ॥
मतिहीना धनुहीना दानेज्याव्रतविच्युता.। सातहीना गुणैर्हीना दभयुक्ताऽसपोपका ॥ ९२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! पंचम कालके मनुष्य श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के सत्य और प्रामाणिक वचनों की आज्ञाको पालनेवाले नही होगे । उनका श्रद्धान श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के वचनोंमें नही होगा । परंतु अपने असत्य और कल्पित वचनोको जनतामें सत्य बतलायेगे । तथा अभिमानसे अपने ही वचनोकी पुष्टि करेगे । अथवा कल्पित वचन गढकर नवीन मतका प्रचार करेगे । और अनेक प्रकारके ढोंग फैलाकर अंतमे मिथ्या-मार्गकी पुष्टि करेगे ॥ ९० ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें ऐसे साधु और भेषधारी ब्रह्मचारी होंगे जिनमें अपने पदके योग्य गुणोका अभाव होगा । वे लोग अपने स्वार्थके लिये चुगली करेगे । अभिमानको धारण कर धर्मका नाश करेंगे । तथा मिथ्यादृष्टि नीच आदिकी वे लोग पूजा करेंगे। न्याय मार्गका परित्याग करेंगे। और वहुत बकवाद कर[२] दंभ फैलायेंगे ॥ ९१ ॥

अर्थ—पचमकालके मनुष्य बुद्धिहीन, द्रव्यहीन, दान-पूजा, व्रत आदि रहित, सुख रहित, गुण रहित,

१ पचमकालके कितने ही ऐसे भी मनुष्य होगे जिनका जिनवाणीमे अतरग श्रद्धान सर्वथा नही होगा तो भी वे अपनेको बडे चतुर और धर्मनेता कहकर अपने मिथ्या वचनोको सिद्ध करेंगे। जिससे उनका स्वार्थ सिद्ध हो। तथा मनगढत जैनमतके समान नवीन मत स्थापित करेगे। जिससे उनका मतलब सिद्ध होता हो वही उनका धर्मशास्त्र होगा। वे लोग अपने स्वार्थ और विषय कषायकी सिद्धिके लिये श्रीजिनेन्द्रभगवान्‌के वचनोका अर्थ भी उलटा ही करेंगे तथा सत्य और यथार्थ अर्थको छिपाकर सदा अनीति और अनाचार ही फैलावेंगे।

२ वर्तमान जैन समाजमे कितने ही दभी श्रावक ऐसे भी है कि जो किसी न किसी वहानेसे जिनेन्द्र भगवान् की पूजा को ही उठा देना चाहते है। उनका इतना ही दुष्ट अभिप्राय नही किंतु भगवान्‌की मूर्ति तक को माननेको तैयार नही है उनमे कितनेही तो दान देना नही चाहते। और स्वतः दान न देकर दूसरोकी दानकी परिपाटी मेढते मुनिनिंदा, धर्मनिंदा शास्त्रनिंदा आदि निंदाओंके द्वारा पूज्य पुरुषोके महत्त्वको गिराकर मिथ्या मार्ग अथवा अपात्रमे दान दिलाकर वाहवाही लूटना चाहते है।

३ वर्तमान समयमें यह हो रहा है। कितने ही मनुष्य धर्मका भेष धारण कर लेते है परतु उनमे अपने पदके योग्य गुण नही

तैलधान्य तथा हिंगुसामुद्रजाद्यनेकधा। वस्तुविपयशालीना दयाव्रतविवर्जिता. ॥ ९३ ॥
बह्वारंभधराश्चैव परवचनचातुरा.। राज्ञ. सेवाकरा. कृष्यारंभधारणतत्परा ॥ ९४ ॥
परेषा दु खदा नीचाः क्रियाधर्मांशवर्जिता। क्षत्रियाश्च द्विजा वैश्या. स्वस्वधर्मविवर्जिता' ॥ ९५ ॥

दांभिक और केवल इन्द्रियोंके पुष्ट करनेवाले होंगे ॥ ९२ ॥

भावार्थ—पंचमकालके ऐसे भी श्रावक बहुत होंगे जिनसे भगवान्‌की पूजा करना, दान देना और व्रत पालन करना आदि एक भी पुण्य कर्म नहीं होगा। दांभिकरूपसे वे अपना जीवन विषमय कषायों की पुष्टिमें ही व्यतीत करेंगे।

अर्थ—पंचमकालके मनुष्य अतिशय लोभके कारण जीवोंकी हिंसाका विचार नहीं कर तैल, हींग, मछली, चर्वी, हाड़ आदि कुत्सित पदार्थोंका व्यापार करेंगे, जिनको दयाका जरा भी विचार नहीं होगा ॥९३॥

अर्थ—हे राजन्! पंचमकालके मनुष्योंके बहुत-सा आरंभ होगा। ये लोग अपनी चालाकीसे भोले लोगोंके ठगनेमें बड़े निपुण होंगे। कितने ही तो राजाकी सेवा करेंगे और कितने ही खेती आदि हिंसक आरंभके करनेमें ही तत्पर होंगे ॥ ९४ ॥

अर्थ—हे राजन्! पंचमकालके मनुष्य दूसरोंको दुःख देनेवाले बड़े नीच होंगे। उनके आचरण धर्मके अंशरहित होंगे। पंचमकालके क्षत्रिय अपने क्षात्रबलको खो बैठेंगे। ब्राह्मण अपने पवित्र कर्म और श्रेष्ठ आचार

होते है। गुणोका रहना दूर रहा किंतु उनके जैनधर्मका पूर्ण श्रद्धान भी नही होता है। तो भी वे लोग अपने स्वार्थकी सिद्धि और विपय कपायका पोपण करनेके लिये अनेक प्रकार धर्मके ढोंग फैलाते हुए देखे जाते है। परस्पर चुगली कर धर्मकी निंदा कराते है और अपने मिथ्याभिमानको पुष्ट करनेके लिये अधर्म और अनीतिकी वृद्धि करते है। ऐसे दंभी और मायाचारी लोग भोले लोगोको अपने चुगलमे फँसा कर अधर्म कराते है। मिथ्या मार्गको बढाते है।

समाजमे आज अधर्म और अनीतिकी वृद्धि ऐसे ही ढोंगी पाखंडी और विषय कषाय सेवन करनेवाले लोगोसे हो रही है। धर्मका नाश करनेमे ही उनको शांति मालूम होती है। यह सब पचमकालकी बलिहारी है।

इत्याद्यगुणसपन्ना मनुजा वा स्त्रियोऽपि च। अनुक्रमेण सर्वे ते मगधेश्वर निश्चयात् ॥ ९६ ॥
हीना हि राज्यभोक्तारः कुलजाः सत्त्ववर्जिताः। कृपणास्तेपि तस्मिश्च भविष्यति न संशयः ॥ ९७ ॥
जिनधर्मस्य[१] हानिर्हि समये समये घना। भविष्यति च उद्योतो खद्योतवत् नरेश्वर ॥ ९८ ॥

विचारको भूल जायँगे। वैश्य नीतिका त्यागकर अनीति पथसे धन संचय करेंगे। उच्च वर्णोमे धर्मकी मर्यादा नष्ट हो जायगी ॥ ९५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! श्रेणिक महाराज पंचमकालके मनुष्योमें तथा स्त्रियोंमें इत्यादि अनेक प्रकारके दुर्गुण क्रमसे बढते जायँगे ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें नीच मनुष्य, जिनके धार्मिक संस्कार व विचार नहीं है और जो सदाचार की पवित्र नीतिको मान्य नही करते हैं, राज्य करेंगे जिससे प्रजामे सदाचार और नीतिका लोप हो जायगा। उच्च कुलीन क्षत्रियोंमें वल (क्षात्र धर्म) नहीं रहेगा। अथवा वे कृपण और लोभी हो जायँगे जिससे वे प्रजाको लूट-लूट कर अन्याय और अधर्म फैलायेंगे ॥ ९७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें जैनधर्मकी हानि समय-समय पर वहुत होगी। परन्तु फिर भी कभी-कभी खद्योतके समान जैनधर्मका उद्योत होता रहेगा ॥ ९८ ॥

---

१ पंचमकालमे यद्यपि अन्यमतावलम्बियोंमे और मिथ्यामार्गी जैन भाइयोसे भी जैनधर्मकी समय समय पर वहुत-सी हानि होगी। जैन राजाओंके अभाव हो जानेसे लोग निरंकुश वनेंगे, अपने आप ही अपने धर्मकी हानि करेंगे और खुश होगे। परन्तु फिर भी कभी-कभी मुनियोंके प्रतापसे और भव्य विद्वानोके प्रभावसे जैनधर्म खूब प्रभाव प्रकट करेगा और वह पंचमकालके अंतपर्यंत नियमसे रहेगा। जो लोग यह कहते है कि यदि जैनधर्मकी रक्षा करना है तो विधवाविवाह, जातिपांति लोप और विजातीय विवाह चालू कर देना चाहिये अन्यथा पचास वर्षमे जैनधर्मका सर्वथा अभाव हो जायगा। ऐसी मिथ्या भीति वतलाते है वे लोग अपने विषय स्वार्थकी पुष्टिके लिये धोका देते है और समाजको भ्रममे डालते हैं। परंतु विचारशील मनुष्योको यह दृढ़ श्रद्धान हे कि जैनधर्म पंचमकालके अंत पर्यंत नियमसे रहेगा। और मुनि और विद्वानोके द्वारा खूब उन्नति भी करेगा। कितने ही मनुष्य यह कहते हैं कि शुद्ध वंश और शुद्ध रजवीर्यसे उत्पन्न हुए मनुष्योका शीघ्र ही अभाव हो जायगा, उनको भी इन जैन वचनोका दृढ़ श्रद्धान करना चाहिये। शुद्धवंश, शुद्ध जाति और शुद्ध वर्णका अभाव कभी किसी कालमे सर्वथा नही होता है।

कुकुला द्रव्यभोक्तारो न्यायहीनाश्च भूमिपा । एधिष्यत्येव म्लेच्छानामुद्योत. प्रति वासरम् ॥ ९९ ॥
शीलहीना भविष्यति वामास्तस्मिन्मदोद्धताः । त्यक्त्वा च स्वपति दास भोक्ष्यति कालदोपत. ॥ १०० ॥
लक्षकोटिपु शीलाढ्या नारी ह्येका नराधिराट् । शुद्धशीलधरा नापि भविष्यति न सशय ॥ १०१ ॥
पचमाभिधकालस्य स्त्रियोऽपि मगधेश्वर । भविष्यति रता नून भडगानेपु निस्त्रपाः ॥ १०२ ॥
प्रभूणा गानविद्यापु लज्जाधारणचातुरा । विवाहे चान्यधस्रे वा त्यक्त्वा लज्जा च स्वेच्छया ॥ १०३ ॥
भडगान च पितरौ सान्निध्येच नृणा तथा । विगीष्यति कुतस्तेपा शीलरत्न च दुर्लभम् ॥ १०४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमे नीच पुरुषोके घर पर लक्ष्मी बढ़ेगी । राजा लोग न्यायरहित हो जायँगे और म्लेच्छ लोगोका साम्राज्य जन, धन, कनक आदि संपत्ति प्रतिदिन बढ़ती रहेगी ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालकी स्त्रियाँ भी शीलभ्रष्ट होगी । धन, कुशिक्षा और जवानी से मदमाती बनेंगी तथा काल दोषसे अपने सुन्दर पतिको छोड़कर नौकर लोगोंके साथ कुकर्म करेंगी ॥ १०० ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालकी लाखों करोड़ो स्त्रियोंमे एक स्त्री शीलवती होगी । और शुद्ध शीलका पालन करनेवाली तो होंगी ही नहीं ॥ १०१ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य (शीलव्रत) नवकोटिसे पालन किया जाता है । नवकोटिसे शील पालन करनेवाली स्त्रियाँ कम होगी जिनकी सीताके समान अग्निमे शीलकी परीक्षा हो सके । परन्तु कायसे शीलको पालन करनेवाली स्त्रियाँ बहुत होंगी । यह नहीं है कि शीलको धारण करने वाली स्त्रियोका पंचमकालके अंत तक अभाव हो जावे । शीलका सर्वथा अभाव किसी कालमें भी नहीं होता है । हाँ, कुशिक्षा और अज्ञानतासे उनका अधिकांश भाग भ्रष्ट हो जायगा ।

अर्थ—हेमगधेश्वर ! पंचमकालकी स्त्रियाँ लाज रहित होकर भंड गीत गानेमें तत्पर हो जायँगी॥१०२॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचम कालकी स्त्रियोंको श्रीजिनेन्द्रदेव (भगवान्) के गुण गाने में लाज आवेगी । और विवाहादिक दिवसोंमें कुत्सित गान स्वेच्छापूर्वक करेंगी उस समय लाज सब जाती रहेगी ॥ १०३ ॥

अर्थ—पंचमकालकी स्त्रियाँ अपने माता-पिताके सामने भी कुत्सित गान गायेंगी । और जन समूह में

नश्यति भंडरागेण व्रतदानक्रियाफलम्। तीर्थयात्राफलं सर्वं जाप्यादिकं च भो स्त्रियः ॥ १०५ ॥
भंडरागेण ना वामा षंडत्वं लभते तथा। विधवा यौवने स्याद्धि नानादुःखपभोगका ॥ १०६ ॥
ये ये दुःखाश्च जायंते स्त्रीणां दौर्भाग्यकादयः। ते ते सर्वेच भो भव्य भंडरागस्य कारणम् ॥ १०७ ॥
अतो भो ललना यूयं भंडरागस्य सर्वदा। त्यागमेव कुरुध्वं वै केवलानर्थहानये ॥ १०८ ॥
कुलोत्तमं च संप्राप्य भंडरागस्य या वधू। गानं करोति वैवाहे सा मता चंडकामिनी ॥ १०९ ॥
यदीच्छा रागगानस्य तद्धि गायंतु नंदये। मंगलाद्याः शुभा गीता प्रभोर्गुणभवास्तथा ॥ ११० ॥

भी गायेंगी इसलिये उनका दुर्लभ शीलरत्न किस प्रकार रह सकता है ॥ १०४ ॥

भावार्थ—प्रायः कुत्सित गानेवाली स्त्रियाँ अपने बड़ोंके सामने ही भ्रष्ट हो जायँगी।

अर्थ—आचार्य महाराज उपदेश देते हैं कि हे राजन्! इस कुत्सित गानके फलसे इन स्त्रियों का व्रत, दान आदि पवित्र आचरण सब नष्ट हो जायगा। तथा तीर्थयात्रा, जप, तप आदि सर्व व्यर्थ जायगा ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस भंडरागसे स्त्री और पुरुष दोनों ही नपुंसक हो जायँगे और स्त्रियाँ यौवन अवस्थामें ही नाना दुःखोंको प्रदान करनेवाले वैधव्यको प्राप्त हो जाया करेंगी ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे भव्य! दुर्भाग्यके प्रदान करनेवाले जो-जो दुःख स्त्रियोंको प्राप्त होते हैं वे सब भंडरागके गानके फलसे ही होते हैं ॥ १०७ ॥

अर्थ—इसलिये हे स्त्रियो! तुम केवल अपने अनर्थोंको दूर करनेके लिये इस भंडरागके गानेका सर्वथा परित्याग करो ॥ १०८ ॥

अर्थ—उत्तम कुलको प्राप्त कर जो स्त्री विवाह आदि शुभ मांगलिक कार्योंमें भंडरागका गान करती है, वह स्त्री चंडगामिनीके समान है ॥ १०९ ॥

अर्थ—हे स्त्रियो! जो तुम्हारी इच्छा गान करनेकी ही तो श्रीजिनेंद्र भगवान्के मंगलगान और शुभ गीतोंको खुशीसे गाओ। जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप कर्मका नाश हो ॥ ११० ॥

नेमिनाथस्य वा चान्ये आदिवीरस्य वा गुणा-। विवाहस्यैव तेषा हि विवाहमगलाप्तये ॥ १११ ॥
गूढच्छद तथा गद्य वरा प्रहेलिका पुन । पठथ कुरुथ चोच्चैः प्रश्नोत्तरमहो स्त्रियः ॥ ११२ ॥
भडरागे कुतो धर्मो धर्मादृते कुतः सुखम् । अतस्त्यक्त्वा मद यूय गायथ जिनसद्गुणान् ॥ ११३ ॥
प्रभोर्गुणानुवादाच्च जायते मानसे मुद । पापहानिर्यशो लोके पुण्यस्य सततिः खलु ॥ ११४ ॥
प्रभोर्गुणानुवादेन सम पुण्य न भूतले । चापर स्वर्गराजोहि सदा गायति तद्गुण ॥ ११५ ॥
भडरागस्य या नार्यो त्याग कुर्वंति ता- पुनः । दिवि सोख्य च संप्राप्य लभते चाक्षय पदम् ॥ ११६ ॥
भडरागप्रभावेन हत्वा शील पुनश्च ता- । श्वभ्रे दु खमनेक हि प्राप्नुवति न सशय ॥ ११७ ॥

अर्थ—इसलिये स्त्रियोंको विवाहादि शुभ मंगलिक अवसर पर श्री देवाधिदेव आदिनाथ भगवान् या नेमिनाथ भगवान् आदि पुण्य पुरुषोंके विवाह आदिके शुभ और मंगलीक गीतोको गाना चाहिये ॥ १११ ॥

अर्थ—गूढ छद, गद्य, पद्य, प्रहेलिका आदि शुभ और पवित्र धार्मिक गीतोंको पढ़ो । और धार्मिक प्रश्नोत्तरोंको आत्मकल्याणके लिये खूब करो ॥ ११२ ॥

अर्थ—इसलिये भंडरागोंके गानेमें धर्म कहाँ है और धर्मके बिना सुख कहाँ ? अतएव सुखकी प्राप्तिके लिये श्रीजिनेन्द्र भगवान्के सद्गुणोंका गान करना चाहिये । और कुत्सित गानका नाद छोड़ देना चाहिये ॥११३॥

अर्थ—भगवान्के परमोत्कृष्ट और पवित्र गुणानुवादके गान करनेसे मनमें अतिशय हर्ष होता है । जिससे पापकी हानि, यशकी प्राप्ति और पुण्यकी वृद्धि होती है ॥ ११४ ॥

अर्थ—प्रभुके गुणानुवादके समान अन्य किसीमें पुण्य नहीं है । स्वर्गके देवगण भी पुण्यकी प्राप्तिके लिए प्रभुके गुणोंका गान करते हैं ॥ ११५ ॥

अर्थ—भंडरागका जो स्त्रियाँ परित्याग करती हैं वे स्वर्गमें अपूर्व सुखको प्राप्त होती हैं । और क्रमसे अक्षय पदको प्राप्त होती है ॥ ११६ ॥

अर्थ—भडराग से कितनी ही स्त्रियाँ अपने पवित्र शीलरत्नका नाश करती हैं और फिर उससे नरकके दुःखोको प्राप्त होती हैं ॥ ११७ ॥

द्वयोर्हि रागयोर्भव्याः फलं ज्ञात्वा सुखाप्तये। मा श्रृणुध्वमहो तं च भंडरागं कुदु:खदम् ॥ ११८ ॥
यस्मिन् काले नराधीश नरा नार्यो घनाः खलाः । भद्रा हि स्वल्पसंख्याश्च क्रियाव्रतधरा वराः ॥ ११९ ॥
शिथिलाचाराश्च केचित् केचिदाचारवर्जिताः। केवलाभिधसंपन्ना यस्मिन् वै श्रावकाः खलु ॥ १२० ॥
आचारधारका. केचित् तेषां निंदा भविष्यति । कालांते जिनधर्मोयं यत्र कुत्रैव स्थास्यति ॥ १२१ ॥

अर्थ—धार्मिक पवित्र गीत और कुत्सित भंडराग दोनो प्रकारके गीतोंके शुभाशुभ फलको जानकर सुखकी प्राप्ति के लिये धार्मिक गीतोंका गान करना चाहिये और भंडराग को दुःखकारी समझकर नही गाना चाहिये । तथा श्रवण भी नहीं करना चाहिए ॥ ११८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जिस पंचमकालमें प्रायः बहुतसे स्त्री पुरुष दुष्ट अभिप्रायवाले और धर्मसे बहिर्भूत होंगे । उत्तम व्रत तथा उत्तम पवित्र श्रावककी क्रियाओंको पालन करनेवाले भद्र परिणामी (सरल परिणामी) विशुद्ध हृदयवाले स्वल्प संख्यामें होंगे ॥ ११९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उस पंचमकालमें कितनेही मनुष्य शिथिलचारी होगे तथा आचार रहित होंगे । उस पंचमकालमें श्रावकजन केवल नामधारी जैनी होगे । इन दोनो श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि कुशिक्षा और व्यामोह से मनुष्यों में मायाचारी और पापिष्ठता बढ़ जायगी । जिससे उनके परिणाम सदैव दुष्ट रहेगे । इस अज्ञान और दुष्टता से वे अपने स्वार्थ और विषय कषायोंको सिद्ध करने के लिये सदाचार पर पानी फेरेंगे। धार्मिक मर्यादाका नाश करेंगे । पवित्र आचरणोंमें शिथिलता करेंगे और उपदेशोके द्वारा करावेंगे जिससे शीलव्रत संयमचारित्रमें लोग शिथिल होते जायँगे । परिणामोसे सरलता नष्ट हो जायगी । और कदाचार बढ़ता जायगा । सदाचार और धर्मकी मर्यादाकी पुष्टि करने वाले सच्चे धर्मात्मा भद्र परिणामी मनुष्य बहुत ही स्वल्प संख्यामें रह जायँगे । श्रावकगण केवल नाममात्रके जैनी रह जायँगे ॥ १२० ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें श्रीजिनदेवके आगमानुसार आचारका पालन करनेवाले सच्चे धर्मात्मा भाइयोंकी कुशिक्षित लोग निंदा करेंगे । तथा हे राजन् ! पंचमकालके अंतमें यह जिनधर्म कही-कही पर ही स्थिर रहेगा ॥ १२१ ॥

द्रव्ययुक्ता नरा केचित्स्वात्मनि हर्षपूरिताः । भविष्यत्यन्यमानुष्य गणिष्यति तृणोपमम् ॥ १२२ ॥
धनाधास्ते गृहे स्वस्य दासीदासान् कुलोज्झितान् । रक्षयिष्यति पानार्थं न्यादार्थं च खलाशयाः ॥ १२३ ॥
शूद्रलोकस्य ये धाम्नि रक्षति ते कथं मताः । खानपानादि कर्मार्थं श्रावकास्तत्समाः खलु ॥ १२४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें धनिक लोगोंमें अभिमान बढ़ जायगा जिससे वे अपने धनके हर्ष में गहले बन जायँगे । और अन्य मनुष्योंको तृणके समान समझेंगे ॥ १२२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमें वे धनिक लोग अपने धनके मदमें अन्धे होकर विचार रहित हो जायँगे । जिससे वे अपने गृहमें नीच और अकुलीन नौकर चाकरोंको रखेंगे । और उनके हाथसे भोजनपान करेंगे । जिस समय कुसंगति या कुशिक्षासे धनवान लोगोंकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है उस समय उनका विचार भी गंदा हो जाता है । उन्हें हिताहितका विवेक नहीं रहता जिससे वे धर्म और सदाचारको पवित्र मर्यादाका विचार नहीं कर अपने घरमें नीच मनुष्योंको (दासदासी) रखकर उनके हाथका भोजन करने लग जाते है॥१२३॥

नीच मनुष्योंके हाथका भोजनपान करना धर्मशास्त्रकी पवित्र आज्ञासे विरुद्ध हे और सदाचारका लोप करने वाला है । जो लोग नीच मनुष्योंके हाथका भोजनपान करते है वे जैन नहीं हैं । उनके धर्मकी श्रद्धा नहीं है । अतएव वे नाममात्रके ही जैन हैं ।

भावार्थ—जो लोग अपवित्र साधनोंके साथ समुद्रयात्रा कर नीच लोगोंके हाथका अपवित्र और अभक्ष्य भोजन कर अपनेको सम्यग्दृष्टी बतलाते हैं वे जिनेन्द्र भगवान्के आगमके श्रद्धानी नहीं हैं । तथा जो लोग ऐसे नीच पुरुषोंके हाथका अभक्ष्य भोजन कर अपनेको पंच अणुव्रतधारी बतलाते हे वे बनावटी जेनी है ।

अर्थ—जो धनिक लोग अपने गृह पर शूद्रलोगोंसे खान-पान आदि धार्मिक क्रियायें कराते हे वे श्रावक शूद्रके समान ही है ॥ १२४ ॥

भावार्थ—भोजन पान आदि केवल व्यवहार मार्ग नही हे कि जिस-तिस प्रकार शुद्ध-अशुद्धका विचार नहीं कर नीच लोगोंका भोजन पान कर लिया जाय । परंतु भोजन पानकी क्रियाको धार्मिक सदाचार (चारित्र) की पवित्र ओर उत्कृष्ट क्रिया माना है । मुनीश्वर भोजन पानकी क्रियाके समय भी विशुद्ध भावोंसे

शूद्राणां न विवेकोऽस्ति मरणे जन्मनि रजो । मद्यमांसादिखाद्ये च रोमचर्मे वृथा खलु ॥ १२५ ॥

सातवें गुणस्थानको प्राप्त होते हैं। और इसीलिए ही वे शुद्ध और विधिपूर्वक भोजन करते हैं। श्रावक लोगोके भोजन पानकी क्रियाकी विधि जिनागममें बतलाई है। अतएव यह विधि जिनाज्ञा रूप होनेसे धार्मिक ही मानी गई है। जो मनुष्य धार्मिक भोजन पान विधिको जिनागमकी आज्ञाके विरुद्ध बतलाते हैं और शूद्रोके हाथका भोजन पान करते हैं वे जैनधर्मकी आज्ञा न मानने के कारण जैनधर्मसे रहित समझने चाहिए।

जो लोग मुसलमान, भंगी, चमार, म्लेच्छ आदि नीच मनुष्यो को नाम मात्रका जैन बनाकर उनके हाथका भोजन करना चाहते हैं और उनसे कन्या का विवाह कराना चाहते हैं वे जैन मतकी पवित्र आज्ञा से पराङ्मुख है। क्योंकि जिनागममें बतलाया है कि शूद्र, भंगी, चमार आदि नीच गोत्रकर्मके उदयसे उत्पन्न हुये मनुष्य चाहे जैनमतको अपने आत्मकल्याणके लिये भले ही पालन करें परंतु उनके हाथका भोजन पान व कन्या दानादान आदि व्यवहार "मुनिधर्म" और "सज्जाति" का लोप करनेवाला है। जैनधर्मको तिर्यंच घोड़ा, गधा आदि सभी पशु पाल सकते हैं परंतु उनके साथ मनुष्य घास नही खाने लगते। धर्मका पालन करना आत्म-कल्याणके लिये है। परंतु भोजनपान और कन्याव्यवहार यह सज्जातीयता की रक्षा करनेके लिये है। यदि सज्जातिकी रक्षा न की जाय तो मुनि धर्म और श्रावक धर्म दोनो में से एक भी स्थिर नही रह सकेगा।

अर्थ—शूद्र लोगोंके जन्म, मरण और ऋतुधर्मपालनका तथा सूतक-पातकका विवेक नही होता। तथा मद्य, मांस आदि अभक्ष्यका भक्षण करनेमें विवेक नहीं होता है तथा रोम (कंबल पर भोजन पान करना) चाम आदि मलिन पदार्थ पर भोजन करनेमें विवेक नही होता है। इसलिए शूद्रके हाथका भोजन पान करना आगम-विरुद्ध है ॥ १२५ ॥

भावार्थ—सोलह संस्कार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णमें ही होते हैं। जिन जीवोमें सोलह संस्कार नही, उनके मोक्ष मार्ग भी नहीं है। भोगभूमिके जीव कितने उत्तम होते हैं परंतु उनमें सोलह संस्कार नहीं होते अतएव वे मोक्षके अधिकारी नही होते हैं। सौधर्म इन्द्र ग्यारह अंगको धारण करनेवाला और सम्यक्त्वी है तथापि सोलह संस्कार नही होनेसे मोक्षका अधिकारी नही है। इसी प्रकार शूद्रलोगोमें सोलह संस्कारोंका अभाव

यत्र नास्ति क्रियाशुद्धि क्रियालेशोऽपि नास्ति च । अतो धर्मस्य रक्षार्थं पालयध्व वरा क्रियाम् ॥ १२६ ॥
ते गर्भ पानचूर्णादि कार्यं स्वस्यैव नैव च । हस्तेन निर्विवेका हि करिष्यति मदोद्धता ॥ १२७ ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदोहि नैव तेषा मतो निशि । धनाढ्या हि क्रियाहीना निर्द्रव्याश्च क्रियारता ॥ १२८ ॥
भविष्यति गृहे तेषा स्त्रियोऽपि मदमडिता । क्रियाकर्मोज्झिता मूढा परासूयरताः सदा ॥ १२९ ॥

होता है तो फिर वे शूद्र लोग जिनधर्मको पालन कर लेनेपर भी मोक्षके अधिकारी किस प्रकार हो सकते हैं ? त्रिवर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) में ही संस्कार होते है इसीलिए त्रिवर्णमें ही मोक्षमार्गका अधिकार है । यदि शूद्रों (जिनके संस्कार नही है) के हाथका भोजन पान त्रिवर्णमें कराया जाय और कन्यादान आदि व्यवहार धर्म चालू कर दिया जाय तो त्रिवर्णके संस्कारोंका लोप हो जायगा । और संस्कारके लोप होनेसे मोक्षमार्गका लोप हो जायगा । इसलिए शूद्र जैनधर्मको धारण कर लेवे तो उसके साथ रोटी बेटी-व्यवहार नहीं करना चाहिए ।

अर्थ—जिन पुरुषोंके (शूद्र लोगोके) क्रियाकी शुद्धि नही है तथा जिनके संस्करादि धार्मिक क्रियाएँ नही हैं उनके साथ खान पान आदि व्यवहार नहीं करना चाहिए । अतः धर्मकी रक्षाके लिए हे भव्यजीवों ! आगमोक्त उत्तम और पवित्र क्रियाओंका पालन करो अर्थात् भोजन पान आदि पवित्र क्रियाएँ शूद्रके हाथसे मत कराओ । अन्यथा शुद्ध क्रियाओका पालन होना अशक्य है ॥ १२६ ॥

अर्थ—उस पंचमकालमे विवेक रहित और मदोन्मत्त पुरुष ही खानेपीने, पीसने, पानी भरने आदि घरके कामोंको अपने हाथसे नही करेंगे । अर्थात् ऐसे लोग शूद्रोसे ही सब काम करावेगे ॥ १२७ ॥

अर्थ—जो धनिक लोग शूद्रके हाथका भोजन पान करते हैं उनके खाद्य और अखाद्यका विचार सर्वथा नही होता है । वे लोग रात्रिमे भोजन करते है । इसलिये कितने ही धनांध (कुशिक्षित और कुसंगतिमे लगे हुए) क्रियाहीन होते है । और निर्द्रव्य (गरीब) लोग क्रियावान् होते है ॥ १२८ ॥

अर्थ—क्रियाहीन धनिक लोगोंकी स्त्रियाँ भी मतवाली बनकर खान पानकी विशुद्ध क्रियाओंसे रहित होंगी । मूर्खिणी होंगी तथा दूसरोंसे ईर्षा-द्वेष करनेवाली होंगी ॥ १२९ ॥

पचाक्षपोषणे लीना धर्ममार्गविवर्जिताः । स्वात्मशंसे कृताभ्यासा मिथ्यात्वपथसेविका- ॥ १३० ॥
स्वस्य हस्तेन किंचिच्च गृहकार्यं क्रियोद्भव । न करिष्यति ता- भूप मदमात्सर्यसंभृताः ॥ १३१ ॥
शूद्रहस्तेन तत्सर्वं भाद्रमासे व्रतेपु च । नून कारापयिष्यंति अन्नपानादिजां क्रिया ॥ १३२ ॥
निद्यं स्यात् सर्वमासेपु न्यादपानादिकं खलु । शूद्रकरेण संस्पृश्य सदाचारविनाशकम् ॥ १३३ ॥
मद्यमासमधूना यदशनाद्दोपो जायते । वै स्यात्तद्धस्तसपर्कवस्तुभक्षणतो बुधाः ॥ १३४ ॥
ये पुन शूद्रहस्तस्य भाद्रमासे व्रतेपु च । चूर्णादिकाज्यं खादंति ते नरास्तत्समा मताः ॥ १३५ ॥

अर्थ--धनवानोकी कुशिक्षिता स्त्रियाँ पाँचों इंद्रियोके विषयोंको पुष्ट करनेमें रात्रि दिवस मग्न रहेंगी। धर्ममार्गसे रहित होगी। जिनको अपनी आत्माका भी विश्वास नहीं होगा। केवल मिथ्यात्व मार्गका ही सदैव सेवन करेंगी ॥ १३० ॥

अर्थ--मद और ईर्षा-द्वेपसे भरी हुई धनवानोकी कुशिक्षिता स्त्रियाँ अपने गृहके खानपान और आचार विचारकी धार्मिक क्रियाओंको अपने हाथसे बिलकुल नही करेंगी ॥ १३१ ॥

अर्थ--हे राजन्! धनवानाकी कुशिक्षिता स्त्रियाँ भाद्रपद मास (पर्युषण पर्व) और व्रतोंके दिवसोंमें भी भोजनपान शूद्रके हाथसे करायेंगी। उनको पवित्र व्रतोकी मर्यादा और पवित्र विधिका भी विचार नहीं रहेगा॥१३२॥

अर्थ--भोजनपानकी क्रिया और विशुद्ध खानपानकी सामग्री शूद्रके हाथसे कराना सदा ही निंद्य है क्योंकि उससे सदाचार समूल नष्ट हो जाता है ॥ १३३ ॥

अर्थ--हे विद्वानो, जो दोप मद्य, मास और मधुके सेवन करनेसे उत्पन्न होता है वही दोष शूद्रके हाथसे सम्बन्ध किये हुए पदार्थोंके भक्षण करनेसे होता है ॥ १३४ ॥

भावार्थ--शूद्र लोग मद्य, मास और मधुका सेवन करते है। उनके हाथोंमें उन मलिन और अस्पृश्य पदार्थोंका सस्कार बना रहता है। यदि उस शूद्रके हाथसे स्पर्श किये हुए भोजनपानका सेवन किया जाय तो उस वस्तुके सेवन करनेमें मद्य, मांस भक्षण करनेका दोप अवश्य ही लगेगा। क्योकि शूद्रके हाथोका असर अपने भोजनपानमें अवश्य हो आयेगा।

अर्थ--जो पर्युपण पर्व और व्रतादि पुण्य दिवसोमें भी शूद्रके हाथका आटा, पानी और घी आदि

शूद्रश्रावकभेदो हि दृश्यते व्रतपालनात् । शूद्रोऽपि श्रावको ज्ञेयो निर्व्रत सोपि तत्सम. ॥ १३६ ॥
श्वपचो जिनधर्मेण कथित श्रावकोत्तम । भूपपुत्रोऽपि सप्रोक्तो त विना श्वपचसमः ॥ १३७ ॥
श्वानको व्रतयोगेन देवत्वे जायते खलु । देवो ह्यधर्मदोषेण श्वयोनौ भो बुधोत्तमा. ॥ १३८ ॥
वर्चस्वे भूमिपालोपि कीटत्व लभते खलु । कीटोपि व्रतलेशेन भजते गतिमुत्तमाम् ॥ १३९ ॥
अतो भो सज्जना यूय मा कुरुध्व कदाचन । मानप्रमादमात्सर्यं यदीच्छा शर्मसतते· ॥ १४० ॥
मानेन बहवो नष्टा रावणाद्या नरोत्तमा । सप्राप्य परम दु·ख गतास्ते नरकावनौ ॥ १४१ ॥

भोजन पान सामग्रीका सेवन करते हैं वे शूद्रोंके समान ही माने गये हैं ॥ १३५ ॥

अर्थ—शूद्र और श्रावकमें यदि भेद है तो मात्र इतना ही है कि शूद्रके सोलह संस्कारके अभावसे व्रतोंका पालन-भोजन पान आदि धार्मिक क्रियाओंका पालन नहीं होता है और श्रावकमें होता है। जो श्रावक अपने भोजन पान आदि धार्मिक व्रत क्रियाओंको भूलजावे—नहीं करे तो वह शूद्रके समान ही है ॥ १३६ ॥

अर्थ—यदि चांडाल जिनधर्मकी आज्ञाके अनुसार जैनधर्मको धारण करता है तो वह श्रावकोत्तम माना जाता है। और जो राजपुत्र होकर भी जिनधर्मकी आज्ञाके अनुसार नहीं चलता तो वह चांडालके समान माना जाता है ॥ १३७ ॥

अर्थ—हे उत्तम बुद्धिमानो, देखो सम्यग्दर्शनादि व्रतों के धारण करने से कुत्ता भी देव हो जाता है और पाप कर्म करनेसे देव भी कुत्ता हो जाता है। इसलिये हे बुद्धिमानों! जिन क्रियाओंसे सम्यग्दर्शन स्थिर रहे ऐसी व्रतादि धार्मिक क्रियाओंका पालन करो ॥ १३८ ॥

अर्थ—पापसे राजा भी कीड़ा (कीटक) हो जाता है। और धर्मसे कीट भी देव बन जाता है ॥१३९॥

अर्थ—हे भव्य जीवों! जो सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा है तो जिन धार्मिक आचरणोंके पालन करनेसे सम्यग्दर्शन की स्थिरता होती है ऐसे पवित्र आचरणोंके पालन करनेमें मान या आलस मत रखो और मात्सर्य मत करो ॥ १४० ॥

अर्थ—धार्मिक चारित्रका यदि सत्ता और धनके अभिमानसे लोप किया जाय तो रावण आदि महान् पुरुषोंके समान नरकादिकोंके भयानक दुःख भोगने पड़ेंगे ॥ १४१ ॥

मानं दुर्गतिकारण बुधजनैर्हेय च निंद्य खलु, मानाद्धि खचरेश्वरो दशमुखो रामेण वै नाशित ।
स्वन्येत्राखिलदु:खशोकनिचय मप्राप्य वै निंद्यतां, ह्याप श्वभ्रनिकेतन बुधजनास्त हि जहीध्व ह्यतः[1] ॥ १४२ ॥
अन्नादिशोधने पानगालने न्यादपाचने । प्रमार्जने महद्यत्नं कर्तव्यमजसा खलु ॥ १४३ ॥
ह्यशोध्य शाकपुष्प च विद्धान्नं नवनीतकं । दधितक्रद्विदलान्न त्याज्य व्रताप्तये सदा ॥ १४४ ॥

भावार्थ---हम बड़े हैं, हम राजा हैं, हम धनवान हैं, इस प्रकार अभिमान में आकर यदि हम धार्मिक पवित्र आचरणो का पालन नही करेंगे तो हमारी अवश्य ही दुर्गति होगी । रावणने अपने राजसत्ता और बलके अभिमानसे ही शील जैसे पवित्र धार्मिक आचरणको नष्ट करना चाहा इसलिये ही वह दुःख को प्राप्त हुआ । अतएव धार्मिक क्रियाओको कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥

अर्थ---मान दुर्गतिका कारण है, विद्वानोंको छोड़ने योग्य है और निंद्य है । मानसे ही विद्याधरोंका ईश रावण राम लक्ष्मणके द्वारा नाशको प्राप्त हुआ अथवा अपने आप ही दुःखोंको प्राप्त होकर नाशको प्राप्त हुआ और अंतमें नरकादिक दुखोंका पात्र हुआ । इसलिए भव्य जीवोंको मान करना छोड़ देना चाहिए ॥१४२॥

अर्थ---अन्नादिक पदार्थोंके शोधन करनेमें प्रमाद नही करना चाहिए । पानी छानना और भोजनपान आदि चोकेकी क्रियामें महान् सावधानी और यत्न रखना चाहिए । भोजन बनाना, पानी छानना, सड़े हुए धान्यको बीन छानकर आटा बनाना, शरीर और वस्त्रको शुद्धकर रसोई घर (चौका) में जाना, चौकाको शूद्रादि लोगोंसे स्पर्श न कराकर स्वतः उसको साफ करना आदि बातोंमें प्रमाद नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह सब सोलह संस्कारका फलरूप धार्मिक चारित्र है । जो मनुष्य इस विषयमें प्रमाद कर अन्यथा करता है या दूसरे शूद्रादि लोगोसे यह कार्य कराता है वह धर्ममार्गसे भ्रष्ट समझा जाता है ॥ १४३ ॥

अर्थ---विना शोधे पदार्थ पुष्पादि खानेके पदार्थ, सड़ा घुना हुआ अन्न, लोनी (मक्खन) और दही, छाछके साथ चना, मूंग आदि द्विदलको व्रतकी शुद्धताके लिए ग्रहण नही करे ॥ १४४ ॥

---

१. इन तीन श्लोकोंका मतलब यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रभावसे कुत्ता कीटकऔर चाडाल आदि नीच पर्यायको धारण करनेवाले प्राणी भी देवादि शुभ गतिको प्राप्त होते हैं । जो जीव सम्यग्दर्शन सहित चाडाल हो तो भी मरकर देवपर्यायको प्राप्त होते है या और सम्यग्दर्शनका माहात्म्य ही ऐसा है ।

हट्टचूर्णाज्यहिंगु न चर्मतैल दयाप्तये । न ग्राह्य सर्वदा भव्यैः कदमूलोत्कर खलु ॥ १४५ ॥
यत्नेन जायते धर्मो विना यत्नेन नो खलु । अत सर्वत्र कार्येषु दयाभावो विधीयते ॥ १४६ ॥
वस्त्राणा धोवन चापि गालितेन जलेन च । कर्तव्य व्रतरक्षार्थं दया सर्वेषु ह्युत्तमा ॥ १४७ ॥
यच्चित्ते हि दया नास्ति स पुमान् राक्षसमम । अतो भव्याः सदा कार्या सर्वभूतेषु सत्कृपा ॥ १४८ ॥
दयासमो न धर्मोस्ति क्षमातुल्य तपश्च न । दानसम न भूपास्ति त्रयस्ते मोक्षदायका. ॥ १४९ ॥
कुलजा बुद्धिहीनाश्च सभविष्यति कुकुलाः । भूपते बुद्धिवेत्तार. स्वस्वधर्मपरान्मुखा. ॥ १५० ॥
जैनादिषड्मता. ख्यातास्तेषा मध्ये नरेश्वर । भविष्यति घना भेदा. स्वस्वमतिविकल्पतः ॥ १५१ ॥

अर्थ---अपने चारित्रको शुद्ध रखनेके लिये व दयाधर्म पालन करनेके लिये बाजारका आटा, अशुद्ध बाजारका घी, हींग, चामसे रखा हुआ तैल और कंदमूल आदि पदार्थ सर्वथा ग्रहण नही करना चाहिये ॥१४५॥

अर्थ---अपने संयम और पवित्र चारित्रकी रक्षाके लिये भोजनपानको यत्नाचारसे शोध कर सेवन करो। अशोधित अन्नपानका सेवन मत करो। क्योंकि यत्नपूर्वक शोधनेसे ही उत्तम प्रकारसे धर्मका पालन होता है, बिना यत्नके नहीं। इसलिये समस्त कार्योंमें दया रखनी चाहिये ॥ १४६ ॥

अर्थ---व्रती पुरुषोंको अपने वस्त्र भी छने हुए पानीसे धोना चाहिये क्योंकि उसके बिना दयाधर्मका पालन होना अशक्य है। जिनके यत्नाचार पूर्वक आचार विचार है उनके ही दयाधर्मका पालन होता है ॥१४७॥

अर्थ---जिन मनुष्योंके मनमे दया नहीं है वे राक्षसके तुल्य हैं। इसलिये हे भव्य जीवों ! सब जीवोंपर दया करनी चाहिये ॥ १४८ ॥

अर्थ---दयाके समान अन्य धर्म नहीं है। क्षमाके समान अन्य तप नहीं है। दानके समान अन्य कोई भूषण नहीं है। संसारमे दया, क्षमा और दान ये तीनों मोक्षके प्रदान करनेवाले रत्नत्रय हैं ॥ १४९ ॥

अर्थ---इस पंचमकालमें कुलीन पुरुष बुद्धिहीन होंगे। और कुकुलीन राजाओंके मन भावते होंगे। तथा धर्म से रहित होंगे ॥ १५० ॥

अर्थ---हे राजन् ! पंचमकालमें षट मतके धारक मनुष्य होंगे। तथा जैन मतमें भी विपरीत मत

धार्मिकाणा भविष्यति हानिस्तु समय प्रति। गुरोर्निंदा करिष्यन्ति श्रावका व्रतवर्जिताः ॥ १५२ ॥
महस्रार्द्धेपु वर्षेपु नाशो धर्मस्य वा पुन । भविष्यति पुनर्धर्ममार्गजैनप्रभावकाः ॥ १५३ ॥

अपनी-अपनी मन की कल्पनासे गढ़कर श्वेतांबरादिक बहुत भेद होंगे। जो अपनेको जैन मतके धारक बतलायेंगे परंतु उनका मत मिथ्याके समान तीव्र मिथ्यात्वसे परिपूर्ण होगा ॥ १५१ ॥

अर्थ—उस समय धर्मात्मा पुरुषोकी हानि होगी। और व्रत रहित। (असदाचारी) श्रावक गण ही अपने धर्मगुरुओंकी निन्दा करेंगे। मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे ॥ १५२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस पंचमकालमें ५०० पाँचसौ वर्ष व्यतीत होनेपर क्रमसे धर्मकी हानि होती जायेगी। और ५०० पाँचसौ वर्षोंमें जैनधर्मका माहात्म्य अतिशय प्रभावनाके साथ बढ़ेगा ॥ १५३ ॥

भावार्थ—हजार वर्षके आधे भागमें क्रमसे जैनधर्म घटता चला जायगा। और उत्तरार्द्ध भागमें जैन-धर्म क्रमसे बढता जायगा। किसीको यह नही समझना चाहिये कि अब जैनधर्म बढ़ेगा ही नहीं। यह बात त्रिलोकप्रज्ञप्तिसे मालूम होती है कि हजार वर्ष व्यतीत होनेपर एक कलंकी होगा जो धर्मका नाशक होगा।

---

१. कुशिक्षित और असदाचारी लोगोंसे सच्चे धर्मात्मा पुरुषोकी बडी भारी हानि होगी। वे लोग अपने विषय कषाय की पुष्टिके लिए और अपने कुशिक्षाके मिथ्याभिमानसे धर्मात्माओंको सब प्रकारके कष्ट देंगे। निर्दयतासे कार्य करेंगे। वात्सल्य और बन्धुत्व भावनाको भूलकर अपने धर्मका सत्यानाश करनेके लिए सच्चे धर्मात्माओंको शत्रु मानेंगे। तथा वीतराग सर्वथा निरपेक्ष-परम पवित्र सर्व प्रकारके दोषसे विरहित और सब प्रकारकी आशाको छोडकर ज्ञान-ध्यानमे लीन रहनेवाले धर्मगुरु (मुनि-आचार्य-ऐलक आर्यिका) को ये व्रत और चारित्रविहीन श्रावक निन्दा करेंगे। तथा निर्लज्जताके साथ निन्दा करते हैं। ये लोग स्वय पापी, सदाचार रहित, कुशिक्षासे विषयोंका पोषण करनेवाले और क्रियाहीन पापिष्ठ होंगे, सच्चे धर्मात्मा और धर्मगुरुका चारित्र-विचार एवं सदा ही भावना अत्यन्त पवित्र और उत्तम होगी। उसको भी ये लोग सहन नही कर सकेंगे, उनकी इच्छा रहेगी कि यदि सच्चे धर्मात्मा पण्डित और धर्मगुरु हमारे मतके अनुकूल हो जावें तो हम समस्त समाजमे अपने विषय कषायोंकी प्रवृत्ति करा सकते हैं। विषयोंका नशा लगाकर सहज रीतिसे कुमार्गका प्रचार कर सकते हैं। तभी समाजमे विषय कषायोंकी सिद्धि होगी। ऐसी दुर्भावना धारणासे ही ये लोग सच्चे गुरु और सच्चे धर्मात्माओंसे पापकी प्रवृत्ति कराना चाहेंगे। परन्तु अपने जीवनकी परवाह नही करनेवाले धर्मगुरु और सच्चे धर्मात्मा ऐसे धर्मविरुद्ध पापोंकी प्रवृत्ति कभी नही करेंगे। बस, ऐसे ही कारणोंसे ये धर्मात्माओंकी हानि और धर्मगुरुओंकी निंदा करेंगे।

भद्रबाहुस्तथा भूप जिनसेनऋषीश्वरः । समतभद्रयोगीन्द्रो बौद्धमातगसिंहभ ॥ १५४ ॥
इत्याद्या वरयोगीन्द्रा वर्तयिष्यन्ति निश्चयात् । दिशावासधराः पूज्या देवमानववृन्दतः ॥ १५५ ॥
पश्चाद[1]भ्रमुनिजायाप्रमाब्दे मगधेश्वर । कुदकुदाभिधो मौनी भविष्यति सुरार्चितः ॥ १५६ ॥
मुनेस्तस्य शृणुध्वच वृत्त[2]मानददायकम् । एकाग्रमनसा भूप कर्मेन्धनहुताशनम् ॥ १५७ ॥

और आगेके पाँचसौ वर्ष व्यतीत होनेपर एक उपकलंकी मुनि होगा जो धर्मका स्थापन करनेवाला होगा । बस इनके योगसे धर्मकी हानि और वृद्धि होगी ।

अर्थ—हे राजन् ! परम दिगम्बर (निर्ग्रंथ)-देव-मानवोंसे पूज्य, बौद्धादि मतरूपी हाथियोंको सिंहके समान नाश करनेवाले, पूर्ण योगो ऐसे भद्रबाहु, जिनसेन, समंतभद्र आदि अनेक मुनीश्वर जैनधर्मके स्थापक होंगे ॥ १५४-१५५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! हमारे (श्रीवीरनिर्वाण संवत्से) चारसौ सत्तर वर्षके बाद देवोंसे पूजित कुंदकुंद स्वामी नामके यतीश्वर होंगे ॥ १५६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उन कुंदकुंद स्वामीका आनन्द प्रदान करनेवाला वृत्तांत एकाग्र मनसे श्रवण करो जिस पवित्र वृत्तांतके श्रवण करनेसे कर्मरूपी ईंधन भस्मीभूत हो जाता है ॥ १५७ ॥

---

१ अभ्रका अर्थ आकाश है और आकाशसे सख्यामे शून्य लिया जाता है तथा मुनिशव्दसे सात सख्या ली जाती हे । और जाया शव्दसे चार सख्या ली जाती है । 'अकाना वामतो गतिः' इकाई दहाई वॉई ओर लिखी जाती हे । इस न्यायसे ४७० वर्प होते है ।

२ हमारे पास (ऐलक पन्नालाल दिगबर जैन सरस्वती भवन, मुम्बईमे) एक गुटका हे जिसमे श्री कुदकुद भगवान्का जीवन हिंदी भाषामे लिखा है । वह यहॉपर उपयोगी होनेसे अविकल रूपसे अक्षरश: रखते हैं । स० (वीर सवत्) ४७० की सालमे वारा नगरमे श्री कुन्दकुन्द मुनिराज थे । तिनका व्याख्यान करिये है । सेठ कुन्द ओर कुन्दलता सेठानीके पाँचवाँ स्वर्गका देव चयकर गर्भमे आये तिस दिनसे सेठका नाम प्रख्यात भया । नव महोने पश्चात् पुत्र जन्म भया । तिस समय श्वेताम्वर आम्नाय विशेप होय रही थी । दिगम्वर आम्नायमे कुछेक विक्षेप पड गया था । एक जिनेन्द्रचद्र मुनिराज रामगिरी पर्वतपर रहे । ताके दर्शन सेठजी करवो करे सो याके पुत्र आठ वर्षका हुआ और श्रीजिनेन्द्रचद्र मुनिका आयुकर्म नजीक आया । कुमार कुन्दकुन्द नित्य मुनिके दर्शनार्थ आया करता था । सो पूर्व सस्कारसे कुन्दकुन्द कुमार दीक्षा लेता भया । आचार्य तो देवलोक सिधारे और कुन्दकुन्द मुनिने आचार्योका मार्ग विशेप जाण्या नाही सो अपने गुरु स्थापनाके निकट ही ध्यान करते भये । इनके ध्यानके प्रभावसे सिंह व्याघ्रादिक शांत-

भावको प्राप्त भये। श्रीस्वामीके ऐसा ध्यान प्रकट भया। तीन ज्ञानके अगोचर श्री सीमधर स्वामी पूर्वले विदेहक्षेत्रके तीर्थंकर तिनका ध्यान स्वामीने शुरू किया। आदिमे समवशरणकी रचना विधिपूर्वक चित्तरूपी महलमे बनाई। ताके बीच गन्धकुटी रची। और बारह सभा सहित रचना बनाय, सिंहासन ऊपर चार अगुल अन्तरीक्ष श्रीसीमन्धर स्वामीको विराजमान देखकर श्री कुंदकुंद मुनि नमस्कार करता भया। वे ही समयमे श्री सीमधर भगवान्ने मुनिराजको धर्मवृद्धि दीनी। तदि चक्रवर्ती आदि महन्तपुरुषोके बडो विस्मय उत्पन्न भयो। अभी कोई इन्द्रदेव या मनुष्य कोई भी आया नही। और स्वामीने धर्मवृद्धि दीनी ताका कारण कहा। तदि महापद्म चक्रवर्ती आदि सब ही राजा उठकर स्वामीको नमस्कार कर पूछते भये। भो सर्वज्ञ देव या धर्मवृद्धि आप कौनको दीनी। ये वचन सुनकर स्वामीने दिव्यध्वनिसे व्याख्यान किया कि हे महापद्म! भरतक्षेत्रके आर्यखडमे रामगिरी पर्वतपर श्री कुंद-कुंद मुनि तिष्ठे है उनने अभी मन, वचन, कायकी शुद्धता कर मुझे नमस्कार किया तदि धर्मवृद्धि दीनी। ऐसा वचन स्वामीका सुनकर सब लोकोंके अचरज हुओ। भो भगवान् आपकी दिव्यध्वनि पहले हमने सुनी थी कि भरतक्षेत्रादिकके दशक्षेत्रमे धर्मका मार्ग नहीं। पाखण्डी है। जैनधर्मको नाममात्र जानता नही। विपरीत मार्ग चालेगा। पाखण्डी लोगोकी मान्यता ज्यादा होगी। गुरुद्रोही लोग हो जायेंगे। स्वकल्पित ग्रन्थ वाचेंगे। अनेक पाखण्ड चलेंगे। जिनराजका मार्ग आगिया समान कहीं-कहीं दिखेगा। पाखण्डीके मठ जगह-जगह् (जागा-जागा) पायेगा। व्यन्तरादि देवनिका चमत्कार प्रतिभासेगा। स्व स्व धर्मको छोड करि सर्व ही लोग उन्मत्त मार्गमे लगेंगे। अब ऐसा ऋद्धिधारी मुनिराजका नाम सुन्या सो हमारे बडो आश्चर्य है। तदि केवली वर्णन करते भये—ऐसे मुनि-राज तिष्ठे होते हैं। आगियाका चमत्कारवत् होते रहेगे। आर्यखण्डमे वे स्वर्गवासी देवका जीव है। या सभामे रविप्रभ नामका देव है उनका वह अगले भवका भाई है। ऐसा शब्द होते ही दोय देव श्रीभगवान्के निकट आये। नमस्कार कर सकल व्याख्यान पूछते भये। और मुनिराजका दर्शन करने वास्ते रामगिरी पर्वतपर आवते भये। ता समय रात्रि थी। तदि मुनिराजको नमस्कार कर बैठ गये। मुनिराज बोले नहि। मुनिके शिष्य वहाँपर बिना ध्यान तिष्ठते थे तिनका दर्शन भया उनमे ही वार्तालाप हुआ। देवा कहे श्री सीमधर स्वामी इनको धर्मवृद्धि दीनी। तदि हम यहाँ आये। और स्वामी बोलते नही सो हम भगवान्के समोशरणमे पीछे जाता है। [जाते है] या कहकर देव भगवान्के समोशरणमे गये। और प्रभातका समय भया। तदि प्रभातका समय भया सब शिष्यननें नमस्कार किया। और रात्रिका सर्व सम्बन्ध श्री सीमधर स्वामी सम्बन्धी सर्व विधिपूर्वक मालूम किया। और कही, दो देव आपके दर्शन करने को आया। आपके दर्शन कर पीछे ही समोशरण सभामे गया। ये समाचार सुनिकर श्री कुंदकुंद मुनि विशेष आनन्दकू प्राप्त भया। और चोडेमे ऐसा शब्द प्रकाशते भये कि अब श्रीसीमधर स्वामीका दर्शन साक्षात् करेंगे तदि आहार आदिक लेवेंगे। या कहकर स्वामी फिर मौन धारण करी। ध्यानमे मग्न भये। ऐसा ध्यान आवे जदी वैसा कारण होय। फिर दो चार दिनमे चित्तकी स्थिरता से ऐसा ही ध्यान प्रकट भया। अर समोशरण बनाया। और साक्षात् श्रीसीमधर स्वामीको नमस्कार करता भया। ये ही समय फिर धर्मवृद्धि भगवान् की हुई और प्रश्न भया। भगवान् कही जो देव गया था (या) सो पाछा आया। अब उनको नियम हुआ कि दर्शन बिना सर्व त्याग है। तदि देवा कही भो स्वामी वे आये नही। तब

भगवान् आज्ञा करी तुम वे समय गए। देव पूछते भये वे समय कौन सा ? तब भगवान् कही। यहा रात्रि होय हे वहा दिन होय हे। वहा रात्रि हे यहा पर दिन हे। सूर्यका गमन ऐसा हे। सो तुम वहा दिवसमे जाओ तो उनका आगमन होवेगा। ऐसा वचन सुनकर वे दोनो मध्याह्न समय आये। मुनिराजका दर्शन हुआ। परस्पर वचनालाप हुआ। देव हाथ जोड नमस्कार कर विनती करी। आप विमानमे विराजो। सीमधर स्वामी का दर्शन करो। या वात सुनकर प्रसन्न हुए। आप विमानमे विराजे। आकाश मार्ग जायता स्वामीके सामायिकका समय आगया तो सामायिक करते वखत पीछी हाथसे गिर पडी अर पवनका वेग अत्यत लागा। तब स्वामी कही हमारा गमन नही। क्योकि मुनिराजका वाना विना मुनिराज पिछाणा नही जाय। तब देव पीछी ढूंढनेका बडा यत्न किया। पीछी पाई नही। तब गिद्ध पक्षीके पख वहाँ पर पडे हुए देवोने देखे। उनको अति कोमल देख पीछी बनाय श्री मुनिराज को सोपी। तदि आप कोमल जान अर धर्मकार्य करने निमित्त अगीकार करी। फिर आगे गमन किया। इस हेतुसे गृद्धपिच्छाचार्य नाम पड़ गया। विदेह क्षेत्रमे जाय पहुँचे। श्रीसीमधर स्वामीका समोशरण मानस्तभकी विभूतिको देखकर प्रसन्न हुए। आप अतरग की शुद्धता धार विमान से उतर भगवान् के समोशरणमे प्रवेश किया। श्री सीमधर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा करी। नमस्कार किया स्तुति करी। अहो तुम्हारी महिमा अगम है। अगोचर है। आप सकलवस्तु सदैव देखो हो। आप जगत् गुरु हो। परमेश्वर हो। आपके नामसे अनेक जन्मके पाप विलय हो गए है। आप केवलज्ञानी सर्व प्रतिभासी हो। आप पूज्य हो। आप ब्रह्म हो। महेश हो। परब्रह्म रूप हो। चतुर्मुख हो। गणधरादिक देव तुम्हारे गुनगान करते थक गए, हमारी कहाँ सामर्थ्य। आज हमारा शरीर सफल भया। आज हमारी मोक्ष भई माने हे। इत्यादि स्तुति कर पश्चात् देव इनको भगवान्की गध कुटीकी कटनीपर चढावते भये। वहाँके मनुष्योका शरीर ५०० धनुष्यका और ये सात (छह ?) हाथके। इस कारणसे उस समय चक्रवर्ती आयो। गधकुटीपर नजर गई। तब कुन्दकुन्द मुनिको अपनी हथेलीमे उठाय विचार करता भया। यह कौन-सा आकार हे। छह खडमे यह आकार नही देखा नही ऐसा आकार कहाँसे आगया। ऐसा आकार कौन-सा हे। तब चक्रधर भगवान्को पूछता भया हे जिनेन्द्र। यह मनुष्यके आकारका कौन-सा जीव हे। तब भगवान्की दिव्यध्वनि हुई। ये भरतके मुनिराज है। तुम पहले धर्मवृद्धिका कारण पूछा था सो यह अब दर्शन निमित्त आये हे। ऐसा शब्द सुनकर चक्रधर प्रसन्न होय मुनिराजको कटनीपर विराजमान किये। नमस्कार करता भया। और मुनिराजका नाम एलाचार्य प्रगट किया। और भगवान्की आज्ञा भई उनको सकल सदेहका निवारणेवाला सिद्धात सिखलाओ और ग्रथ लिखावो। अर कुन्दकुन्द मुनिके जो सदेह था सो भगवान्के पासमे सब निवारण किया। निस्सदेह भये। एक दिन चक्रधर विनती करी। आप आहार करने निमित्त उतरो। तब आप कहा जोग्यता नाही। काहेते ? यहां जब दिन हे तब हमारे क्षेत्रमे रात्रि है। हम वहांके उपजे यहाँ आहार कैसे अगीकार करें। सात दिवस तक मुनिराज वहांपर (विदेह क्षेत्रमे) निराहार रहे। भगवान्की दिव्यध्वनि सुनकर तृप्त रहे। क्षुधा बाधा न देती भई। चार शास्त्र लिखाये। जयोके नाम ये हैं:— मतातर निर्णय ८४०००, सर्वशास्त्र ८२०००, कर्म प्रकाश ७२०००, न्याय प्रकाश ६२००० ऐसे चार ग्रथ लेकर भगवानसू आज्ञा मागी। देव विमानमे बैठालकर रामगिरी पर्वतपर आये। देव अपने स्थानको गए। अब सब ही आज्ञा मानते भये। अगणित

भारतेस्मिन् पुरे वारे स्याते भव्यनृभिर्मते । कुदाह्वो भव्यभावाढ्य श्रेष्ठी श्रेष्टगुणान्वित ॥ १५८ ॥
कुंदा शीलमुभूपाढ्या भविष्यति शुभा प्रिया । तस्य धर्मरतस्यैव नाम्ना स्त्री तिलकोपमा ॥ १५९ ॥
तस्य कुक्षौ सुरे पूज्य कुंदकुंदाभिध. सुत । भविष्यत्यग्रधमस्यं वर्द्धनैकदिवामणि- ॥ १६० ॥
निधनाब्दे स कौमारे पूर्वसंस्कारयोगतः । जिनचंद्रमुनेः पार्श्वे जातरूपं ग्रहिष्यति ॥ १६१ ॥
शब्दशास्त्रकाव्यादीन् सन्निधे स्वगुरो स च । तथा हि मुनिमार्गं च ज्ञात्वा वै नूतनऋपि ॥ १३२ ॥
वरणीभगणाद्रौ न ध्यान स्वर्मोक्षकारणम् । धरिष्यति महाभीमे स्वाघघाताय ह्यात्मवित् ॥ १६३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस भरत क्षेत्रमें भव्य नीतिमान राजासे शासित और प्रसिद्ध वारा नगरमे भव्यात्मा, अनेक श्रेष्ठ गुणोसे विभूपित कुन्द नामका एक प्रसिद्ध सेठ होगा ॥ १५८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उस सेठ की स्त्री का नाम कुन्दलता होगा । जो शीलवती-अतिशय मनोहर अपने पतिको प्रिय और तिलकके समान हृदयहारिणी होगी ॥ १५९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उस कुन्द नामके प्रसिद्ध धर्मात्मा सेठकी महाशीलवती स्त्री कुन्दलताके कूखसे मुख्य दिगम्बर जैनधर्मको वढानेके लिए सूर्यके समान, देवोसे पूजित और दिव्यशक्तिके धारक श्री कुन्दकुन्द नामके पुत्र रत्न उत्पन्न होगे ॥ १६० ॥

अर्थ—हे राजन् ! वह कुन्दकुन्द आठ वर्षीय वालक पूर्वभवके पुण्योदयसे (रामगिरि पर्वतपर) श्री-जिनचन्द्रमुनीश्वरके पास नग्न दिगंवर भगवती जिनदीक्षाको धारण करेंगे ॥ १६१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! वे कुन्दकुन्द नामके वालयती अपने गुरुके समीप शब्दशास्त्र (व्याकरण) काव्य-शास्त्र और अलंकार शास्त्र आदि शास्त्रोंका अभ्यास करेंगे । इस प्रकार मुनिमार्ग (यत्याचार) को भी जान लेंगे ॥ १६२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इसलिये अब उनका विद्याभ्यासका होना वन्द हो जायगा और आत्माके ज्ञाता वे

प्राणियोंको धर्ममार्गमें लगाया । लाखो प्राणियोने श्वेतावर धर्म छुडाय दिगवर किये । धर्ममार्ग प्रवर्त्ताया । हजारो व्रती भये । हजारोंको मुनि कुन्दकुन्द स्वामीका चमत्कारसे संसारसे वैराग्य हुआ और दीक्षा धारण की । कितने ही राजाओने जैनधर्म स्वीकार [illegible] । कुन्दकुन्द स्वामीके सघमे ५९४ मुनियोंकी सख्या हो गई ।

हृत्पकजे यति सोपि ध्यानज्ञ स्मरसोवशी । श्रीसीमधरदेवस्य प्राचिदिग्नायकस्य वै ॥ १६४ ॥
यथाविधि नराधीश सद्मनस्तस्य मोदभृत् । कृत्वा न रचना पश्चात् गाधकुट्या मनोहराम् ॥ १६५ ॥
सस्थाप्य परया भक्त्या तदोपरि मनोहरम् । हरिविष्टर महोत्तुग नानाशोभासमन्वितम् ॥ १६६ ॥
तदोपरि जिनाधीश सोमधरमघापहम् । महाकाय मनोज्ञ च निस्सही निस्सही पुनः ॥ १६७ ॥
जय त्रीणि इति प्रोच्य त्रिप्रभा वै प्रदक्षिणा । साष्टागविधिना पश्चात् नमस्कार करिष्यति ॥ १६८ ॥
तदा हि धर्मवृद्धि च दास्यति तत्र भूमिराट् । चक्रवर्त्यादियो भूपा. श्रुत्वा ता हर्षदायकाम् ॥ १६९ ॥
प्रापूर्वे विरमय पश्चाच्चक्री चानस्य त जिनम् । कोपि नात्र समायातो दत्ता कस्मै त्वया प्रभो ॥ १७० ॥
इत्युत्तर तदा तस्मै सोमधरजिनाधिराट् । दास्यति मगधाधीश तस्य सदेहहानये ॥ १७१ ॥

अपना समय महाभयानक–धरणीभूषण (रामगिरि) नामक पर्वतपर अपने पापोंको नाश करनेके लिए स्वर्ग मोक्षका कारणभूत ऐसा उत्कृष्ट ध्यान लगायेंगे ॥ १६३ ॥

अर्थ—कामदेवको वश करनेवाले और ध्यानकी खूबीको जाननेवाले वे यति श्री कुन्दकुन्द स्वामी अपने हृदय कमलमें यथाविधि समवशरणकी रचना कर उसमें एक मनोहर गधकुटोकी रचना करेंगे । उस गंधकुटीपर अनेक प्रकारकी शोभासे युक्त महोन्नत और सर्वांग सुन्दर ऐसा दिव्य सिंहासन स्थापन करेंगे । उस सिंहासन-पर समस्त प्रकारके पाप पंकको दूर करनेवाले त्रिलोकके ज्ञाता सर्वज्ञ महा मनोज्ञ अनंतगुणोंके स्वामी श्री जिनेंद्र भगवान् पूर्वविदेहके नायक श्रीसीमंधर स्वामीको बड़ी भक्तिसे स्थापन करेंगे । फिर तीन बार निस्सही निस्सही निस्सही ऐसा शब्दका उच्चारण करेंगे ॥ १६४-१६७ ॥

अर्थ—फिर वे कुन्दकुन्द मुनि तीन बार जय-जय शब्दोका उच्चारण कर तीन प्रदक्षिणा देंगे । फिर विधिपूर्वक अष्टांग नमस्कार करेंगे और उधर विदेह क्षेत्रमें सीमन्धर स्वामीकी दिव्यध्वनिमें धर्मवृद्धि होगी । उस धर्मवृद्धिको श्रवण कर चक्रवर्ती आदि अनेक राजा और सभाके देव, मनुष्य आश्चर्यको प्राप्त होंगे । उसी समय चक्रवर्ती प्रभु श्री सीमंधर स्वामीको नमस्कार कर प्रश्न करेगा कि हे स्वामिन् ! इस समय समवशरणकी द्वादश सभामें कोई भी देव, मनुष्य नहीं आया है । आपकी दिव्यध्वनिमें धर्मवृद्धि किसके लिए खिरी ? ॥१६८-१७०॥

अर्थ—उस समय प्रभु सीमंधर स्वामीने चक्रवर्ती आदि महान् पुरुषोंके सन्देहको दूर करनेके लिये कहा ॥ १७१ ॥

तस्याञ्च कारण सर्वं धर्मप्रभावक शुभम् । एकाग्रमनसा त्वच सार्वभोमाधिराट् शृणु ॥ १७२ ॥
अस्मिन् सार्द्धद्वयद्वीपे क्षेत्राः सति मनोहरा । खमुनसोमसख्याड्या भव्याभव्यनृभिर्भृता ॥ १७३ ॥
त्वऋतुचद्रक्षेत्रेपु समयः शाश्वतो मत. । वृद्धिह्रास कदा नास्ति शाश्वतः पुरुपोत्तम ॥ १७४ ॥
धर्मो हि शाश्वतो ह्यत्र नो कुदेवः कुलिंगिनः । नास्त्यत्र मतमन्यद्धि वीतरागमतात्परम् ॥ १७५ ॥
समय. पक्तिक्षेत्रेपु वृद्धिह्लासयुत सदा । वर्तते ऋतुभेदेन स स्वामी ह्याह तान् प्रति ॥ १७६ ॥
भोगभूमिगते तत्र वृपभादिजिनेश्वरा । अतीता मादृशा सर्वे त्वत्तुल्या. पुरुपोत्तमाः ॥ १७७ ॥
अधुना पचम कालस्तत्रैव वर्त्तते खलु । मत्यादिज्ञानहीनागा मर्त्याः कुज्ञानमडिताः ॥ १७८ ॥

अर्थ——भगवान् श्री सीमंधर स्वामीने कहा कि धर्मका शुभ प्रभावका उत्पादक उस धर्मवृद्धिका कारण हे सार्वभौम चक्रेश्वर ! सावधान मनसे श्रवण कर ॥ १७२ ॥

अर्थ——ढाई द्वीप क्षेत्रमें कर्मभूमिके १७० एकसौ सत्तर मनोहर क्षेत्र है जिनमें भव्य-अभव्य बहुतसे मनुष्य रहते हें ॥ १७३ ॥

अर्थ——उनमें १६० एकसौ साठ तो ऐसे क्षेत्र हैं जो सदा सर्वदा शाश्वते रहते हैं, जिनमें कालचक्रके द्वारा परिवर्तन (घटती-बढती) नही होता है। जिन क्षेत्रोमें सदा तोर्थङ्कर परमदेव शाश्वते विराजमान रहते है ॥१७४॥

जिस विदेह क्षेत्र (एक सौ साठ क्षेत्र) में कुदेवोका प्रकाश सर्वथा नही है, न कुलिंगी गुरु ही किसी भी कालमें होते हें । वहांपर सदेव एक जिनधर्म ही शाश्वता धर्म रहता है । अन्य धर्म नही रहता ॥ १७५ ॥

अर्थ——श्री सीमंधर स्वामीने चक्रवर्ती आदि भव्यजीवोंको कहा कि भरत और ऐरावतमें छह समयके कारण वृद्धि और ह्रास होता है ॥ १७६ ॥

अर्थ——भरत ओर ऐरावतमे भोगभूमिका चक्र नष्ट होनेपर वृषादि चतुर्विंशति तीर्थंकर मेरे समान पुरुषोत्तम हो गये । और तेरे (चक्रवर्तीके) समान चक्रवर्ती भी हो गये ॥ १७७ ॥

अर्थ——हे चक्रिन् ! इस समय भरतक्षेत्रमें पंचमकाल प्रकट हो रहा है । जिससे वहांके जीव बुद्धिहीन और कुज्ञानी हो रहे हैं ॥ १७८ ॥

श्रावकाश्च क्रियाहीना यत्याचारपरान्मुखाः । मुनीश्वरा नराधीश यत्रत्या यत्र निश्चयात् ॥ १७९ ॥
यत्र भूपा हि धर्मस्य नाशका वा द्विजा खला । वर्तंते भो धराधीश कालदोषप्रभावत ॥ १८० ॥
ह्यधुना जिनधर्मस्य धारक स्वर्गजो मुनि । कुन्दकुन्दसमाख्यातो ध्यानमात्रपरिग्रह ॥ १८१ ॥
धरणीभूपणाद्रौ हि ध्यानलीनो हि मा स च । भक्तिपूर्वं कृतो भूप नमस्कारस्ततो मया ॥ १८२ ॥
धर्मवृद्धि- प्रदत्ता हि तस्मै शुद्धात्मने वरा । इति श्रुत्वा समालोकाश्चक्रवर्त्यादयो घना ॥ १८३ ॥
महद्धर्षं च संप्रापु कृत्वा च विस्मय हृदि । ह्यधुना भारते क्षेत्रे ऋषि स्याच्चेदृशो महान् ॥ १८४ ॥
देवेंद्रा निर्जरा- सर्वे भूमिपाश्च यतीश्वरा- । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य तस्मै कुर्वंति तदा ॥ १८५ ॥
प्रभो केनाप्युपायेन तस्य चागमन भवेत् । तदा श्रीमज्जिनाधीश- कारण ध्वनिनावदत् ॥ १८६ ॥

अर्थ---हे चक्रधर ! पंचमकालमें वहाँके श्रावक क्रियाहीन होंगे तथा वहाँके यतियोंमें यत्याचारका परिज्ञान नहीं होगा ॥ १७९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचमकालमे भरतक्षेत्रके राजा गण ही धर्मके नाशक होंगे । और ब्राह्मण लोग जैनधर्मका द्वेष करनेवाले क्रूर स्वभाव वाले होंगे ॥ १८० ॥

अर्थ---चक्रधर, इस पंचम कालके भरत क्षेत्रमे अब भी स्वर्गसे अवतार लेनेवाले, जिनधर्मके धारक ध्यान मात्र परिग्रहको धारण करनेवाले महा प्रभावशाली कुन्दकुन्द नामके मुनिने धरणीभूषण नामके पर्वतपर ध्यानमे संलीन होकर मेरा (सोमंधर स्वामीका) एकाग्र मनसे चिंतवन किया है और भक्तिपूर्वक मुझे (सीमंधर भगवान्को) नमस्कार किया है । अतएव मेरी दिव्यध्वनिमें स्वभावरूपसे उस शुद्धात्मा कुन्दकुन्द मुनिराजको धर्मवृद्धि प्रकट हुई है । श्रीसीमंधर स्वामीसे इस बातको सुनकर द्वादश सभामें स्थित सपूर्ण भव्यजीव आश्चर्यको प्राप्त हुए । और विचार किया कि अब भी भरत क्षेत्रमे ऐसी दिव्य विशाल शक्तिके धारक महान् तपस्वी मुनि है ? तत्काल ही समस्त इन्द्र, देव, मनुष्य और चक्रवर्ती आदि राजाओंने कुन्दकुन्द मुनिराजको अपने दोनों हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया ॥ १८१-१८५ ॥

अर्थ---सीमंधर स्वामीको उसी समय किसीने पूछा कि हे प्रभो ! उन मुनिराजका आगमन यहाँपर किसी प्रकार हो सकता है । तब सीमंधर स्वामीने दिव्यध्वनिके द्वारा कहा ॥ १८६ ॥

रविकेतुस्तथा चन्द्रकेतुर्द्वौ निर्जरौ वरौ। पूर्वमित्रे मुनीन्द्रस्य प्रेषणीयौ तदा भवेत् ॥ १८७ ॥
चामरौ पूर्वसंबधं श्रुत्वा नत्वा जिनेश्वरम्। आगमिष्यतो राजेन्द्र तदानयनसिद्धये ॥ १८८ ॥
आयास्यतश्च तौ रात्रौ दृष्ट्वा मौनीश्वर वरम्। ध्यानमग्न महाशात नत्वा तत्पादपंकजम् ॥ १८९ ॥
त्र्युर्वै नैव रात्रौ च ध्यानस्था हि यतीश्वरा.। स्थित्वा कियत्प्रम काल पश्चात्तत्रैव यास्यत. ॥ १९० ॥
प्रभाते तस्य शिष्या हि कथयिष्यति रात्रिजम्। निर्जरौ द्वौ समायातौ स्वामिन् ते दर्शनाय वै ॥ १९१ ॥
अस्यावा पूर्वजो मित्रे कथयित्वा चतौ गतौ। सीमधरसभास्थानादागतौ वै तदाप्तये ॥ १९२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस सभामें बैठे हुए रविकेतु और चन्द्रकेतु नामक दो देव श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके पूर्व भवके मित्र हैं। (अर्थात् कुन्दकुन्द मुनिराजका जीव स्वर्गसे चयकर आया है सो स्वर्गके दो देव जो सीमंधर स्वामीकी सभामें बैठे हुए हैं वे दोनो ही उनके मित्र हैं।) ये दोनों उनको यहाँपर ला सकते हैं ॥ १८७ ॥

अर्थ—वे दोनो देव अपना संबंध श्रवण कर तत्काल हो श्रीसीमंधर स्वामीको नमस्कार करेंगे और वे धरणीभूषण पर्वतपर उनको (कुन्दकुन्द स्वामीको) लेनेके लिए आवेंगे ॥ १८८ ॥

अर्थ—वे दोनो देव रात्रिमें वहाँपर (कुन्दकुन्द मुनिराजके पास) आवेंगे। उस समय यहाँ शात मुनिराज मौनमें स्थित ध्यानमें संलग्न होगे। वे देव उन मौनी मुनीश्वरके चरणकमलको नमस्कार कर कुछ कालपर्यंत बैठेंगे ॥ १८९ ॥

अर्थ—मुनीश्वरोंके रात्रिमें नियमसे मौन व्रत होता है। अतएव कुन्दकुन्द स्वामीके भी मौन व्रत होगा। और वे मौन व्रत सहित ध्यानमें लवलीन होगे। इसलिये देवोंको यह मालूम होगा कि मुनीश्वर बोलते ही नहीं। अब यहाँपर बैठे-बैठे क्या करेंगे; चलो पीछे चलेंगे, ऐसा विचार कर वे दोनो ही देव वहाँसे पीछे चले आएँगे ॥१९०॥

अर्थ—हे राजन् ! प्रातःकाल श्री कुंदकुंद स्वामीके शिष्य, स्वामीसे रात्रिके समयमें देवोंके आनेका जो वृत्तान्त हुआ था उसे कहेंगे। और यह भी कहेंगे कि वे देव श्रीसीमंधर स्वामीकी द्वादश सभामेंसे आये थे। आपके पूर्व भवके मित्र थे। और आपके दर्शनके लिए आये थे। परतु आपको मौनी देखकर पीछे चले गये ॥१९१-१९२॥

६

तदास्मात्सर्ववृत्तात श्रुत्वा योगीश्वरोऽपि स. । करिष्यत्येव तत्रोच्चैर्दुर्घटं नियम तदा ॥१९३॥
यावन्मे दर्शनप्राप्तिः न भवेत्तस्य निश्चयात् । वेदप्रमस्य न्यादस्य त्यागः स्यान्नात्र सशयः ॥१९४॥
निर्जरौ तौ समागत्य तत्रापृच्छ्य जिनेश्वरम् । ज्ञात्वा तत्कारण भूप चायास्यत पुनश्च तौ ॥ १९५ ॥
अत्र रात्रिर्दिवा तत्र रवेर्भ्रमणतः खलु । विपर्यय च जानीहि सदा नैवात्र सशय ॥ १९६ ॥
वासरे तौ समागत्य नत्वा तत्पादपकजम् । प्रकथ्य सर्ववृत्तात तदग्रे तौ च स्थास्यतः ॥ १९७ ॥
तदविमाने समासह्य यास्यति स मुनीश्वर. । केवल धर्मकार्यार्थं पूर्वपुण्येन प्रेरित ॥ १९८ ॥

अर्थ––अपने शिष्योंसे उपर्युक्त वृत्तांतको सुनकर श्री कुंदकुंद स्वामी तत्काल 'जबतक मुझे श्रीसीमंधर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन न होगा तबतक मेरे चारों ही प्रकारके भोजनका सर्वथा त्याग है ।' इस प्रकारका बड़ा भारी दुर्घट नियम करेंगे ॥ १९३-१९४ ॥

अर्थ––हे राजन् ! उधर देव पीछे लौटकर सीमंधर भगवान्‌के समवशरणमे जायेंगे और वहाँपर श्री सीमंधर स्वामीको नमस्कार कर पूछेंगे कि हे स्वामिन् ! वे मुनिराज यहाँपर क्यों नहीं आये ? स्वामीजी अपनी दिव्यध्वनि द्वारा कहेंगे कि—॥ १९५ ॥

अर्थ––हे देवगण ! कुन्दकुन्द स्वामी मौनस्थ क्यों रहे और तुम्हारे साथ क्यों नहीं आये। इसका कारण यह है कि जब यहाँपर दिवस होता है तब वहाँपर [भरतक्षेत्रमें] रात्रि होती है । क्योंकि सूर्यके भ्रमणसे काल-का परिवर्तन होता है। इसलिए रात्रिमें मुनि बोले नहीं और तुम्हारे साथ आये भी नहीं। समयकी विपरीतता ही इसका मूल कारण है ॥ १९६ ॥

अर्थ––फिर वे देव दिवसमे (भारतमें जब दिवस था) आयेंगे और मुनिराजको नमस्कार कर और सर्व वृत्तांत कहकर स्वामीके सामने बैठ जायँगे ॥ १९७ ॥

अर्थ––वे कुन्दकुन्द स्वामी उन देवोके विमानमें बैठकर विदेह क्षेत्र जायेंगे । वे मुनिराज पूर्व पुण्यसे प्रेरित होकर केवल धर्म कार्यकी सिद्धिके लिए ही विदेह क्षेत्रको विहार करेंगे ॥ १९८ ॥

आगे ग्रन्थकार उस कथनके अनुसार स्वयं वर्णन करते हैं ।

भूधरान् जिनसद्माढ्यान् नानाश्चर्यान् मुनिश्च सः। चकार गमन चाभ्रे पश्यन् हि सकला महीम् ॥१९९॥
विभोरास्थानमाराच्च दृष्ट्वा यानाच्च तै. सह। उत्तीर्यानंदसयुक्तो विवेश शर्मदायकम् ॥ २०० ॥
मदने नददे तस्य चकार सुरनिर्मिते। यातायातनृदिभर्युक्तेऽच्युतोपमविराजिते ॥ २०१ ॥
निस्सही त्रीणि त्व नाथ जय त्रीणि दयापते। इत्यादिशुभशब्दौघान् कुर्वन् वै यतिराट् वरान् ॥ २०२ ॥
तप्तहाटकसादृश्य सभाद्वादशमडितम् । महाकाय महातेजः शाम्यरूपमनौपमम् ॥ २०३ ॥
जातरूपधर धीरमनिमेप निरामयम् । दात सार्वं मनोहार निराभरणभास्वरम् ॥ २०४ ॥
प्रातिहार्यादिभूत्योपलक्षित रागवर्जितम् । वमुचद्रमहादोपवर्जिताग निरौपमम् ॥ २०५ ॥
पद्मासनसमासीन शतेन्द्रपूजित वरम् । वेदाग्न्यतिशयैर्युक्त कोटिमार्तंडयुतप्रभम् ॥ २०६ ॥
तारक हारक शुद्ध सीमधर जिनेश्वरम् । ईदृश सर्ववेत्तार हरिविष्टरसस्थितम् ॥ २०७ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीने विमानमेंसे हिमालयादि पर्वतोपर विचित्र शोभायुक्त कृत्रिम जिन मदिरोंको देखते हुए और सम्पूर्ण पृथ्वीको विचित्र शोभाको देखते हुए आकाशमें विहार किया ॥ १९९ ॥

अर्थ—श्रीसीमधर तीर्थंकरका समोशरण समीप आया हुआ देखकर श्री मुनि कुन्दकुन्द उन दोनों देवोंके साथ विमानसे नीचे उतरे और उन्होने सुख देनेवाले समोशरणमें प्रवेश किया ॥ २०० ॥

अर्थ—वह सीमन्धर स्वामीका समोशरण अतिशय आनन्दका प्रदाता देवो कर निर्माण किया हुआ और मनुष्योंके आवागमनसे खचाखच भरा हुआ स्वर्गके समान शोभा दे रहा था ॥ २०१ ॥

अर्थ—मुनि कुन्दकुन्द स्वामीने समोशरणमें निस्सही निस्सही निस्सही इस प्रकार तीन वार शब्दोंको उच्चारण कर जय जय जय शब्दोको बोलकर प्रवेश किया ॥ २०२ ॥

अर्थ—तपाये हुए सुवर्णके समान देदीप्यमान शरीरको धारण करनेवाले, द्वादश सभासे विभूपित, विशाल कायसे मण्डित, महातेजस्वी, साम्यरूप, अनुपम, जातरूप (दिगम्बर) धीर वीर, नेत्रोके टिमकार रहित, रागरहित, दांत, सर्व जीवोंके हितकारक, मनोहर, विना ही आभूषणोके सुशोभित, सूर्यसे भी अधिक प्रभावाले, प्रातिहार्यादि विभूतिसे मडित, रागरहित, अठारह दोपरहित, निरुपम, पद्मासन विराजे हुए सौ इन्द्रोसे पूजित, चौंतीस अतिशय युक्त, ससारके तारक, महा मनोज्ञ, परमविशुद्ध, सर्व तत्त्वोंको जाननेवाले, सर्वज्ञ,

आवालब्रह्मचर्यस्थ शकर शरणार्थिनाम् । मुक्तिकातावर सिद्ध भव्याना सिद्धिकारकम् ॥ २०८ ॥
सभाद्वादशगर्भस्थ तत्र सकलनददम् । सार्द्धाग्निकरदेहाढ्या वेदाननावभूषितम् ॥ २०९ ॥
चतुरगुलगस्पृश्य भ्राजमान महोज्वलम् । स मुनि कुन्दकुन्दाख्यो ददर्श त मुदान्वत. ॥ २१० ॥
अतोमध्योर्ध्वभ्रगणोद्भीनचित्तो मुनीश्वर । त्रीश्च प्रदक्षिणा भावात् ददौ स्वस्याघहानये ॥ २११ ॥
कृतार्थं मन्यमान स्व धन्योद्य प्रभुदर्शनात् । जातोऽस्मि कर्मनिर्मुक्त स मुनिर्मोदनिर्भरः ॥ २१२ ॥
साष्टागेन महानदात् नत्वा तत्पादपकजम् । स पुन. कर्तुमारेभे स्तव तस्य तदाप्तये ॥ २१३ ॥
भव्याभोजरवे त्व हि जय नद जिनाधिराट् । दयाधीश नमस्तुभ्य त्राहि मा शरणागतम् ॥ २१४ ॥

सर्वदर्शी, अनन्त चतुष्टय मंडित, सिंहासनपर विराजे हुए, शरणार्थी पुरुषोंको सुखके करनेवाले, मुक्ति कांताके पति, भव्योंको सिद्धि प्रदान करनेवाले, बारह प्रकारकी सभाके मध्य विराजे हुए, सम्पूर्ण जीवोंको आनन्द प्रदान करनेवाले, अपने हाथसे साढे तीन हाथके शरीरकी ऊँचाईको धारण करनेवाले, चार मुखवाले, सिंहासन पर चार अंगुल अन्तरीक्ष विराजमान, महाउज्ज्वल, परमशांत, निर्विकार, ऐसे श्रीसीमंधर स्वामीको कुन्दकुन्द भगवान्ने देखा ॥ २०३-२१० ॥

अर्थ—मुनिराज श्री कुंदकुंद स्वामीका शरीर ७ हाथका था और विदेह क्षेत्रमें पाँचसौ धनुषका शरीर होनेसे मुनिराजको विचार हुआ कि मैं इतने उच्च विशाल कायके मनुष्योंके मध्य किस प्रकार प्रदक्षिणा दूँ। कदाचित् किसीके नीचे दब गया तो ? इस विचारसे मुनिराज ऊर्ध्व, अधः (नीचे) और मध्य क्षेत्रको देखा फिर उन्होंने भावोंसे पापके नाश करनेके लिए तीन प्रदक्षिणा दी ॥ २११ ॥

अर्थ—प्रभु श्रीसीमंधर स्वामीके दर्शनसे अपनेको कृतकृत्य मानते हुए मुनिराज कुन्दकुन्दने अपनेको धन्य माना और हर्षसे प्रफुल्लित होकर अपनेको कर्म रहित समझ लिया ॥ २१२ ॥

अर्थ—भगवान् श्रीसीमन्धर स्वामीके चरण-कमलोंको महान् हर्षसे साष्टांग नमस्कार कर भगवान्के गुणोंकी प्राप्तिके लिए भक्तिसे प्रभुका स्तवन प्रारम्भ किया ॥ २१३ ॥

अर्थ—हे भव्यकमलोंको प्रकाश करनेके लिये सूर्य ! जयवत हो, नंद, चिरंनंद, हे जिनाधिराट्, हे दयाधीश आपको नमस्कार है । हे प्रभो मुझ शरणागतकी रक्षा करो ॥ २१४ ॥

वीतराग महादेव नमस्तुभ्य चिदात्मने । निर्विकार जिनाधीश पूज्यपाद नमोस्तु ते ॥ २१५ ॥
भवसिंधोर्महावीर तारय तारक प्रभो । त्वदृते कः समर्थोस्ति भवदुःखविघातने ॥ २१६ ॥
द्रव्याढ्योऽपि च निर्द्रव्य करोति स्वात्मसदृश । त्वत्तुल्य मा जिनादित्य कि न करोपि दीनराट् ॥ २१७ ॥
मिथ्याधतमसो नाश कुरु कर्मारिणा विभो । शुद्धरत्नत्रयप्राप्तिर्भवतु नव दर्शनात् ॥ २१८ ॥
यदहोपार्जितोनत क्षयमस्तु तदप्यहो । शिवदा निर्जरा मेस्तु सर्वेपा कर्मणा प्रभो ॥ २१९ ॥
अनतानतसमये भ्रमितोऽपि जिनेश्वर । नालोकितो हि त्व देव मया मोहितचेतसा ॥ २२० ॥
किंचित् मोहप्रघातेन मया त्व केवलेक्षण । ईक्षितोपि दयाधीश अद्य सुमतिधारक ॥ २२१ ॥
त्राहि तीर्थेश भो स्वामिन् चाद्य मोह च मे हन । स्मरारे भो सरोजाक्ष कर्मसताननाशक ॥ २२२ ॥

अर्थ—हे वीतराग ! हे महादेव ! हे चिदात्मा सीमधर स्वामी, आपको नमस्कार है । हे निर्विकार, हे जिनाधीश, हे पूज्यपाद आपको नमस्कार है ॥ २१५ ॥

अर्थ—हे महावीर सीमधर देव ! हे तारक प्रभो ! मुझे संसारसमुद्रसे पार करो । आपको छोड़कर अब कोई भी ससारके दुःखोंका नाश करनेके लिये समर्थ नहीं है ॥ २१६ ॥

अर्थ—लोकमें ऐसा देखा जाता है कि धनाढ्य लोग अपनी भक्ति करनेवालेको अपने समान धनवान् बना लेते हैं । तो हे प्रभो, हे दीनानाथ ! आप मुझ दीनको अपने समान क्यो नही बनाते ? ॥ २१७ ॥

अर्थ—हे विभो ! मिथ्यात्व अंधकारका नाश करो । और कर्मरूपी शत्रुओका भी नाश करो । हे प्रभो आपके पवित्र दर्शनसे शुद्ध रत्नत्रयकी प्राप्ति हो ॥ २१८ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो मैंने अनादिकालसे अनंत पाप उपार्जन किये है उनका नाश हो । और मोक्षको प्रदान करनेवाली समस्त कर्मोंकी निर्जरा हो ॥ २१९ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! मै अनन्तानन्त संसारमें चिरकालसे भ्रमण करता फिरा परन्तु मुझ मोहीको आज तक आपके पवित्र दर्शन नही हुए ॥ २२० ॥

अर्थ—हे प्रभो ! आज मेरे मोहका उदय किंचित् प्रघात हुआ है इसलिए मुझको आज आपके पवित्र दर्शन प्राप्त हुए हैं । हे केवलज्ञानिन् ! हे जिनराज ! सुमतिको धारण करनेवाले हे तीर्थेश ! हे स्वामिन् ! हे कर्मसंताननाशक ! हे स्मरारे ! आज मेरा मोहकर्म नाश कीजिए और मेरी रक्षा कीजिए ॥ २२१-२२२ ॥

गुणानां नैव पारोऽस्ति ते प्रभो रत्नराशिवत् । अब्धौ यथा निरालंब देहि मां स्वपदं वरम् ॥ २२३ ॥
सीमंधर जिनाधीश शरणागतवत्सल । महापूज्य महाभाग पाहि मां भवत खलु ॥ २२४ ॥
चित्तसंदेहनाशं मे कुरु त्वं चित्तभाववित् । त्वदृते नैव हानि स्यात् सागरस्य दयापते ॥ २२५ ॥
इत्यादिशुभनामौघैः स्तुत्वा तीर्थाधिपं स न । मुहुर्मुहु प्रणम्योच्चैर्विनम्रो भवितमाञ्जित. ॥ २२६ ॥
पश्चात्सर्वमुनीन्द्रौघान् नत्वा नानर्द्धिमण्डितान् । तैर्दत्तमाशिषं लब्ध्वा मनसि चिंतयेदिति ॥ २२७ ॥
अत्र सर्वे नरा अभ्रखपनचापकायभा. । मे तनुर्मुनिमात्रो हि क्व तिष्ठामि सभावनी ॥ २२८ ॥
क्व इमे भूधराकारा' क्व तनुर्मे लघुरियम् । अतो हि स्वामिपीठाधोभागे बाधाविवर्जिते ॥ २२९ ॥

अर्थ—जिसप्रकार समुद्रमें रत्नराशिका पार नहीं है उसी प्रकार हे प्रभो ! आपके अचिंत्य गुणोंका पार नहीं है । और जिस प्रकार समुद्रमें निरालंबता है उसीप्रकार संसार समुद्रमें आपके सिवाय सर्वत्र निरालंबता है । इसलिए हे नाथ आप अपना उत्तम पद मुझे दीजिए ॥ २२३ ॥

अर्थ—हे सीमंधर प्रभो, हे जिनाधीश, हे शरणागतवत्सल, हे महापूज्य ! हे महाभाग इस संसारसे मेरी रक्षा करो ॥ २२४ ॥

अर्थ—हे मेरे चित्तके अभिप्रायोंको जाननेवाले मेरे मनके संदेहको दूर करो । हे दयानिधे आपके सिवाय अन्य किसीसे यह कार्य हो नहीं सकता है ॥ २२५ ॥

अर्थ—इस प्रकार तीर्थंकर सीमंधर प्रभुकी मनोहर स्तोत्रों द्वारा स्तुति कर और भक्तिसे प्रभुको बारंबार नमस्कार कर वे मुनिराज बहुत ही नम्र हुए ॥ २२६ ॥

अर्थ—फिर सभामें विराजे हुए अनेक ऋद्धियोंसे मंडित समस्त मुनीश्वरोंको नमस्कार कर और उनके दिये हुए शुभाशीर्वादको प्राप्त कर मुनिराज कुन्दकुन्द स्वामी अपने मनमें यह विचार करेंगे ॥ २२७ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीने विचार किया कि इस सभामें विराजे हुए समस्त मनुष्योंका शरीर पांच सो धनुष ऊँचा है । और मेरा शरीर मात्र ७ हाथका ही है इसलिये मनुष्यके कोठे में कहां बैठू ? ॥ २२८ ॥

अर्थ—यहांके मनुष्य तो पर्वतके समान विशालकाय हैं । और मेरा शरीर एकदम लघु है । यदि मैं इन मनुष्योंके मध्य बैठा तो अवश्य ही दब जाऊँगा इसलिये मनुष्योंके कोठे में बैठना उचित नहीं । ऐसा

तिष्ठामि चेति सकल्पाच्चातिष्ठत् तत्र योगिराट् । तस्मिन्नेव वरे काले चक्री आयातवान् खलु ॥ २३० ॥
वदनावमरे चक्री दृष्ट्वा त च करे मुदा । गृहीत्वाऽचिंतयच्चित्ते कोयं कोयमहो खलु ॥ २३१ ॥
नग्नो व कु डिकाकेकोपिच्छेन मंडित वरम् । एतादृगो मया क्वापि न दृष्ट. सकलावनौ ॥ २३२ ॥
पुरुपाकारसयुक्त तुच्छकायोऽपि सुन्दर. । सन्निधे वीतरागस्य ह्यत्र किं कारण महत् ॥ २३३ ॥
मनसि चेति सध्यात्वा भूमिराट् स जिनेश्वर । नत्वा स्तुत्वा पुनः प्राख्यत् चित्तद्वापरहानये ॥ २३४ ॥
त्रिकालज्ञ दयाधीश कोयं भो भूतभाविवित् । चेदृशोहि मया भूतो नैव दृष्ट क्वचिदपि ॥ २३५ ॥
तदेत्थमाह भो चक्रिन् मेघगभीरया गिरा । शृणु पूर्वं हि यत्प्रोक्तं सोस्ति भारतजो मुनिः ॥ २३६ ॥

विचार कर समस्त प्रकारकी वाधासे रहित भगवान्‌की वेदीके नीचे, बैठनेका विचार कर वे श्री कुन्दकुन्द स्वामी भगवान्‌की वेदीके नीचे बैठ गये। इतनेमें ही वहाँ पर चक्रवर्ती भी भगवान्‌के दर्शन करनेको आया ॥ २२९-२३० ॥

अर्थ—श्री सीमंधर स्वामीकी वंदना करते समय स्वामीकी वेदीके नीचे बैठे हुए कुन्दकुन्द मुनिको देख कर और कौतुकसे अपने हाथपर रखकर यह कौन है? यह कौन है? इस प्रकार हर्षसे विचार करने लगा॥२३१॥

अर्थ—मुनिराज कुन्दकुन्द स्वामीको अपने हाथमें रखकर चक्रवर्तीने विचार किया कि यह नग्न है और कमंडलु तथा मयूर पीछी लिए हुए है। ऐसा जीव तो मैंने सारे संसारमें नही देखा ! यह देखो यह पुरुषाकार है परन्तु अत्यंत तुच्छ काय है तो भी देखनेमें परमसुन्दर है। यह श्री भगवान्‌के समवशरणमें कहाँसे आया ? और यहाँपर आनेका कारण क्या है ? चक्रवर्तीने ऐसा अपने मनमें विचार कर और श्रीजिनेन्द्रदेव श्रीसीमंधर भगवान्‌को नमस्कार कर अपने संदेहको दूर करनेके लिए पूछा ॥ २३२-२३४ ॥

अर्थ—हे त्रिकालज्ञ ! हे दयाधीश ! हे भूतभाविवित् । यह मेरे हाथपर रखा हुआ कोन-सा प्राणी है। ऐसा प्राणी तो मैंने कभी कहींपर देखा नहीं है ॥ २३५ ॥

अर्थ—तब स्वामी सीमंधरने मेघ समान गंभीर वाणीसे कहा कि हे चक्रधर सुन । प्रथम जिसको मैंने दिव्यध्वनि द्वारा धर्मवृद्धि दी थी वही यह भरतक्षेत्रका मुनिराज है ॥ २३६ ॥

विभोर्वाचमिति श्रुत्वा भूमीशोऽपि तदा मुदा । भक्त्या तत्पादपद्माग्र नत्वा तुष्टो बभूव स. ॥ २३७ ॥
मुहुर्निरीक्षण कृत्वा पश्चात्त स्वामिन. पुर. । मोदेन स्थापयामास तुच्छकायभयात्स च ॥ २३८ ॥
वीतरागमुखोद्गीतामनेकान्तमयी वराम् । सिद्धातगर्भिता शुद्धा भेदाभेदकरा घनाम् ॥ २३९ ॥
नयभेदप्रयुक्ता च सर्वभाषामयी तथा । त्रिकालकथका चैव पुरुषार्थप्रपादकाम् ॥ २४० ॥
इत्याद्यनेकभेदाढ्या दिव्यवाणी च स मुनि । श्रुत्वा हृदि धनानदमाप तत्समये वरे ॥ २४१ ॥
पुन प्रश्नमिति चक्रे स्वामिन् तीर्थाधिराट् प्रभो । मिथ्यान्धतमोनाशैकदिवामणि. कृपाधिराट् ॥ २४२ ॥

अर्थ—भगवान् श्री सीमंधर स्वामीके वचनोंको सुनकर चक्रधर अतिशय प्रसन्न हुआ । और कुन्दकुन्द मुनिके चरणकमलोको बारंबार नमस्कार कर परम हर्षको प्राप्त हुआ । मुनिराजको पुनः-पुनः (बारंबार) निरीक्षण कर और ये अत्यन्त लघु काय है, गिर पड़े तो दब जायँगे ऐसे भयसे उसने स्वामीकी वेदीके नीचे हर्षसे रख दिया ॥ २३७-२३८ ॥

अर्थ—श्रीवीतराग-परमदेव श्रीसीमंधर स्वामीके मुखसे प्रकट हुई, अनेकांतमयी, परमोत्कृष्ट, परम सिद्धांतके रहस्यको प्रकट करनेवाली, परम विशुद्ध, अनेक भेद-प्रभेदोसे विभूषित, नयप्रमाणसे युक्त, समस्तभाषामयी, त्रिकालवर्ती पदार्थोंके स्वरूपको एक साथ प्रत्यक्ष प्रतिभास करनेवाली, परमपुरुषार्थके स्वरूपको यथावत् प्रकाशित करनेवाली, समस्त प्रकारके दोषोसे रहित और परम आनंदको प्रदान करनेवाली ऐसी (दिव्यध्वनि रूपी) जिनवाणीको सुनकर वे कुन्दकुन्द मुनीश्वर अपने मनमें अत्यंत हर्षको प्राप्त हुए ॥ २३९-२४१ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द मुनिराजने फिर नीचे लिखे हुए प्रश्न श्री सीमंधर स्वामीसे किये—

हे स्वामिन् ! हे तीर्थाधिराट्, हे प्रभो, हे त्रिकालज्ञ, हे मिथ्यात्वांधकारनाशक, हे ज्ञानके सूर्य, हे कृपालो ! हे नाथ ! भरतक्षेत्रमें समस्त मनुष्य मिथ्यात्वके पोषक क्यों हैं ? नाम मात्रसे (गुणोंसे रहित) हरि ब्रह्मा विष्णु महादेव आदि कुदेवोंकी इतनी बड़ी मान्यता क्यों हुई ? ऐसे मिथ्यात्वी और असत्य देवोंकी मूर्ति कैसे स्थापित हुई ? इसका कारण क्या ? हे प्रभो ! भारतमें सर्वत्र जिनालय क्यों नहीं है । हे नाथ ! भारतवर्षमें परमपूज्य सत्य यथाजात (नग्न दिगंबर) स्वरूपको धारण करनेवाले मुनीश्वर स्वल्प संख्यामें क्यों हैं ? हे देव पाखंड स्वरूपके धारक कुगुरुओंकी बढ़वारी क्यों है ? हे सर्वज्ञ ! अनेक मत मतांतर वहाँपर क्यों हैं ?

भारते नाथ सर्वे हि लोका मिथ्यात्वपोषकाः । हरिब्रह्मादिदेवाना युक्ताना केवलाख्यया ॥ २४३ ॥
दृश्यते दोषमग्नाना मूर्तयोऽपि च भो प्रभो । किमस्ति कारण तत्र सर्वत्र नो जिनालया ॥ २४४ ॥
तुच्छा मुनीश्वरा देव पाखडमतधारका । पुरुषा सधना सति नानाभेदमतातराः ॥ २४५ ॥
श्वेतवासधरा स्वामिन् स्वमतस्थापने रता· मिथ्यात्वपोषका मानमायामात्सर्यसभृता ॥ २४६ ॥
स्वकल्पोक्तप्रयोगेन परवचनचातुरा । स्वेच्छाचाररता क्रूरा मुनिद्वेषा क्रियोज्झिताः ॥ २४७ ॥
जैनग्रथा न दृश्यते यत्र मिथ्यात्वनाशका । तीर्थाधिप त्रिकालज्ञ तस्यैव कारण च किम् ॥ २४८ ॥
मिथ्यात्वका जिनाधीश रामभारतकादय· । ग्रथा हि बहवः सति केवलानर्थसभृता· ॥ २४९ ॥
इत्यादिप्रश्नं स योगी कृत्वा सदेहहानये । मौन कृत्वा पुरस्तस्याऽतिष्ठत् श्रोतु प्रभोर्ध्वनिम् ॥ २५० ॥
तदा सीमधरस्वामी वारिवाहसमागिरा । त प्रत्याह शृणु भव्य एकाग्रमनसा खलु ॥ २५१ ॥
आद्य दैगवर ख्यात सर्वत्रैव महोन्नतम् । मीमासाद्या मता पच ततो जाता ह्यनर्थका· ॥ २५२ ॥
वृषभनाथदीक्षायाः कालात् वीरातिमे खलु । जैनमार्गबहिर्भूताः खाद्याखाद्यविवर्जिता ॥ २५३ ॥

हे प्रभो ! अपने मतके स्थापन करनेमें प्रवीण, मिथ्यात्वका उपासक-मान, माया और मात्सर्यसे परिपूर्ण अपने कल्पित मीठे वचनोंके द्वारा जगत्को ठगनेवाला परन्तु हृदयमें अतिशय क्रूर, स्वेच्छाचारी, सत्य दिगंबर जैन मुनियोसे अन्तरगमें द्वेष रखनेवाला और श्रेष्ठ क्रियासे रहित ऐसा श्वेतांबरी मत कब उत्पन्न हुआ ? हे भगवन् ससारमें सत्य स्वरूपको प्रकट करनेवाले जैनशास्त्र देखनेमें नही आते और मिथ्याशास्त्र बहुलतासे देखे जाते हैं सो क्यो ? हे त्रिकालज्ञ इन सबका कारण कहो । उपर्युक्त प्रश्नावलीको कहकर मुनि कुन्दकुन्द मौनस्थ होकर प्रभुके सामने बड़ी भारी नम्रतासे बैठ गये और अपने प्रश्नोके उत्तरोको सुननेके लिए अतिशय उत्सुक हुए ॥२४२-२५०॥

अर्थ—तब भगवान् श्री सर्वज्ञ प्रभु श्री सीमंधर स्वामी मेघके समान गंभीर वाणीसे बोले कि हे भव्य ! एकाग्र मनसे सुनो ॥ २५१ ॥

अर्थ—हे भव्यवर ! सबसे प्रथम (अनादि निधन) दिगंबर जैनमत ही प्रसिद्ध है । पीछेसे मीमासा आदि मत भी अनर्थके करनेवाले उत्पन्न हुए ॥ २५२ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् वृषभदेवकी दीक्षाके बाद और अंतिम महावीर स्वामी पर्यंत जैनधर्मसे बहिर्भूत और खाद्य-अखाद्यके भक्षणके विचाररहित मिथ्या मत प्रचलित हुए ॥ २५३ ॥

[illegible] जैना [illegible] धर्मनाशकाः ॥ २५४ ॥
[illegible] ॥ २५५ ॥
[illegible] नाशकाः ॥ २५६ ॥
[illegible] विप्राः जैनधर्मस्य करिष्यन्ति विनाशनम् ॥ २५७ ॥
[illegible] बलभद्रेण यज्जातमुक्त [illegible] शृणु ॥ २५८ ॥
[illegible] न करोति धर्मनाशकम् । मोहेन महता नष्टाः सत्वयुक्ता हि मानवाः ॥ २५९ ॥
[illegible] छिनो प्रवञ्चना । कृता च तेन लोकस्य प्रतारणार्थमेव हि ॥ २६० ॥

अर्थ—उन मिथ्यामतोमें अनेक मनोनीत कल्पनाके द्वारा असत्य पदार्थोंको सत्य रूप प्रगट करनेवाले पाखंड रूपके धारक अनेक मत होंगे । जो कि अपने ही धर्मके नाशक १६ भेद रूप है ॥ २५४ ॥

अर्थ—भद्रबाहु स्वामीके पीछे श्वेतांबरमत प्रचलित हुआ । ये श्वेतांबर बड़े कपटी है और अपने हृदयमें सदा सशय रखनेवाले हैं ॥ २५५ ॥

अर्थ—हे भव्य षट्मतों मे भी अपने-अपने मतकी कल्पना से प्रत्येकमें साठ साठ भेद हो जायेंगे । वे अपने-अपने मूल मतके नाशक होंगे ॥ २५६ ॥

अर्थ—कितने ही तो पाखडी हो गये । और कितने पाखंड मतको भविष्यमें फैलायेंगे । और ब्राह्मण लोग जैनधर्मका नाश करनेवाले होंगे ॥ २५७ ॥

अर्थ—हे भव्य अपने छोटे भाईके मोह से कृष्णके बड़े भाई बलदेव के जीव ने जो घोर मिथ्यात्वकी उत्पत्ति की उस वात को श्रवण कर ॥ १५८ ॥

अर्थ—मोही मनुष्य धर्मके नाश करनेवाले कितने अनर्थोंको नही करता है । अरे ! मोहके प्रभावसे बड़ी-बड़ी शक्तिके धारक और महान् ज्ञानसंपन्न मनुष्य भी नष्ट हो जाते हैं ॥ २५९ ॥

अर्थ—उस बलदेवके मोही जीव ने अपने छोटे भाई कृष्णकी प्रसिद्धिके लिये जो प्रपंच रच कर संसारको धोखा दिया वह विचारणीय है ॥ २६० ॥

किं कृत व्योमयानस्थो भूत्वा कृष्णसम खलु । सुरूप सागनायुक्त दध्रे नेत्रमनोहरम् ॥ २६१ ॥
स्वस्य रूप च लोकानामग्रे हि मायया युतम् । दर्शयित्वा पुन सर्वानित्याह सुमतिच्युतान् ॥ २६२ ॥
सर्वशोभासमायुक्त मोहवान् स खलु सुरः । दर्शयन्नतिशयान् लोके स्वस्य प्रत्यक्षमजसा ॥ २६३ ॥
शृणुध्व सकला लोका मद्वाक्य शांतदायकम् । एकाग्रचेतसा शुद्धं श्रवणाच्छिवदायकम् ॥ २६४ ॥
अद्य प्रभृतितो मर्त्यः प्रत्यक्षत्वेन सस्थितः । अस्मिन् लोके पुनश्चाह शृणुध्व यन्मयोदितम् ॥ २६५ ॥
कलियुगस्य दोपेण कलौ चास्मिन् प्रत्यक्षतः । मानवा मे स्थितिं नैव अप्रत्यक्षेण निश्चयात् ॥ २६६ ॥
अतो यूय मा नित्य जपध्व सकलार्थदम् । पूज्यनाथ जगत्पूज्य पूजयध्व च सर्वथा ॥ २६७ ॥
भक्तिरागादिगानौघैः यात्रा कुरुथ मे सदा । महते किमपि नास्ति मा कुरुध्वं परा क्रियाम् ॥ २६८ ॥

अर्थ—हे भव्य ! बलदेवके जीव ने अपने भाईकी प्रसिद्धिके लिये स्वर्ग में से आकर और विमानमे बैठकर अपना स्वरूप देवने माया (विक्रियासे) से कृष्णके समान बनाया और वह सुन्दर स्वरूप स्त्रीसहित और नेत्रोंको प्यारा महा मनोहर बनाया ॥ २६१ ॥

अर्थ—उस बलदेवके जीवने कृष्णके स्वरूपमे (जो मायासे अपना कृष्णका रूप बनाया था) लोगोंके सामने मायापूर्ण दिखलाकर मतिभ्रष्ट जीवोसे कहा। इसके प्रथम सम्पूर्ण शोभायुक्त मोही उस बलदेवके जीवने (देवने) समस्त लोगोको बडे चमत्कार बतलाये जिससे लोग उन चमत्कारो (जो देवने विक्रियासे झूठे किये थे)को सत्य समझकर फँस जांय। और प्रत्यक्ष भी अपना स्वरूप दिखलाकर लोगोको फँसानेका प्रपञ्च किया। इन सब बातोसे बिचारे भोले-भाले जीवोको मिथ्यात्वमें अनन्त संसार बध कराया और सत्य मार्गसे धोखा दिया। उस बलदेवके जीवने मायामयी कृष्णके रूपसे लोगोको कहा कि हे जीवलोकों ! मेरे वचन सुनो जिससे मोक्षकी प्राप्ति आप लोगोको होगी। हे लोगो आज तक तो मैंने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखलाकर सत्यधर्म (जो मोहसे विक्रिया द्वारा कल्पित् और महान् अनर्थका करनेवाला) प्रकट किया परन्तु अबसे मैं प्रत्यक्ष प्रकट नही होऊँगा। कलिके दोपसे ऐसा होना स्वाभाविक है परन्तु आप लोग मुझमें विश्वास कर परोक्ष रूपसे मान्यता करें। इसलिए आप मेरा ध्यान करें, जप करें और मुझे ईश्वर समझ कर पूजन करें। मेरी पूजा करनेसे संपूर्ण शान्ति प्राप्त होगी। भक्तिसे मेरा गान करें। मेरी यात्रा करें। मुझको छोड़कर आप लोग अन्य किसीको नहीं मानें। जो कुछ करना हो सो-सो सब मेरे कहे अनुसार करें ॥ २६२-२६८ ॥

कर्तास्मि पूर्णब्रह्माहं शंकरोऽस्मि जनार्दनः । तारकोऽस्मि नराणां च पालकोऽस्मि धरातले ॥ २६९ ॥
गंगायां मृतकस्योच्चै अस्थीनि भो नरोत्तमाः । गतिकर्तास्मि सर्वस्य क्षेपणीयानि निश्चयात् ॥ २७० ॥
मत्तीर्थे मृतकस्यैव पिंडादिकवरां क्रियाम् । करिष्यति न च तेषां भविष्यत्यसुखं कदा ॥ २७१ ॥
स्नानं मर्त्यश्च मत्तीर्थे तर्पणं पूजनं जपं । करिष्यति भजिष्यति मल्लोकं ते न संशयः ॥ २७२ ॥
पुनः स्वमायया तेन गंगाद्यास्तीर्थाः स्थापिताः । दर्शितातिशयास्तत्र मोहनीयोदयाच्च वै ॥ २७३ ॥
स मोही भ्रातुर्नामाकसंयुक्तां सकलां महीम् । कृत्वा जगाम स्वस्थानं तद्धेतुं विद्धि निश्चयात् ॥ २७४ ॥

अर्थ—इस धरातलमें मै ही सर्व जगत्का कर्त्ता हूँ। मै ही पूर्ण ब्रह्म हूँ। मै ही शङ्कर हूँ। मै ही जनार्दन हूँ। मै ही तारक हूँ और मै ही मनुष्योका पालक हूँ॥ २६९ ॥

अर्थ—मृतक पुरुषोंकी अस्थियाँ (हाड़) गंगानदीमें बहानी चाहिये। यों जो ऐसा करेंगे तो मै उनकी सद्गति करूँगा ॥ २७० ॥

अर्थ—जो पुरुष मेरे तीर्थमें मृतकोंका पिंडदान आदि क्रिया करेगा उसको कभी भी दुःख नही होगा॥२७१॥

अर्थ—जो मनुष्य मेरे तीर्थमें स्नान करेगा, तर्पण करेगा, पूजन करेगा, जप करेगा, मेरा भजन करेगा मै उसको निःसन्देह वैकुण्ठवास करा दूँगा ॥ २७२ ॥

अर्थ—फिर उस बलदेवके जीवने अपनी विक्रिया ऋद्धिसे मायामयी गंगादि तीर्थोंका स्वरूप दिखलाकर उनको स्थापित किया और अतिशय दिखलाकर लोगोको उसकी सत्यता प्रकट की। सच है कि मोहनीय कर्मके उदयसे जीव कितने मायाचार नही करता है? और कितनी प्रवचना नही बनाता है ॥ २७३ ॥

अर्थ—उस महा मोही और पापी बलदेवके जीवने अपने भाईके मोहसे भाईका नाम समस्त पृथ्वीपर प्रकट किया और फिर वह देव (बलदेवका जीव) अपने स्थान पर गया। हे भव्य (कुन्दकुन्द मुनि), भारतमें मिथ्यात्व तबसे ही प्रकट हुआ। तभीसे असत्य एवं कल्पित मत (जिसमें जीव हिंसादि पापोंका विचार नहीं है) प्रचलित हुआ ॥ २७४ ॥

तत. प्रभृतितः सर्वे मूढलोकोत्कराः खलु। मिथ्यामार्गं च स्वीचक्रु प्रत्यक्षफलदर्शनात् ॥ २७५ ॥
पतत्येव यथा गर्ते ह्येकोऽपि नर्णको ऊनु। तदनुसारत. सर्वे उर्णकास्तत्र निश्चयात् ॥ २७६ ॥
तथा मिथ्यात्वगर्ते हि पतिता॰ प्रतिवर्जिताः। एकस्यैव प्रयोगेन मूर्खाणा लक्षण परम् ॥ २७७ ॥
पवित्तक्षेत्रेपु सर्वेपु कालदोपप्रभावत॰। भवति चेदृशा मार्गा मिथ्यात्वरससभृता ॥ २७८ ॥
जिनधर्मरता भव्य! भवति स्वल्पसख्यया। मानवाश्चेतरा॰ क्रूर मिथ्यात्वपालका घना. ॥ २७९ ॥
जिनागमस्य शास्त्राणि चाब्धौ सक्षेपितानि वै। दुष्टलोकै ह्यतो नैव दृश्यते जैनवाक्यजाः ॥ २८० ॥
धरसेनयतीन्द्रेण रचिता धवलादय॰। विद्यते तेधुना तत्र जैनाभिधपुरे वरे ॥ २८१ ॥

अर्थ—हे भव्य तबसे ही मूढ अज्ञानी लोगोने प्रत्यक्ष चमत्कार (देवकी मायामयी विक्रिया) देखकर मिथ्यामार्ग स्वीकार किया ॥ २७५ ॥

अर्थ—हे भव्य जैसे एक भेड गड्ढे में गिर पड़े तो बहुत-सी भेड़ें बिना विचारे ही उस गड्ढेमें गिर पड़ती हैं। उसी प्रकार प्रथम किसी भोले वेसमझ मनुष्यको बलदेवके जीवने अपनी विक्रियासे चमत्कार बतलाया उसपर विचार न कर उसको सत्य समझकर उस मिथ्याकल्पित बातको उसने सत्य माना और उसके देखा-देखी अन्य मनुष्योने विचार न कर उसी बातको स्वीकार किया। इससे समझना चाहिए कि अज्ञानी जीव गतानुगतिक होते है। सच बात तो यह है कि मूर्ख जीवोका यही लक्षण है कि जो बिना विचारे एकके सहारे गमन करें ॥ २७६-२७७ ॥

अर्थ—भरतक्षेत्रमें काल दोपसे ऐसे ही कुमार्ग उत्पन्न होगे। जो मिथ्यात्वको बढ़ाएँगे और जिनमें सत्यता नही होगी ॥ २७८ ॥

अर्थ—भरतक्षेत्रादि क्षेत्रोमें पचम कालके प्रभावसे जैनधर्मके धारक स्वल्प संख्यामें होंगे। परंतु मिथ्यात्व के पालन करनेवाले क्रूर बहुसख्य मनुष्य होगे ॥ २७९ ॥

अर्थ—जिनागमके शास्त्रोको दुष्ट लोग द्वेपके कारण समुद्रोमें प्रक्षेपण कर देंगे। इसलिये जैनशास्त्र बहुत ही कम सख्यामें देखनेमें आयेंगे ॥ २८० ॥

अर्थ—श्री आचार्यवर्य श्रीधरसेन मुनीन्द्रके बनाये हुए धवल-जयधवल-महाधवलादि महान् ग्रंथ अब भी जैनपुर (मूडबिद्री) में विराजमान हैं ॥ २८१ ॥

मिथ्यात्वपोषका भूपा विप्राणा पूजकास्तदा । सर्वलोका तदाधीना अत स्वल्पा जिनालया. ॥२८२॥
वेदकाले नृपा जैनास्तदा प्रजापि तत्समा । तदाहि जैनधर्मोय चाद्भुतत्वेन दृश्यते ॥ २८३ ॥
प्रतिघस्र च म्लेक्षानामुदयस्तत्र हानिर्वै । भविष्यति च धर्मस्य प्रकाश- कुत्रचिदपि ॥ २८४ ॥
ह्यतीतानागतात् वर्तमानजातमर्ववस्तुत । निस्सदेह मुनेश्चित्त चकार स जिनेश्वर- ॥ २८५ ॥
पश्चाद्धि चाभवदेव प्रभोर्ध्वनिर्मनोहर । सिद्धाताना रहस्य चागार्यनगारजा. क्रिया. ॥ २८६ ॥
अद्याप्येनहि योगीन्द्र सर्वसिद्धातसूचकान् । ग्रन्थाश्च लेखयित्वा वै प्रेपणीय तत परम् ॥ २८७ ॥

अर्थ——महामिथ्यात्वके पोषक ऐसे ब्राह्मणलोगोके पूजक राजा लोग हो गये । राजाके आधीन इतर प्रजा होती है सो प्रजा भी राजाके समान हो मिथ्यात्वी ब्राह्मणोंकी उपासक बन गई । इसलिए जैन मंदिर स्वल्पसंख्यामें होते चले गये ॥ २८२ ॥

अर्थ——चौथे कालमे राजा भी जैनी थे और इसीलिए प्रजा भी सब जैनधर्मको धारण करनेवाली थी । इसी कारण उस समय यह धर्म बड़ी अद्भुत उन्नति करता हुआ दिखलाई पड़ता था ॥ २८३ ॥

अर्थ——हे भव्य ! भरतक्षेत्रमें पंचमकालमे म्लेच्छोंका उदय प्रति दिवस बढ़ेगा । इसलिए धर्मकी हानि नियमसे होगी । परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि धर्मका लोप हो जायगा । कही-कही पर धर्मका महान् उज्ज्वल प्रकाश पंचम कालके अंत पर्यंत नियमसे रहेगा । मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुःसंघ रहेगा ॥२८४॥

अर्थ——इस प्रकार त्रिलोकज्ञ श्रीसीमंधर स्वामीने अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा भगवान् कुन्दकुन्द मुनिके भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तुओंसे उत्पन्न हुए सर्व संदेहको निवारण किया ॥ २८५ ॥

अर्थ——फिर प्रभु श्रीसीमंधर स्वामीकी दिव्यध्वनि सिद्धांतोका रहस्य प्रकट करनेवाली और गृहस्थ, मुनियोंके चारित्रका स्वरूप प्रकट करनेवाली हुई ॥ २८६ ॥

अर्थ——समस्त सिद्धांतके रहस्यको प्रकट करनेवाले सिद्धात ग्रन्थ लिखाकर योगीश्वर कुन्दकुन्द स्वामी के साथ भेजना चाहिए ॥ २८७ ॥

इत्याख्यं जिनेन्द्रोऽपि घोषमाप दयार्द्रधीः । प्रभोर्ध्वनिमिति श्रुत्वा सर्वे चानन्दनिर्भराः ॥ २८८ ॥
समाप्य परमं मोद सोपि योगीश्वरस्तदा । तस्थौ तत्र सभास्थाने पठनार्थं समग्रधीः ॥ २८९ ॥
एकदा भूमिराट् चक्रे आहारार्थं मुनिं प्रति । पुरे वै प्रार्थना स्वामिन् विहारं कुरु पावनम् ॥ २९० ॥
सोऽप्याह त्वं न किं विद्धि अत्रहि योग्यता न मे । न्यादस्य भो नराधीश । श्रुत्वेत्याह पुनश्च सः ॥ २९१ ॥
मुने मे कारणं ब्रूहि तस्य द्वापरहानये । तदावदत् मुनिरेवं शृणु त्वं दानवत्सल ॥ २९२ ॥
मत्क्षेत्रे ह्यधुना रात्रि त्वत्क्षेत्रे ह्यधुना दिवा । भारतजोऽप्यहं न्याद कथं कुर्वेऽत्र दोषदम् । २९३ ॥
इत्युत्तरं मुनीन्द्रो हि ददौ तस्मै सहासधीः । सोपि चक्री मुनीन्द्रस्य धैर्यं दृष्ट्वा मुदं गत ॥ २९४ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीजिनेन्द्र भगवान् की घोषणा दिव्यध्वनिके द्वारा श्रवण कर समस्त भव्य जीव आनन्दको प्राप्त हुए ॥ २८८ ॥

अर्थ—भगवान् श्रीसोमंधरकी दिव्यध्वनिको सुनकर मुनि कुन्दकुन्द भी अतिशय आनन्दको प्राप्त हुए। और ग्रंथ पढनेकी इच्छासे गणधरोके समीप सभास्थानमें बैठे ॥ २८९ ॥

अर्थ—एक समय विदेहके चक्रवर्तीने मुनि कुन्दकुन्दसे आहारके लिए नगरमें पवित्र विहार करनेकी प्रार्थना की ॥ २९० ॥

अर्थ—मुनि कुन्दकुन्दने कहा कि हे राजन् ! आप क्या नहीं जानते हैं कि यहाँ पर मेरी भोजन-पान (आहार ग्रहण करनेकी) योग्यता ही नहीं है ॥ २९१ ॥

अर्थ—हे मुनीश्वर ! मेरे सदेहको दूर करनेके लिए आप दया कर कहिये कि यहाँ पर आपकी आहारकी योग्यता क्यों नही है ? मुनिने कहा कि हे दानवत्सल राजन् ! इसका कारण सुन ॥ २९२ ॥

अर्थ—हे राजन् मेरी जन्मभूमि भारत है वहाँपर ही यह जिनदीक्षा मैंने ग्रहण की है। वहाँपर इस समय रात्रि है। यद्यपि इस समय यहाँपर दिवस है परन्तु मेरे हिसावसे रात्रि है। इसप्रकार मैं रात्रिमें भोजन कर नहीं सकता। क्योंकि मुनिचर्यामें यह सबसे भारी दूषण है ॥ २९३ ॥

अर्थ—इसप्रकार मुनि कुन्दकुन्दने उस चक्रीको आहार ग्रहण नहीं करनेका कारण कहा जिसको सुनकर और मुनीन्द्रकी धैर्यताको देखकर चक्री परम हर्षको प्राप्त हुआ ॥ २९४ ॥

प्रशस्य वचनौघैस्त नत्वा स्वस्याकमाप्तवान् । सस्मरन् तद्गुणग्राम शुद्धसम्यक्त्वधारक. ॥ २९५ ॥
कुदकुदगतीद्रोपि प्रभोः पादाब्जपट्पद । सद्व्रती शुद्धधी वाङ्मी स्मरवारणसिंहभ. ॥ २९६ ॥
पपाठ सर्वसिद्धातसूचकान् सन्निधे गुरोः । ग्रथान् बद्धयनुसारेण जैनमार्गप्रवृद्धये ॥ २९७ ॥
सप्ताहानि प्रमाणानि भो भव्या धर्मधी क्षमी । वशी दमी तपस्वी च जिनागमप्रकाशक ॥ २९८ ॥
मोदभाक् शुद्धवाक् तत्र निराहारेण स मुनि । तस्थौ हि धर्मवृद्धयर्थं पूर्वपुण्योदयात्खलु ॥ २९९ ॥
पूर्वपुण्येन जीवाना कार्यसिद्धिश्च सर्वदा । भवेदहो शिवाप्त्यर्थं कुरुध्व पुण्यकारणम् ॥ ३०० ॥
पुण्य श्रीमज्जिनेन्द्राणामभिषेकपुरस्सरा । पूजा न पात्रदान च तीर्थयात्रादय. तपः ॥ ३०१ ॥
इत्याद्यनेकभेदा हि पुण्याना सति निश्चयात् । यदिच्छा शिवस्थानस्य कुरुध्व पुण्यसततिम् ॥ ३०२ ॥

अर्थ---फिर सम्यक्त्वके धारक उस चक्रवर्तीने मुनि कुन्दकुन्द स्वामीको अपने अंक (गोदी)में रखकर उत्तम वचनोंके द्वारा स्तवन किया और उनके गुणोंका स्मरण कर नमस्कार किया ॥ २९५ ॥

अर्थ---प्रभुके चरण कमलोंमें भ्रमरके समान श्रेष्ठ व्रतके धारक शुद्ध बुद्धिके धारक वाङ्मी और कामदेवरूपी हाथीको वश करनेके लिए सिंह समान--- ॥ २९६ ॥

अर्थ---ऐसे उन कुन्दकुन्द मुनिने गुरु गणधरके समीप सिद्धांत ग्रंथोका अध्ययन अपनी बुद्धिके अनुसार जैनमार्गकी वृद्धिके लिये किया ॥ २९७ ॥

अर्थ---हे भव्य धर्मबुद्धिवाले, इन्द्रियोंको वश करनेवाले, महा तपस्वी, शांत जितेन्द्रिय-जिनागमके प्रकाशक, परम आनंदी, विशुद्ध वचनोंके कहनेवाले ऐसे कुन्दकुन्द मुनि वहांपर (विदेह क्षेत्रमें) सात दिवस पर्यंत निहाहार रहे । इसमें एकमात्र पुण्य ही प्रधान कारण है ॥ ॥ २९८-२९९ ॥

अर्थ---हे भव्यजीवो ! पूर्वभवके पुण्यसे ही जीवोंको समस्त प्रकारके कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं । इसलिये मोक्षको प्राप्तिके लिये पुण्य कारणोको संपादन करो ॥ ३०० ॥

अर्थ---हे भव्यजीवो ! श्रीमज्जिनदेवकी पंचामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना, पात्रमें दान देना, तीर्थयात्रा करना, गुरुसेवा करना, जैनधर्मकी रक्षाके लिए जैनधर्मके अन्तरग शत्रुओका नाश करना आदि अनेक कारण पुण्य प्राप्तिके हैं । जो मोक्ष जानेकी इच्छा है तो पुण्य कार्योंको करो ॥ ३०१-३०२ ॥

विदेहक्षेत्रभूमि· क्व भरतस्याचला क्व हि । पुण्योदयेन सर्वांच करस्था इव दृश्यते ॥ ३०३ ॥
दुर्घटं च प्रदूर च दु·प्राप्य वस्तु यत् खलु । तत् सर्वं पुण्यभाजाच स्वयमेवोपजायते ॥ ३०४ ॥
नागा· चाश्वा बुद्धेर्योगो रम्या· पुत्रा द्रव्य धान्यम् । कौशल्य की नित्यं शर्म जायते वै कर्मोद्रेकात् ॥ ३०५ ॥
हिरण्यवारप्राप्तिना तथैव स्वात्मशुद्धता । गुरुप्रसन्नवाक्यता विधेर्भवेच्च मान्यता ॥ ३०६ ॥
विदुषो मैत्री सुस्वरता विधुसमभा धर्मप्राप्तिः । सुन्दरदेहश्चास्मिन् लोके सुपुण्य विना नैवाप्ता स्यु· ॥ ३०७ ॥
ज्ञात्वेत्थ भो बुधा नित्य सर्वशर्मप्रदायकम् । दानपूजाभिषेकाद्यैः कुरुध्व धर्मसततिम् ॥ ३०८ ॥
स मुनिः कुन्दकुन्दाह्वो यत्याचारस्य सूचकम् । ग्रथस्य शिवप्राप्त्यर्थं मिथ्यापथविहानये ॥ ३०९ ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण कृत्वा स्वहृदि धारणाम । अथागमनसिद्धयर्थं गतिं चक्रेच शुद्धधीः ॥ ३१० ॥

अर्थ––हे भव्य ! कहाँ तो विदेह क्षेत्र ? और कहाँ यह भारत क्षेत्रका धरणीभूषण पर्वत? कहाँ श्रीसीमंधर तीर्थंकर और कहाँ पंचमकालीन कुन्दकुन्द मुनि परंतु पूर्व पुण्योदयसे सब कुछ होता है। जो बात अत्यंत दुर्लभ है वह भी अपने हाथ पर रखी हुई के समान दीखती है। दुर्घट, दुष्प्राप्य और असमजस वस्तु भी पूर्व पुण्योदयसे सिद्ध होती है ॥ ३०३-३०४ ॥

अर्थ––हाथी-घोडे, उत्तमबुद्धि, आज्ञाकारी पुत्र, द्रव्य, धन-धान्य, कुशलता और सुख पूर्वपुण्योदयसे सर्व-प्राप्त होता है ॥ ३०५ ॥

अर्थ––सुवर्णकी प्राप्ति, आत्माकी विशुद्धता, गुरुकी प्रसन्नता और लोकमें मान्यता यह सब बात पूर्व-पुण्योदयसे होती है ॥ ३०६ ॥

अर्थ––विद्वानोंसे मित्रता, सुस्वरता, चंद्रसमान कांति, सुन्दर देह और धर्मकी प्राप्ति विना पुण्यके नहीं होती है ॥ ३०७ ॥

अर्थ––इस प्रकार जानकर हे विज्ञ पुरुषो ! सदैव सुखका प्रदान करनेवाली और पुण्यकी उत्पादिका ऐसी जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा, अभिषेकपूर्वक करनी चाहिए। यह सबसे महान् पुण्यका कारण है ॥ ३०८ ॥

अर्थ––मिथ्या मार्गका नाश करनेके लिए और गुरुके बतलाये हुए मार्गकी वृद्धि के लिए यत्याचार के बतानेवाले ग्रन्थको मोक्षकी प्राप्तिके लिए गुरुसे हृदयमें धारण कर कुन्दकुन्द मुनिने वहाँसे अपने देशमें आनेका विचार किया ॥ ३०९-३१० ॥

करौ कुड्मलीकृत्य त्रिप्रमा वै प्रदक्षिणा । सीमधरजिनेन्द्रस्य दत्वा ससारहानये ॥ ३११ ॥
वन्दनेन पुनर्नत्वा नोत्थाय प्रार्थना वराम् । चक्रे विभोर्हि सान्निध्ये महदानदसभृत ॥ ३१२ ॥
जिनादित्य जिनाधीश धर्मचक्राधिराट् प्रभो । निर्विकार निरातक ते पदाब्ज नमाम्यह ॥ ३१३ ॥
कर्मदावाग्निमेघाय पापाद्रिभजने पवे । भवादुद्धारय वीर मा दीन शरणागतम् ॥ ३१४ ॥
त्वा विना क क्षमो देव दातु मोक्षपद वरम् । तूर्णं च देहि त्रस्तोस्मि भवदु खात् कृपापर ॥ ३१५ ॥
रागद्वेषादिषु मग्ना ह्येते सर्वे दयोज्झिता. । कापट्यपूरिता देवा. सावरा सागना. खला: ॥ ३१६ ॥
तस्करा धर्मरत्नस्य त्वानतभवदायका । भवाब्धितारका न स्यु. तेहि मग्ना परान् कथम् ॥ ३१७ ॥
तारकस्त्व हि लोकेस्मिन् नान्यो देवश्च नास्ति वै । वीतरागादृते जीवा नो तरति क्वचिदपि ॥ ३१८ ॥

अर्थ—उस समय कुन्दकुन्द मुनिने अपने दोनों हाथोंको कुड्मलाकार (कमलाकार) बनाकर अपने भाल पर रखा और भक्तिसे सीमंधर प्रभुको तीन प्रदक्षिणा दीं । अष्टांग नमस्कार कर और प्रभुके सामने खड़े होकर महान् आनन्दके साथ प्रार्थना की ॥ ३११-३१२ ॥

अर्थ—हे जिनसूर्य ! हे जिनाधीश ! हे धर्मचक्राधिराट्, हे निर्विकार, हे निरांतक, हे पापाद्रिभंजक पापरूपी पर्वतको नाश करनेके लिए वज्रके समान, हे वीर, आपके चरणकमलको नमस्कार है । मुझ दीन शरणागतका संसारसमुद्रसे उद्धार करो ॥ ३१३-३१४ ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके बिना मोक्षपद देनेको कौन समर्थ है । इसलिए हे कृपापर भवके दुःखोंसे मुझे छुड़ाओ ॥ ३१५ ॥

अर्थ—ये मिथ्यात्वी पाखंडी देव, रागद्वेषसे पूर्ण, दयासे रहित, धर्मरत्नके चोर, अनंतभवके वर्द्धक, महान् पापाचारी, स्त्री परिग्रह और पापारंभसहित और भी अनेक दूषण सहित, संसारसमुद्रसे कैसे तार सकते हैं । जो स्वयं संसारसमुद्रमें डूब रहे है वे दूसरोंको क्या तार सकते हैं ॥ ३१६-३१७ ॥

अर्थ—हे सीमंधरस्वामिन् ! आप ही संसारके तारक हो । आपके सिवाय अन्य किसी भी देव में यह शक्ति नही है । वीतराग अरहंत भगवान् को छोड़कर अन्य देवों मे संसारसमुद्र से तारने की कभी भी शक्ति नहीं है ॥ ३१८ ॥

आशिवं ते सदा भक्तिरस्तु मे चेतसि सदा। शुद्धदृग्ज्ञानव्रतस्य प्राप्ति. पुरुषार्थदा वरा ॥ ३१९ ॥
आराधनाविधानेन मरण कर्मनाशदम्। चित्तशुद्धि जिनाधीश जिनचद्र भवापहा ॥ ३२० ॥
भट्टारक गुणाधीश चानतगुणसागर। पूज्य पूज्येश तीर्थेश नमोस्तु तवाङ्घ्रियो (?) ॥ ३२१ ॥
सर्वज्ञ सर्वदर्शी त्व सार्व. शात शमी दमी। करस्थामलवल्लोक भवान् पश्यन्नपि प्रभो ॥ ३२२ ॥
तथापि न ‖श्रमस्य चाल्पमात्रापि दृश्यते। भवानतः खलु लोके सर्वदर्शी च कथ्यते ॥ ३२३ ॥
ते नमोम्तु विदोपाय चिन्मयाय नमोस्तु ते। गुणभूपाय ते वीर मे नमोस्तु सदात्मने ॥ ३२४ ॥
ते नमोस्तु विमानाय विरागाय नमोस्तु ते। भक्तिवत्सलभूताना तारकाय नमोस्तु ते ॥ ३२५ ॥
मात्सर्यमदमुक्ताय गुरुवीराय ते नम.। आबालब्रह्मरूपाय शिवरूपाय ते नम. ॥ ३२६ ॥

अर्थ—हे प्रभो आपका मुझे यही शुभ आशीर्वाद हो कि मेरे चित्तमें आपकी भक्तिभावना निरंतर बनी रहे। परमपुरुषार्थको प्रदान करने वाली, शुद्ध दर्शन, शुद्धज्ञान और शुद्ध चारित्रकी प्राप्ति भी सदैव बनी रहे ॥ ३१९ ॥

अर्थ—हे जिनाधीश आराधनाकी विधिसे कर्मोका नाश करनेवाला मेरा उत्तम मरण हो, मेरा मन सदैव पवित्र ओर सरल बना रहे जिससे मैं ससारका नाश कर सकूँ ॥ ३२० ॥

अर्थ हे भट्टारक! हे गुणाधीश! हे अनंतगुणसागर! हे त्रिलोकपूज्य! हे तीर्थेश! आपके चरण-कमलको नमस्कार है। प्रभो आप सबके जाननेवाले सर्वज्ञ हो, सबके देखनेवाले सर्वदर्शी हो, सबके हित करनेवाले हो, परम शात हो, जितेन्द्रिय हो, मनको वश करने वाले हो। आप समस्त जगत्के त्रिकालवर्ती पदार्थोंको और उनकी अनतानंत पर्यायोको एक साथ ही हाथके आवलेके समान प्रत्यक्ष अवलोकन करते हो तो भी आपको रचमात्र भी श्रम नही होता है। इस प्रकारकी अद्भुत शक्तिसे ही आपको सर्वदर्शी कहते हैं ॥ ३२१-३२३ ॥

अर्थ—हे भगवन् आप दोपरहित हैं इसलिए नमस्कार है। चिद्रूप स्वरूप भगवन् आपको नमस्कार है। गुणोंके भूपण आपको नमस्कार है। हे वीर शुद्धात्मन् आपको नमस्कार है। हे प्रभो मानरहित, परम वीतराग आपके लिए नमस्कार है। हे प्रभो आप भक्तिमान जीवोको संसारसमुद्रसे तारनेवाले हो इसलिए आपको

भूयुर्म ते गुणा सर्वे चात्मनि मोहकर्मणः। नाशो वै स्मरभूपस्य नैरोग्य सर्वदा तनौ ॥ ३२७ ॥
स्वर्गराज्यस्य वाछा न मे हृदि सर्वदा प्रभो। त्व तिष्ठ नास्ति किंनु वै सर्वपापाग्नितोयद ॥ ३२८ ॥
पुनर्भू यात् प्रभो स्वामिन् दर्शन ते मनोहरम्। त्वदाधीन कुरु मेहि ते नमोस्तु जिनेश्वर ॥ ३२९ ॥
स पुनर्जिनपादाब्ज मुहुर्नत्वा गणाधिपान्। सर्वयोगीश्वरान् भक्त्या लेभे तदाशिषो मुनि ॥ ३३० ॥
गृहीत्वा तैः प्रदत्तानि पुस्तकानि यतीश्वर.। धर्मार्थं न च शर्मार्थं सिद्धातसूचकानि वै ॥ ३३१ ॥
प्रयत्नेन विमाने हि धृत्वा चारुह्य तौ सह। तस्माद्धि चाभ्रमार्गेण चचालामदमोदभृत् ॥ ३३२ ॥
क्षणेन तौ मुनीद्र त तत्स्थाने चित्तनददम्। स्थापयित्वा प्रणम्योच्चैर्लब्ध्वा तदाशिश मुदा ॥ ३३३ ॥

नमस्कार है। हे प्रभो आपमें मात्सर्य नही है। अभिमान नही है। क्रोध नही है। विकार नही है इसलिये नमस्कार है। हे प्रभो आप शूर हैं, परम वीर है, आबाल ब्रह्मरूप है। शिवस्वरूप है, योगीश्वर है इसलिये नमस्कार है ॥ ३२४-३२६ ॥

अर्थ—हे प्रभो! उपर्युक्त आपके समस्त गुण मेरी आत्माको प्राप्त हो। तथा इस कामके राजा दुष्ट मोहनीय कर्मका नाश हो। मेरे शरीरकी निरोगता हो। जिससे मै तपश्चरण कर रत्नत्रयकी प्राप्ति करूँ ॥३२७॥

अर्थ—हे प्रभो! स्वर्गके राज्यकी प्राप्ति हो मेरे मनमे ऐसी इच्छा नही है। किंतु हे प्रभो! आप सदैव मेरे मनमे वास करें एक यही मेरी इच्छा है। जिससे मै अपने पापोका नाश कर सकूँ ॥ ३२८ ॥

अर्थ—हे प्रभो! अब एक यह प्रार्थना है कि आपका परम पवित्र दर्शन पुनः-पुनः हो। और मुझको अब अपने आधीन रखिये। हे जिनराज! आपको नमस्कार है ॥ ३२९ ॥

अर्थ—इस प्रकार मुनि कुन्दकुन्दने बड़ी भक्तिसे बार-बार श्री सीमधर स्वामीके चरणकमलोको नमस्कार कर और गणधर देव तथा अपर समस्त मुनीश्वरोको नमस्कार कर उनको शुभ आशिषको तथा यतीश्वरोंके द्वारा प्रदान किये हुए सिद्धांतके ग्रन्थोंको ग्रहण कर और प्रयत्नसे विमानमें बैठकर उन देवोंके साथ आकाश मार्गसे अत्यत हर्षपूर्वक विहार किया ॥ ३३०-३३२ ॥

अर्थ—उन दोनों देवोंने मुनीश्वर कुन्दकुन्दको, चित्तको आनंदप्रद ऐसे उनके स्थानमें पहुँचाकर उनको बड़ी भक्तिसे नमस्कार किया तब मुनीश्वरने उनको धर्मवृद्धि रूप आशीर्वाद दिया उसको ग्रहण कर और

प्राप्याज्ञां पुनः स्वस्थाने गतौ तद्गुणचिंतकौ । सम्यग्दृग्धारकौ मित्रे परोपकारकारकौ ॥ ३३४ ॥
पश्चाच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यो धराया सकलार्थवित् । लेखवारप्रपूज्यत्वात् विख्यातत्व च जातवान् ॥ ३३५ ॥
सर्वमिथ्यात्वदावाग्नेर्जैनसिद्धातवारिणा । शम चकार सर्वत्र स भव्य शुभबोधकः ॥ ३३६ ॥
तदोपदेशमासाद्य तदा भव्या सुखाप्तये । दान वा पूजन यात्रामभिषेकादिसत्क्रियाम् ॥ ३३७ ॥
जिनदेवस्य विम्वाना प्रतिष्ठाच मनोहराम् । श्रीमज्जिनालयस्यापि जीर्णस्योद्धारण तथा ॥ ३३८ ॥
चक्रु इत्यादि ते सर्वे महदानदनिर्भराः । तदा जैनेन्द्रधर्मस्योद्योतश्च ह्यभवत् महान् ॥ ३३९ ॥
धर्मस्योद्धारण तेन कृत चास्मिन् कलौ खलु । जयत्यसौ मुनीन्द्रो वै मोहमातगकेशरी ॥ ३४० ॥
तदातिशयमावीक्ष्य बुधा. केचिच्च तत्क्षणे । त्यक्त्वा संसारज सौख्य जगृहुर्मुनिसयम ॥ ३४१ ॥

मुनीश्वरोके गुणोका स्मरण करते हुए सम्यग्दर्शनके धारक परोपकार करनेवाले वे दोनो देव अपने स्थानको गये ॥ ३३३-३३४ ॥

अर्थ––उसके वाद श्री कुन्दकुन्द स्वामी इस पृथ्वीतलमें समस्त पदार्थो के जानने वाले देवोंसे पूजित सर्वत्र प्रसिद्ध हो गये ॥ ३३५ ॥

अर्थ––उसके वाद प्रचड ज्ञानके धारक श्री कुन्द-कुन्द मुनीश्वरने सर्व प्रकार की मिथ्यात्व रूपी अग्निका जैनसिद्धातरूपी जलसे नाश किया ॥ ३३६ ॥

अर्थ—भगवान् कुन्दकुन्द मुनीश्वरके उपदेशके प्रभावसे कितने ही भव्यजीव सुखकी प्राप्तिके लिये मुनि, आर्यिका आदि सत् पात्रोमें दान करने लगे । श्री अरहन्त भगवान्की पूजा करने लगे । और विवाहादि श्रेष्ठ क्रियाओंको यथागम पालने लगे । अपरिमित धनादिकके व्ययके द्वारा श्रीमज्जिनेन्द्रके विम्बोकी प्रतिष्ठा और महान् उत्सव कराने लगे । प्राचीन जिनमन्दिरोका जीर्णोद्धार करने लगे । और रथोत्सव आदि विविध प्रकार के उत्सव करने लगे । व्रत तपादिकोके द्वारा जिनधर्मकी प्रभावना बढाने लगे । इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर के प्रभावसे जैनधर्मकी महिमा अतिशय प्रकट हुई । यो कहना चाहिए कि उस समय का ही उद्धार मुनीश्वरने करा दिया । ऐसे दिव्य महिमाके धारक स्वामी कुन्दकुन्द मुनि जगत्में सदैव जयवन्त रहो ॥ ३३७-३४० ॥

अर्थ—उस समय कितने ही भव्यजीवोने उनके सदुपदेशसे ससारकी विचित्र दशाका विचार कर मुनि दीक्षा धारण की ॥ ३४१ ॥

नंद्याद्यास्तस्य संजाता शिष्या बुद्धयब्धिपारगा । सबोधार्थं चतुर्दिक्षु भव्याना तानसौ मुनिः ॥ ३४२ ॥
प्राहिणोत्तेपि चानस्य गुरो पादौ जगन्नुतौ । प्रकट जिनधर्मं हि चक्रुः सर्वे मुनीश्वराः ॥ ३४३ ॥
तदाहि प्रकटो वासीत् जिनधर्म क्षितौ खलु । सिद्धान्तान् प्रकट चक्रे पुन. सोपि यतीश्वर. ॥ ३४४ ॥
अते समयसार च नाटक च शिवार्थदम् । पचास्तिकायनामाढ्य वीरवाचोपसहिता ॥ ३४५ ॥
आद्य प्रवचन चैव अत्यस्थ सारसज्ञकम् । सबोधार्थं च भव्याना चक्रे सत्यपदार्थदम् ॥ ३४६ ॥
यत्याचाराभिध ग्रथ श्रावकाचारमजसा । ध्यानग्रथ क्रियापाठ प्रत्याख्यानादिसद्विधीन् ॥ ३४७ ॥
प्रतिघस्राहानाशार्थं प्रतिक्रमणसयुत । मुनीनाच गृहस्थाना चक्रे सामायिक तदा ॥ ३४८ ॥
जिनेन्द्रस्नानपाठं च स्नपनार्थं जिनस्य वै । यस्याकरणमात्रेण प्राप्नुवति सुरै प्लवम् ॥ ३४९ ॥
प्रभूणा पूजन चापि तेषा गुणविभूषितम् । स्तवन चित्तरोधार्थं रचयामास स मुनि ॥ ३५० ॥
पूजाविधिस्तथा स्नानविधिर्विस्तारत. खलु । ग्रथेपु निर्मितस्तेन सर्वभूतहिताप्तये ॥ ३५१ ॥

अर्थ—श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वरके मुख्य नंद्यादि शिष्य हुए जो बुद्धिमें बड़े पारगामी थे। उनको मुनीश्वरने भव्यजोवोके सम्बोधन करनेके लिए पृथ्वीतलमें भ्रमण कराया और सर्वत्र जैनधर्म को स्थापना कराई ॥ ३४२ ॥

अर्थ—शिष्योने अपने गुरुके पवित्र चरणकमलोको नमस्कार कर सर्वत्र जिनधर्मका प्रचार किया ॥३४३॥

अर्थ—उस समय समस्त संसारमें जिनधर्म प्रकट हुआ और उन्होने जिनसिद्धान्त ग्रन्थोको प्रकट किया ॥ ३४४ ॥

अर्थ—श्रीकुन्दकुन्द मुनीश्वरने मुक्तिको देनेवाला समयसार ग्रन्थ अंतमें बनाया। चौरासी पाहुड ग्रंथों की रचना की। वीर प्रभुकी वाणीसे सग्रहीत पंचास्तिकाय नामसे युक्त और जिसके आदिमे प्रवचन और अंतमें सार है ऐसा प्रवचनसार सबसे प्रथम बनाया। जिससे भव्योको आत्माका सत्य-सत्य ज्ञान होता है। एक श्रावकाचार भी ग्रन्थ बनाया। भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीने विदेहमें यत्याचार और सर्व सिद्धांत ग्रन्थोका अध्ययन किया था, तदनुसार उस यत्याचारकी तथा गृहस्थोके आचारकी प्ररूपणा करनेवाले श्रावकाचारकी रचना की। प्रतिक्रमण और क्रियापाठ ग्रन्थ निर्माण किया। मुनि और श्रावकोके पापोंकी शांतिके लिए वह प्रतिक्रमण और सामायिक पाठ बनाया। अभिषेक पाठ बनाया। जिससे प्रभुका अभिषेक करनेसे महापुण्यकी प्राप्ति हो।

इत्यादिमकलान् ग्रन्थान् चेलकातसुधर्मभाक् । करिष्यति प्रभावार्थं जिनधर्मस्य धर्मधीः ॥ ३५२ ॥
स यतीन्द्र स्वसिद्ध्यर्थं विहारं च करिष्यति । तदावनौ नराधीश भव्यबोधार्थमञ्जसा ॥ ३५३ ॥
भव्यान् सबोधयन् धर्मं वर्द्धयन् वचनोत्करैः । मिथ्याधतमस सैव हनिष्यति भवाब्धिदम् ॥ ३५४ ॥
गिरनारिभव वृत्त तस्य वक्ष्ये वुधोत्तमाः । शृणुथ धर्ममार्गस्य वर्द्धक धर्मिणो मुदा ॥ ३५५ ॥
श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य यात्रार्थं स मुनीश्वर । एकदा धर्मवृद्ध्यर्थं चकार गमनं सुधीः ॥ ३५६ ॥

विस्तारसे अरहन्त भगवान्‌की पूजा करनेकी विधिका ग्रन्थ बनाया । स्तोत्रोंकी रचना की । जिनमें प्रभुके अनेक गद्य-पद्य सुरस स्तवन थे । जिनसे मनका निरोध हो ऐसे ध्यानके ग्रन्थ बनाये ॥ ३४५-३५१ ॥

अर्थ—इत्यादि बहुतसे ग्रन्थ बनाये । मुनिधर्मके प्रकाश करनेवाले ग्रन्थ भी बनाये । जिससे श्रीजिनेंद्र के धर्मकी अपूर्व महिमा प्रकट हुई । जैनधर्मकी प्रभावना हुई तथा विद्वानोमें जैनधर्मका चमत्कार हुआ । और जगत्‌में जैनधर्मकी मान्यता बढी ॥ ३५२ ॥

अर्थ—हे नराधीश ! कुन्दकुन्द मुनीश्वर धर्मकी सिद्धिके लिये समस्त पृथ्वीमें विहार करेंगे ॥ ३५३ ॥

अर्थ—श्रीकुन्दकुन्द स्वामी अपने वचन किरणोंके द्वारा जीवोंमें धर्मका प्रचार करते हुए मिथ्यांधकारका समूल नाश करेंगे और जैनधर्मके द्वारा जगत्‌के जीवोको संसारसे पार करेंगे ॥ ३५४ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीने श्रीगिरनारि पर्वतपर जो चमत्कार बतलाया था और धर्ममार्गकी वृद्धिकी थी उसका वृत्तांत हे राजन् श्रेणिक श्रवण कर ॥ ३५५ ॥

अर्थ—एक दिवस श्री कुंदकुंद स्वामी एक महान् संघका निर्माण कर श्रीगिरनारी पर्वतपर श्री नेमिनाथ भगवान्‌की निर्वाण भूमिकी यात्रा करनेको पधारें ॥ ३५६ ॥

[illegible] अनेक ग्रंथोंमें प्रमाण मिलते हैं। यहाँपर दो तीन प्रमाण जो सोलहवी शताब्दीमें [illegible] देते हैं। यह गुटका [illegible] प्रसिद्ध भंडारमें श्रीसंभवनाथके चैत्यालयमें [illegible] है।

(नैमित्त जिनेश्वर नर्मनेमहेश्वर-सिद्धांतप्रकाशक श्री मुनि कुन्दकुन्द (पद्मनंदी) का शुक्लाचार्य श्वेतांबर साधूके साथ वाद हुआ उसकी गुजराती भाषामे कविता)

दोनो सिंहासन ईश मूलसघी मुनिराजे। परम पुनीत अजीत पद्मनदी मुनि गाजे।
सघ चतुर्विध सहित गिरनारी आये। ध्वजा ढोल नीशान वाजते भविमन भाये ॥ १ ॥
ताही समय बहु वैभव साथे साथे। स्वेताबर सघ त्या आवो शुक्लाचार्य साथे।
मिथ्याभिमानमा मद माते थइने। पहुच्या गिरिवरपर चउसघे लइने ॥ २ ॥
मूलसंघी मुनि कहे प्रथम अमो पूजा करसु। तव स्वेताबर कहे अमो बलि पहला करसु।
यह विधि हुवो विवाद तदा सो एम बोले। आदि दिगबर धर्म एहने नहि को लोले ॥ ३ ॥
तव स्वेताबर कहे अमो बडा पहला उपज्या। वली दिगवर ... पाछेथी निपज्या।
तव विद्यासागर कहे ग्रथ सभालो आपणा।... ॥ ४ ॥
यह विधि बहु विवाद हुओ पण कोई न हारे। पद्मनदी मुनिराय तदा पण ऐम विचारे।
शास्त्रवाद नहि यहाँ तो मंत्रवाद सुखकारे।... ॥ ५ ॥
नेमि जिनेश्वरतरणी यक्षिणी गोमुखराणी। ते कहे सो निरधार करो जो निर्मलवाणी।
आदि अनादि सघकरी पहेला तमो मानवा। श्रीविद्यासागर कहे और उपाधि जाणवा ॥ ६ ॥
यह विधि विचार निरधार करी यति सूरी सघे। मनमा धरी आनद पूजवा जिनवर मनरगे।
अमारी अबिका भुवन वेगे पहोचो जई तबे। प्रबल प्रताप पद्मनदि मुनिवर कहे ते हवे ॥ ७ ॥
भो स्वेताबर साभलो जग अंबा पूछो जई। विद्यासागर गुरु कहे फिर मनमे बहु दुरसई ॥ ८ ॥
आदि दिगबर धर्म अवर कही उपाधि। जो कहो तो बोलावो देवी आराधी ॥
तव मुनिवर धीर वीर थई मंदिरमा पेठा। पद्मवदन मुनि पद्मनदि पद्मासन बैठा ॥ ९ ॥
तजी आना ध्यान धीर धरि चित्ते मुनिवर तदा। श्रीविद्यासागर कहे अबा प्रकटी हवे तदा ॥१०॥
सुन्दर सुन्दर रूप धरी शृगार वनावी। पद्मनंदी मुनिराय शील महातपथी अवी।
सकलसंघसुं कहे अबिका अविचल एवु। आदि अनादि धर्म दिगंबर छे एवु कहेवु ॥११॥
यह त्रिक वचने कहुँ अविका अति उजलु। श्रीविद्यासागर कहे सर्व सघे तवे साभल्यु ॥१२॥
लज्जित थईने तवे स्वेताबर त्याथी नाठो। सर्व सभा माहि वलि तेने खाधो चाटो।
तव मुनिवर धरि धीर नेमि जिनभुवने आव्या। मुनिवरना गीत तदा सौ मगल बहु गाव्या ॥१३॥

याकं तस्य (तेन) घना भव्या प्रचेलु सागनाः खलु। मुन्यर्यिकाञ्च यात्रार्थं भवभ्रमणहानये ॥ ३५७ ॥
तस्मिन्[1] चतुर्विध सघे दिगवरधरा वरा.। सप्तशतप्रमा ज्ञेया मुनयो वुधसत्तमे ॥ ३५८ ॥

अर्थ—मुनि कुन्दकुन्द स्वामीके साथ बहुत से भव्य श्रावकगण, अनेक श्राविकाएं, मुनि और आर्यिकाएं यात्राके लिये चले ॥ ३५७ ॥

अर्थ—उस कुन्दकुन्द स्वामीके चतुर्विध संघमे ७०० सातसौ निर्ग्रंथ दिगंबर जैन मुद्राके धारक मुनि थे।

सघ तवे अतिप्रचुर वाजित्र वहु हर्षे वाजे। नादे गडगडें धरोया गिरि अवर गाजे।
विरद भाट वोले भला जय जय सुर उच्चरे। मूलसघ तिह समे अतिप्रमोद मनमा धरे ॥१४॥
आदि दिगवर धर्म सत्य स्वेतावरे जाण्यो। पाछलथी भयो श्वेतावर एवु सहु मान्यो ॥
सकल सघ मणगार सारस्वत गच्छ भुलावो। वलात्कारगण सार अपार महिमा सौ गायो ॥१५॥
एवु भला सहु जण कहो वहुप्रकारे स्तुति करी।
श्रीविद्यासागर गुरु कहे दिगवर कीर्ति विस्तरी ॥१६॥
धन्य धन्य दिगवर धर्म धन्य गिरिवर गिरनारी। यदुवंशी जगपति धन्य श्रीनेमिकुमार ॥
यक्षिणी जग अवा धन्य अनुपम देवी। पद्मनदि मुनि धन्य वाणी अमृतसम छे जेवी ॥१७॥
ममकित शीलवती देवी जिनवरतणो प्रकट करी।
विद्यासागर कहे कीर्ति दिगवर तणो अति विस्तरी ॥
संवत् सोलसोत्तोस अधिक वेदेकर जाण्यो। कार्तिक मासतणो शुभ्र शुभ पक्ष वखाणो ॥१८॥
उत्तम तिथी त्रयोदशी वार रविवार विराजे। कारजा वर नगर दिगंवर सिंहतु गाजे ॥
चन्द्रप्रभ भवने रही अभयचन्द्र मुनिवरे। श्रीविद्यासागर कहे रासासा वच उच्चरे ॥१९॥

१—यह कथा एक गुटकामें (जो ऐलक पन्नालाल दि० जैन स० भवन मुम्बई मे है।) लिखी है उसकी नकल यहां पर दी जाती है।

[illegible] सहित श्री गिरनारजीकी यात्रावास्ते चाले, और श्वेताम्बरियोंका सघ भी यात्रा गिरनारजीको गया। [illegible] गणना—चोरासी गच्छके जती १२ हजार, ओसवालादि श्रावक दो लाख बावन हजार और चाकर, पियादा [illegible]। [illegible] श्री गिरनारजीके नीचे अपने-अपने मत मे मुकाम करते भये। तदि श्री कुन्दकुन्द आचार्यजीका सघ ऊपर चढने [illegible]। [illegible] गमन नहीं करने दिया और कही पहली यात्रा हमारी होवेगी। पीछे तुम्हारी

द्विगुणा आगिकारम्मात् [ ]कसाटोपरिगहा । तपसा कृशमवीगा ज्ञेया तत्वविदावरैः ॥ ३५९ ॥

एक साडी मात्र परिग्रहको धारण करनेवाली, तपके द्वारा शरीरकी क्षीणता को प्रकट करनेवाली, और तत्वोंको

होगी । यह समाचार सुनकर सब ही पाछा आय गया और आचार्यसो विनती करी । हे नाथ ! ये श्वेतावरी बहुत और अपना सघ थोडा सो यात्रा कैसे होयगी ? तदि आचार्य आज्ञा करो, तुम उनसे कहो—तुमारे हमारे कुछ वेर तो नही । और जो तुम अपने मतका आडवर राख्या चाहो तो अरुवरू आवो । जो जीतेगा पहली यात्रा करेगा । अब यात्रा तुम भी नही करोगे । ऐसा वचन होता थका दोनो सघका वाद ठहर गया । जो जीते सो यात्रा पहली करणी । दिगवरियोके स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य और श्वेताबरियोके मालिक शुक्लाचार्यजी । सो इनके कितने ही दिन तक वादविवाद हुआ । एक दिन शुक्लाचार्यजीने मत्र प्रयोगसे कुन्दकुन्द स्वामीका कमडलुमे मच्छी कर दोनी । और समस्यासूं कोईके ताईं कही—

ये मुनि है परतु इनका आचरण धीवरकासा हे । ऐसी बात सुणके कोई श्रावक कही स्वामी कमडलुमे काई छे । स्वामी कही कमडलुमे कमलके फूल है । स्वामी दिखावो सो कमडलु ओंधो कर्‌यो सो कमलके डेर हो गये । और स्वामीका चौथा नाम पद्मनदी (कमल-पद्मके आनदो) प्रकट हुआ । कुन्दकुन्दाचार्यने शुक्लाचार्यके वस्त्र सब उड़ा दिये ओर जती लोगोके बैठना और वस्त्र उडा दिये । सबको नग्न कर दिया । चादर नीचे ओर पीछी ऊपर । इस तरह चादर चादरपर पीच्छिका हो गई । चादरके ताईं पीछी कूटने लगी । और यती लोग रोने लगे । ऐसा चमत्कार स्वामी बतलाया । तब श्वेताबर बोले कि ऐसी धूर्तविद्यासे वाद नही होता हे । अब हम कहते है कि ये पाषाणमयी सरस्वती की प्रतिमा हे । यह अपने मुँहसे कहे सोई प्रथम यात्रा करे । तब शुक्लाचार्यने अनेक प्रयत्न किये, प्रतिमा नही बोली । तब स्वामी आय कमण्डलु पिच्छिका हाथमे लेकर श्रीसीमधर स्वामीको नमस्कार करके पीच्छिका सरस्वतीके शिर पर धरी । आप प्रकट कहते भये कि हे देवि ! अब तुम सत्य वचन का प्रकाश करो । तब देवी गर्जना रूप तीन बोल प्रकट बोली "आदि दिगबर ! आदि दिगवर !! आदि दिगबर !!! गर्भका वालकवत हे चिह्न जाके ।" तदि दिगवर सप्रदाय सत्यरूप प्रतीति भई । श्वेताबर फिर उस प्रतिमाको बुलवाना शुरू किया । तदि देवी कही तुम बारह वर्ष तक भी झगडा करो । हमने एक सत्य था सो ही कह्या । तब श्वेतावरोमेके सैकडों शिष्य भये । ओर प्रथम यात्रा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यका सघ करता भया । और श्रीगिरनारी पर्वतपर जिन मदिरकी प्रतिष्ठा सबसे प्रथम हुई । तदि मूलसघ, बलात्कार गण, श्रीकुन्दकुन्दाम्नाय (वश) प्रकट हुआ । वडे शिष्य नन्दी मुनिराजके ताईं आचार्य पद दिया । सो उनकी आम्नाय आज तक प्रसिद्ध है । आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने अनादिकालसे प्रचलित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप यज्ञोपवीत विधान सर्वत्र प्रकाशित किया ओर जैनधर्मकी प्रभावना प्रकट की । अन्तमे आप वारा नगरमे आये और एकमास प्रथम ही निमित्त ज्ञानसे अपना मरणका निश्चय कर सन्यास धारण किया ओर पाँचवे स्वर्गमे देव हुए ।

मालासहस्रसख्याढ्या॰ श्राद्धाश्च व्रतपालका. । द्विगुणाः श्राविका ज्ञेयास्तस्मिन् वै वृद्धसत्तमे ॥ ३६० ॥
एव चतुर्विधे मघे कुन्दकुन्दो यतीश्वरः । सयुक्तः क्रमत. प्राप्त. उर्जयतवने वरे ॥ ३६१ ॥
स्वस्वस्थाने स्थिर्ति चक्रुः तेहि तद्दर्शनोत्सुका. । मार्गस्य श्रमनाशार्थं शृणुध्वमपरा कथाम् ॥ ३६२ ॥
तत्रैव नेमियात्रार्थं सघो वै श्वेतवाससाम् । महान् डिंभेन सपन्नः आगतश्च नवोदय. ॥ ३६३ ॥
तस्मिन् सघे वुधैर्ज्ञेया दडपात्रविमडिता । शुक्लाशुकधरा वृद्धा यतयो नामतो मता ॥ ३६४ ॥
यक्षव्यतरदेवोना साधने एव चचवः । खवेदकरसख्याढ्या. पोपकाः स्वतनो रसैः ॥ ३६५ ॥
तदाज्ञापालका ज्ञेया द्विलक्षप्रममानवा. । धनोत्करधरा. तस्मिन वुधैस्तत्त्वार्थवेदिभिः ॥ ३६६ ॥

जाननेवाली चौदहसौ १४०० आर्यिका थी । व्रतोको पालन करनेवाले जिनागमके दृढ़ श्रद्धानी ऐसे पैतीस हजार ३५००० श्रावक, और ७०००० सत्तर हजार श्राविकायें थी । उन सबके साथ अपने-अपने नौकर, चाकर, सिपाही, पयादे तथा सब प्रकारके सावन गाड़ी, घोड़े आदि थे । इस प्रकार चतुर्विध संघ सहित कुन्दकुन्दाचार्य श्रेष्ठ गिरनार पर्वतके वनमें पहुँचे ॥ ३५८-३६१ ॥

अर्थ—समस्त संघके अपने-अपने डेरा लगाकर गिरनार पर्वतकी तलहटीमे मार्गश्रमको दूर करनेके लिये निवास किया । इतनेमें वहाँपर एक दूसरी कथा हुई वह श्रवण करना चाहिए ॥ ३६२ ॥

अर्थ—वहाँपर (श्री गिरनारी पर्वतकी तलहटीमें) श्री नेमिनाथ भगवान्‌की यात्राके लिए श्वेतांबरियों-का एक नवीन सघ बडे आडंबरके साथ आया ॥ ३६३ ॥

अर्थ—श्वेतांबर संघमें दड और पात्रोसे सुसज्जित और सफेद वस्त्र धारण करनेवाले बहुतसे यती थे परंतु उनमें यतियोंका एक भी गुण नहीं था । नाम मात्रके वे यती थे ॥ ३६४ ॥

अर्थ—वे श्वेतांबर यती केवल यक्ष-यक्षिणियो के आराधक, अपने शरीरके पोषण करनेमें ही दत्तचित्त ऐसे दोनो प्राचीन थे ॥ ३६५ ॥

अर्थ—उस श्वेतांबर संघमें उन यतियोकी आज्ञा पालन करनेवाले दो लाख श्रावक थे जो धनके मदमें मस्त थे ॥ ३६६ ॥

नानातिशयसपन्ना यतयस्ते मदोद्धता. । ख्यापयन्तो मद स्वस्य दशयत् विभव महान् (?) ॥ ३६७ ॥
एव सकलसघेन गिरनारिवने शुभे । वास चक्रुश्च तत्रोच्चैर्मानाद्रिशिरसि स्थिता. ॥ ३६८ ॥
पूर्वागतश्च यः सघ· पूजयित्वा जिनेश्वरान् । कुदकुदयतीन्द्र त ह्यग्रे कृत्वा चचाल स ॥ ३६९ ॥
गानवाद्यादिसद्घोषान् कुर्वन् नृत्यादिसत्कला । सघलोकाश्च ते चेलुः सघस्याग्रे मुदान्विता. ॥ ३७० ॥
न्यषेधि समये तस्मिन् स्वेतवासधरैः खलैः । पूर्वं यात्रा करिष्यामः वयमस्य च सोह्यतः ॥ ३७१ ॥
अस्माक सर्वतः पूर्वो सतः सकलविश्रुत । अतः सर्वेषु वृद्धाश्च वय नान्ये धरातले ॥ ३७२ ॥
इत्युद्धतमया वाच श्रुत्वा च श्रावकास्तदा । नत्वा गणपति तेषा तूर्णमागत्य तत्र वै ॥ ३७३ ॥
या श्रुत्वा कथिता वार्ता तन्मुखात् सा मुनीशिन. । ता च श्रुत्वा मुनीन्द्रोपि सविचार्य स्वचेतसि ॥ ३७४ ॥
वसुपालाभिध श्राद्धमेकमाहूय तत्क्षणे । शिक्षा दत्त्वा शुभालापैः प्रेपितस्तान् प्रति तदा ॥ ३७५ ॥

अर्थ——श्वेतांबर साधु अनेक अतिशयो (चमत्कार) से सम्पन्न और अपने मन्त्रतन्त्रके मदसे मदोद्धत थे। जो अपने मतकी प्रसिद्धि श्रावकोंका वैभव दिखलाकर करते थे। इस प्रकार श्वेतांबर संघ गिरनारीके शुभ वनमें आकर वास करने लगा। उन लोगोको अपना बड़ा घमंड था ॥ ३६७-३६८ ॥

अर्थ——सबसे प्रथम आया हुआ श्रीकुंदकुंद भगवान्‌का संघ, नगर (जूनागढ़) के मन्दिरोंकी पूजा कर और पर्वत (श्रीगिरनार) पर श्री कुन्दकुन्द स्वामीको अग्रेसर बनाकर वदना करनेके लिये चला। संघमें तीर्थ-यात्राकी उमंगसे गान-वाद्य आदि विविध प्रकारके महोत्सव हो रहे थे ॥ ३६९-३७० ॥

अर्थ——उसी समय उन श्वेतांबर लोगोने उस दिगंबर संघको तीर्थयात्रा करनेसे रोका और कहा कि सबसे प्रथम हमलोग यात्रा करेंगे। क्योकि हमारा मत सबसे पूर्वका है, प्राचीन है। हमारे मतकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। इसलिये सबसे प्रथम यात्रा करनेका हमारा हक है। इस प्रकार उद्धत और अनीतिके वचनोको सुनकर कितने ही श्रावकगण शांतिसे (किसी प्रकारकी कलह अपनी तरफसे किये विना ही) मौन सहित-गणपति कुन्द-कुन्द स्वामीके समीप आ गये ॥ ३७१-३७३ ॥

अर्थ——श्वेतांबर लोगोसे तीर्थयात्रा रोकनेके विषयमें जो वार्तालाप हुई थी वह ज्योकी त्यों श्रावक गणोंने आचार्य श्री कुन्दकुन्द मुनिको आकर कह दी। उसको सुनकर स्वामीजीने अपने मनमें विचार किया और

सोपि तत्रैव गत्वा च तानाह श्रृणुथ ह्महो । समाधिना वचासि मे भो श्वेतवसनाकिताः ॥ ३७६ ॥
सत्याख्या सर्वलोकेषु मान्या स्यात नात्र सशय । वाणी यूयमपि सत्या वदथ इतरा च मा ॥ ३७७ ॥
विश्रुत चास्ति सर्वत्र दैगवरमतो ह्यय । प्रत्यक्षं जिनबिंबेषु यूय पश्यथ निश्चयात् ॥ ३७८ ॥
नग्न इत्यभिधेय च पूज्यः स्यात्सकलेश्वरैः । नग्नत्वात् सिद्धस्थानस्य प्राप्ति स्यान्नान्यत कदा ॥ ३७९ ॥
वृषभादिजिनेन्द्राश्च गृहाश्रमे गता न किमु । मोक्षे तेपि यदा जाता तदा नग्ना सुरैः स्तुता ॥ ३८० ॥
वचनाडबरेणाल मर्वमत शिरोमणिम् । दैगबरमत यूय जानीथ निश्चयाच्च भो ॥ ३८१ ॥
शक्ति स्याद् यदि युष्माक विशेषा वादकर्मणि । तर्हि आगच्छथ यूय तन्निकटे शीघ्रमेवाहि ॥ ३८२ ॥
अस्माक चैव युष्माक वादोस्तु तत्र ये खलु । तत्रैव दर्शन तस्य करिष्यति प्रनिश्चयात् ॥ ३८३ ॥

शांतिसे यात्रा पूर्ण हो इस इरादेसे आचार्य महाराजने सेठ वसुपालको सब प्रकारकी शिक्षा देकर श्वेतांबर संघके पास भेजा ॥ ३७४-३७५ ॥

अर्थ—उस वसुपाल सेठने श्वेतांबर सघके मुखिया लोगोसे जाकर कहा कि हे श्वेतांबर भाइयो आप मेरे समाधिके (परस्पर एकताके) वचन सुनिये ? संसारमें सत्य बात मान्य होता है और सत्यका ही सर्वविजय होता है। इसमें कुछ भी सदेह नही है। इसलिए आप भी सत्य-सत्य कहिये मिथ्या कहने में कुछ भी लाभ नहीं है। क्या आप नहीं जानते हैं कि दिगंबर मत सबसे प्राचीन है। संसारमें सर्वत्र दिगम्बर मतकी प्राचीनता प्रकट है। यह बात आप लोग जिनबिंबोंको देखकर प्रत्यक्ष निश्चय कर सकते हैं। और समस्त राजागण नग्न दिगम्बरकी ही पूजा करते है। नग्न होने से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है अन्य भेष से कभी नही। यदि नग्न दिगम्बर के भेष से मोक्ष नही होती तो वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर गृहका परित्याग कर नग्न होकर दीक्षा ग्रहण क्या करते ? वस्त्रादि परिग्रह सहित घरमें ही मोक्षको प्राप्त हो जाते ? परंतु जब उन्होंने परिग्रहको त्यागा तब ही देवोंसे पूजित हुए और मोक्षके अधिकारी बने। अधिक कहने से क्या प्रयोजन है। संसारमें समस्त मत मतोंमें शिरोमणि दिगम्बर जैनमत है ऐसा तुम निश्चयसे जानो। लोगोंको अपने मतका अभिमान है तो अपने मतकी प्राचीनता एवं उत्कृष्टता सिद्ध करनेके लिये हमारे पूज्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीसे वाद कर निर्णय कर लीजिये। यदि आप लोगोंमें शक्ति है तो अवश्य ही वादके लिये तैयार हो जाओ। इस वादमें

जेष्यति तेहि तीर्थस्य पूर्व वै वादकर्मणि । सज्जा भवथ तस्यार्थमत श्वेताशुधारकाः ॥ ३८४ ॥
इत्युक्त्वा वसुपालाख्यो क्षोभयित्वाच्च तान् खलान् । आगत्य सर्ववृत्तात गुरवे समचीकथत् ॥ ३८५ ॥
सर्वसंघेन संयुक्तः कुन्दकुन्दमुनीश्वर. । ऊर्जयतसमीपेहि गत्वाऽस्थाच्च प्रदीप्तवान् ॥ ३८६ ॥
तेपि तत्रैव ह्यागत्य तस्थुः वादार्थ मे वच । जल्पयत्येव ते मूर्खा परस्परमहो तदा ॥ ३८७ ॥
कियन्मात्रा इमे नग्ना सर्वातिशयवर्जिताः । अहमेको हि भो स्वामिन जेतु हि सकलान् क्षमा ॥ ३८८ ॥
एव सर्वे मदोन्मत्ताः तस्मिन्नवसरे खलु । ब्रुवेत्येव मनः कल्पात् स्व स्व प्रति गुरू खला ॥ ३८९ ॥
तदा सनह्य वादार्थं प्रयोगैः मत्रतत्रभि । अन्यैरतिशयैस्ते च आजग्मुर्मुनि सन्निध ॥ ३९० ॥

जो जीतेगा वही प्रथम यात्रा करेगा और तीर्थकी बंदना करेगा । इसलिये अब आप लोगोको अपनी शक्ति गुरु कुन्दकुन्द स्वामीके निकट शीघ्र चलकर प्रकट करनी चाहिये । इस प्रकार निर्णय कर और समस्त श्वेतांबरियों को क्षोभ कर वह वसुपाल अपने संघमे आया और समस्त वृत्तांत आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीसे ज्योंका त्यो कह दिया ॥ ३७६-३८५ ॥

अर्थ—तदनंतर मुनि कुन्दकुन्द स्वामी समस्त संघसहित ऊर्जयंत गिरिनार पर्वतके समीप जाकर वाद-के लिये स्थित हुए ॥ ३८६ ॥

अर्थ—उसी समय श्वेतांबर संघके मुख्य लोग अपने आचार्य और यतियोंके साथ परस्पर अपने आप ही अपनी महिमाको गाते हुए वाद करनेके लिये वहाँ पर जहाँ श्री दिगम्बर जैन संघ कुन्दकुन्द स्वामीके पास बैठा था आये ॥ ३८७ ॥

अर्थ—उसमें से कितने ही यति लोग मिथ्याभिमान मे चूर होकर कहने लगे कि हे स्वामिन् समस्त प्रकार के अतिशय रहित ये नग्न दिगम्बर कितने है ? मै अकेला ही इन सबको जीतने में समर्थ हूँ ॥३८८॥

अर्थ—इस प्रकार अपने अभिमान में मदोन्मत्त वे श्वेतांबरी यति लोग अपना-अपना अभिमत अपने-अपने गुरुओंको बतलाते हुए वहाँ पर आये ॥ ३८९ ॥

अर्थ—उस समय वादके लिये सुसज्जित होकर तथा मंत्रतत्र एवं अन्य चमत्कारके घमंडको प्रकट

दिगावरधराणा च यतिराट् हरिसदृशः । शुशुभे सघमध्ये च परमतेभघातने ॥ ३९१ ॥
शुभ्रवासोधराणा च मध्ये वै वारणोपम । शुक्लाचार्येतिनाम्ना भात् केवलेनैव नो गुणैः ॥ ३९२ ॥
द्वयोस्तत्रैव सजातो वादो वादार्थवेदयो । चमत्कारकरो लोके सिहमातगतुल्ययो. ॥ ३९३ ॥
या या प्रश्नावलिस्तेन कृता च स्वामिन प्रति । क्षणेन छेदिता सर्वा मुनिना तेन तत्क्षण ॥ ३९४ ॥
यथा वार्द्धेन्दुवाणेन अन्यद्वाणोत्कराः खलु । क्षणेन क्षयता याति निष्ठुरा देह भेदकाः ॥ ३९५ ॥
तथा हि मुनिवाक्येन तस्य वचनसततिः । क्षयमगात् क्षणेनैव शक्तिमतस्य (?) वै तदा ॥ ३९६ ॥
स तदा निर्जितस्तेन स्याद्वादमतवादिना । चुकोप सावरीयुक्त तस्योपरि सिताशुकः ॥ ३९७ ॥

करते हुये वे मुनिराज कुन्दकुन्द स्वामीके समीप आये ॥ ३९० ॥

अर्थ—उस समय दिगम्बर जैन यतिराट् कुन्दकुन्द स्वामी सकल संघके मध्य परमतरूपी हाथियोंको नाश करनेके लिये सिंहके समान शोभाको प्राप्त हो रहे थे ॥ ३९१ ॥

अर्थ—श्वेताम्बर मतके आचार्य हाथीके समान वलके धारक शुक्लाचार्य नामके यति वाद करनेके लिये तैयार शुक्लाचार्य नाममात्रके शुक्लाचार्य थे । परंतु गुण शुक्लाचार्य में नहीं थे ॥ ३९२ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य और कुन्दकुन्द स्वामीका प्रत्येक शास्त्रमें चमत्कार करनेवाला सिंह और हाथीके समान वाद हुआ ॥ ३९३ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्यने जो प्रश्न आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामीसे किये उनका समाधान स्यात् सप्तभंगीके द्वारा तत्काल ही एक क्षणमात्रमें किया ॥ ३९४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार चंद्रबाणसे समस्त बाण समूह एक क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीकी सप्तभंग स्याद्वाद वाणीसे शुक्लाचार्यके समस्त प्रश्न उसी समय क्षणमात्रमें नष्ट हो जाते हैं। सच है शक्तिशाली जीवोंकी महिमा ही विलक्षण होती है। प्रभु कुंदकुंद स्वामी श्वेताम्बर शुक्लाचार्यके प्रश्नोंका समाधान तत्काल ही क्षणमात्रमें कर देते थे ॥ ३९५-३९६ ॥

अर्थ—इस प्रकार समस्त शास्त्रोंके वादविवादमें श्वेताम्बर शुक्लाचार्य स्याद्वाद विद्यापति श्री कुन्द-

कमण्डलौ तेन मायया स्वस्य तत्क्षणे। मीनानुजाः कृताश्चैव मुनेस्तस्य दयापते. ॥ ३९८ ॥
नेत्रनिमेषत स्वस्य सेवकाना खलेन वै। दर्शित स तथा तेपि मुदमापु खलात्मका. ॥ ३९९ ॥
मुनि प्रत्याह कश्चिन्ना किमस्ति भो मुने तव। कमडलाविति श्रुत्वा स प्रत्याह मुनीश्वर ॥ ४०० ॥
पृच्छ स्वस्वगुरू त्व च स चादिमतधारक । मुनेर्वाचमिति श्रुत्वा गुरू पृष्ठञ्च तेन वै ॥ ४०१ ॥
आनरणयत् मानयोगेन प्रत्यक्षमेव स कुधी । पश्यथ भो नरा यूयमय जीवस्य भक्षकः ॥ ४०२ ॥
निर्दयस्य रव श्रुत्वा इत्थ स यतिराट् तदा। नत्वा सीमधर देव करे धृत्वा कमडलुम् ॥ ४०३ ॥
अधोमुख चकार त सर्वेषा सन्निधे खलु। तस्य मानविनाशार्थं जिनधर्म प्रवृद्धये ॥ ४०४ ॥

कुन्दस्वामीसे हार गया। तब शास्त्रोके ज्ञानमे अपनी गति न देखकर सांवरी मंत्रकी शक्तिके बलसे स्वामीके प्रति क्रोध किया और मंत्रके चमत्कारके द्वारा स्वामीको परास्त करना चाहा ॥ ३९७ ॥

अर्थ—मंत्रकी प्रबल शक्तिसे शुक्लाचार्यने परम दयालु-अहिंसा महाव्रतके प्रतिपालक स्वामिके कमंडलुमें मछलियाँ उत्पन्न कर दीं ॥ ३९८ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्यने अपने इस चमत्कारको (मछली कमण्लुडमें कर दी) अपने शिष्योंको नेत्रके इशारेसे बतलाया जिससे वे दुष्ट बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३९९ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्यने उन शिष्योंमेंसे एक मनुष्यको भेजकर स्वामीजीको पूछा कि हे मुने आपके कमंडलु में क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमे स्वामीने कहा कि तुम अपने गुरुसे पूछो। क्योंकि वह आदि मतका धारक सर्वदर्शी है। मुनिके वचनोंको सुनकर उसने अपने गुरु शुक्लाचार्यसे पूछा ॥ ४००-४०१ ॥

अर्थ—शुक्लाचार्य अपने मंत्रके बलसे कमंडलुमें मछलियाँ उत्पन्न समझकर बड़े अभिमानके साथ कहने लगा। अरे मनुष्यों ? देखो-देखो यह मुनिका वेष धारण करनेवाला जीव भक्षक है। (क्योंकि इसके कमंडलुमें मछली है) ॥ ४०२ ॥

अर्थ—निर्दयी श्वेतांबर शुक्लाचार्यके ऐसे दुष्ट वचनोंको सुनकर स्वामी कुन्दकुन्द मुनिने सबसे प्रथम श्री सीमंधर स्वामीको नमस्कार किया और अपना हाथ अपने कमंडलुमें रखा। तत्काल ही श्वेतांबर और दिगंबर संघके समस्त मानव समाजके समक्ष शुक्लाचार्यका मान मर्दन करनेके लिये और जैनधर्मकी सत्य प्रभावना

पद्मपुष्पोत्करा: तस्मात् पेतु: तस्मिन् क्षणे शुभा: । तेषामामोदतस्तत्र भ्रमराश्चागता: खलु: ॥ ४०५ ॥
तदातिशयमावीक्ष्य कुंदकुंदतपोनिधे: । संघलोकाश्च ते सर्वे मुदमापुश्च्युतोपमम् ॥ ४०६ ॥
पद्मनन्द्यभिधानेन मुनेस्तस्य तदा नरा: । इति चक्रुस्तुतिं सर्वे अथ हि सार्थनामधृत ॥ ४०७ ॥
तस्मिन् काले मुनीद्रस्य प्रख्यातिशयदर्शनात् । म्लानवक्तास्तदा जाता श्वेतवासोधराश्चते ॥ ४०८ ॥
पद्मनदोति सन्नाम्ना स मुनि समये तदा । आसोद्विख्याततता तत्र दिगवरविभूपित: ॥ ४०९ ॥
पुनस्तत्र नयोरासीत् वाद: सकलसाक्षित: । शुक्लेन मत्रयोगेन मुने: पिच्छि: धृता च खे ॥ ४१० ॥
मुनिना तस्य शुल्कस्य गात्रादुत्तार्य तेन वै । वस्त्र तस्य समीपे हि स्थापित चैव तत्क्षणे ॥ ४११ ॥

प्रकट करनेके लिये कुन्दकुन्द स्वामीने वह कमंडलु औंधा कर दिया । जिससे उस कमंडलुके मुखमेंसे पद्म (कमल) के फूलोंका ढेर नीचे गिर पड़ा । जिसकी मनोहर और दिव्य सुगंधीसे भौरे आ गये । यह अद्भुत चमत्कार देखकर समस्त मानव अति हर्षको प्राप्त हुए । और स्वामी कुन्दकुन्द मुनिके अतिशयसे अत्यंत आश्चर्यको प्राप्त हुए । समस्त सघमें आनन्द हुआ । उसी समय स्वामीको पद्मनन्दी नामसे प्रसिद्ध किया (क्योकि स्वामीके चमत्कारसे कमंडलुमें पद्म हो गये । अतः पद्मनन्दी नाम रखा) और सार्थक इस नामसे ही प्रभुका स्तवन समस्त संघने किया ॥ ४०३-४०७ ॥

अर्थ—उस समय मुनि कुन्दकुन्दका यह लोकोत्तर चमत्कार देखकर समस्त श्वेतांबर लोगोका काला मुँह हो गया ॥ ४०८ ॥

अर्थ—उस समय कुन्दकुन्द स्वामी पद्मनंदीके नामसे समस्त संसारमें प्रसिद्ध हो गये । और उनका दिगंबर अतिशय भी सर्वत्र प्रकट हो गया ॥ ४०९ ॥

अर्थ—फिर भी स्वामी और शुक्लाचार्यमें मांत्रिक वाद हुआ । शुक्लाचार्यने अपने मंत्र बलसे स्वामीकी पीछी उड़ाकर आकाशमें रख दी ॥ ४१० ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीने शुक्लाचार्य श्वेतांबर यतियोंके वस्त्र उनके शरीरसे उड़ाकर आकाशमें स्थापित कर दिये । और उनको नग्न दिगम्बर उसी क्षणमें बना डाला ॥ ४११ ॥

एव तत्र महान् वाद वाद सजातश्च द्वयो- खलु । सागता स्वामिसान्निध्ये तत्रैव स स्थिताश्च वै ॥ ४१२ ॥
पुनर्धर्म प्रकाशार्थं त प्रत्याह यतीश्वर । भो यदि चादिधर्मोस्ति ते तर्हि वचन श्रृणु ॥ ४१३ ॥
पाषाणनिर्मिता मूर्ति इमा च भारती खलु । प्रकटी करू त्व तूर्णं विलब मा भजस्व वै ॥ ४१४ ॥
कथयिष्यति यस्योच्चैरियमाद्यमत खलु । पूर्वा तस्यैव यात्राच भूयात् वै नात्र सशयः ॥ ४१५ ॥
मुनेर्वाक्यमिति श्रुत्वा स शुक्लश्चाह त प्रति । एवमस्तु हृदि ध्यात्वा प्रयोगमत्रतत्पर ॥ ४१६ ॥
तदेव भारती नत्वा शुक्लपाषाणनिर्मिता । गिरिस्था मोमरूपादया तस्यैवावदन्निति ॥ ४१७ ॥

अर्थ---और कुन्दकुन्द स्वामीको (जो शुक्लाचार्यने आकाशमें उड़ाई थी) उनके पास आ गई । परन्तु उन दोनोंमें परस्पर मांत्रिक वादविवाद अति चमत्कारी हुआ । और श्वेतांबर यतियोंके वस्त्र आकाश में उड़ा देनेसे उनको बड़ा ही नीचा देखना पड़ा ॥ ४१२ ॥

अर्थ---फिर भी यतीश्वर कुन्दकुन्द भगवान्ने अपने दिगंबर मतकी अतिशय प्रभावना प्रकट करनेके लिए श्वेतांबर यति शुक्लाचार्यसे कहा कि जो तुम्हारा धर्म आदि कहो तो हमारे वचनोंको श्रवण करो ॥४१३॥

अर्थ---हे श्वेताम्बर शुक्लाचार्य जो तेरेमें शक्ति है और जो तू अपने धर्मको आदि धर्म मानता है तो यह सामने पर्वत पर (गिरनारी पर्वत पर) पाषाणकी सरस्वती देवीकी मूर्ति है उसको प्रकट कर उससे ही कहला दे कि कौन-सा आदिधर्म है । जो पत्थरकी सरस्वतीकी मूर्ति अपने मुँहसे कह देगी वही धर्म आदि धर्म समझा जायगा । इसलिए शीघ्र ही इस पत्थरकी मूर्तिसे कहलाओ, देरी न करिये ॥ ४१४ ॥

अर्थ---जो तुमने शुक्लाचार्य, इस पत्थरकी देवीके मुखसे कहला दिया तो आप सबसे प्रथम यात्रा करे ॥ ३१५ ॥

अर्थ---इस प्रकार श्री आचार्य कुंदकुन्द स्वामीके वचनोंको श्रवण कर शुक्लाचार्य अपने मनमें बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि एवमस्तु, ऐसा ही हो, ऐसा कहकर वह शुक्लाचार्य अपने मन्त्रके आराधना करनेमें तत्पर हुआ ॥ ४१६ ॥

अर्थ---उसी समय वह शुक्लाचार्य सफेद पत्थरको मूर्तिको श्वेतांबर मत प्राचीन है ऐसा कहलानेके लिए देवीके सामने मंत्राराधन करनेके लिए बैठा ॥ ४१७ ॥

सत्यवाणी महादेवि वद त्व कस्य स्यात् खलु । सुराच्र्यमत्रयोगेन मताद्यः शुक्लचेल भूत् ॥ ४१८ ॥
इत्थं श्रुत्वापि सा देवी नाह सकलदर्शकान् । तदा शुक्लस्य वक्त्राब्ज श्यामत्वमगमत् खलु ॥ ४१९ ॥
स मुनिः कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मिन्नवसरे खलु । करे धृत्वा वरां पिच्छि नत्वा सीमधर जिनम् ॥ ४२० ॥
तस्माद्धि भारतीमाह इत्य तूर्णेन मोदभृत् । कथय कथय क्षिप्र सत्यवाणी जिनास्यजे ॥ ४२१ ॥
इति श्रवणमात्रेण [1]अश्मजा सा च भारती । मेघवत् गर्जनारूपा वाणीमचीकथच्च सा ॥ ४२२ ॥
ऊर्ध्वाधोमध्यलोकेषु ह्यय देंगवरो मतः । विख्यातो नात्र सदेहश्चात्र वै शिवदायकः ॥ ४२३ ॥
अस्मादन्ये मता ये हि स्वस्वमतिविकल्पजाः । ते हि ससारदा ज्ञेया शिवदा न कदाप्यहो ॥ ४२४ ॥

अर्थ—हे महादेवी सरस्वती तू सत्यवाणी द्वारा प्रकट कर कि श्वेताम्बर मत आदि का है। इस प्रकार देवीसे कहलानेके लिये उस यतीने सुराच्र्य मंत्रके द्वारा सरस्वती देवीकी आराधना की ॥ ४१८ ॥

अर्थ—इस प्रकार शुक्लाचार्यके मत्रके प्रयोग द्वारा वचनोको सुनकर भी वह देवी समस्त दर्शकोके समक्ष कुछ भी नही बोली तब तो शुक्लाचार्यका मुँह एकदम काला पड़ गया ॥ ४१९ ॥

अर्थ—जब शुक्लाचार्यसे पाषाणकी देवी नही बुलाई गई तब मुनि कुन्दकुन्द स्वामी अपने हाथमे श्रेष्ठ मयूर पोछी लेकर और सीमंधर स्वामीको भाव-भक्तिसे नमस्कार उस पाषाणनिर्मित सरस्वतीकी मूर्तिके समक्ष उपस्थित होकर बोले। हे देवि ! तू सत्य सत्य प्रकाशन कर कि आदि मत दिगंबर है या श्वेतावर ? मुनि कुन्दकुन्द स्वामीके इस प्रकार वचनोको सुनकर उस पत्थरकी मूर्तिने मेघकी गर्जनाके समान गभीर वाणीसे कहा ॥ ४२०-४२२ ॥

अर्थ—अधोलोक, ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक इन तीनो लोकोमे यह एक दिगंबर मत ही प्रसिद्ध है। और उस मतसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है इसलिये इसमें सन्देह नही कि आदि मत दिगंबर ही है। इस मतके सिवाय अन्य जितने मत हैं वे अपनी-अपनी बुद्धिसे कल्पित आधुनिक हैं, सर्वज्ञप्रणीत नही हैं। और उनके

---

[1] [illegible] गिरिमस्तके । सोमदत्ताकृतिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कली ॥—पाण्डवपुराणे ।
[illegible] । पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥—सकलकीर्ति ।
[illegible] । पाषाणनिर्मिता देवी वादिता [illegible] ॥—नेमिचन्द्रगुरुः ।

गत आदित गीता शिवरमन स्या । निवार चैव भो शुक्ल इति प्रोक्ता च सा तदा ॥ ४२५ ॥
गो ी निर्जगमार्गे माननीयो मुनीश्वरैः । सातद- सर्वजीवाना दोषोत्करविवर्जित ॥ ४२६ ॥
तारक नारक पूज्य त्रिषु लोकेषु नोत्तम । सकल्प त्यजथ यूय मोनमाप सरस्वती ॥ ४२७ ॥
गर्जनायुक्ताना यतीना सवदेवता. । पलायिताश्च तस्माद्धि तत्प्रभावाच्च श्वानवत् ॥ ४२८ ॥
दिगम्बर पक्षेहि जयमासीच्च तत्क्षणे । विपक्षात् सर्वदा स्याद्धि जयोस्य सर्वभूतले ॥ ४२९ ॥

सेवनसे संसारकी वृद्धि ही होती है । मोक्षकी प्राप्ति कदापि नहीं होती । इसलिए आदि मत दिगंबर मत ही है । आदि दिगंबर ! आदि दिगबर !! आदि दिगंबर !!! इस प्रकार तीन बार देवीने उच्चारण किया । हे शुक्लाचार्य सुन, इस प्रकार देवीकी गर्जना होते ही श्वेतांबरके समस्त यति और सघके समस्त मनुष्य तथा शुक्लाचार्य एकदम लज्जित हो गये । और सर्व प्रकार अपनी हार मानते भये ॥ ४२३-४२४ ॥

अर्थ—हे शुक्लाचार्य दिगंबर जैनमत ही देव, इन्द्र, आदि महान् पुरुषोंसे वंदनीक है । मुनीश्वरोंसे माननीय है । समस्त जीवोको सुखका प्रदान करनेवाला है । समस्त प्रकारके दोषोसे रहित है । कल्याण करनेवाला है । ससारसे तारक है । परम पूज्य है । तीन लोकमे उत्तम है । इसलिए सब प्रकारके संकल्पोंको छोड़कर एक दिगंबर जैनमतका आराधन करना चाहिए । वही सर्वश्रेष्ठ आदि मत है । इतना कहकर वह पत्थरकी सरस्वतीकी मूर्ति चुप (मौन) हो गई ॥ ४२५-४२७ ॥

अर्थ—श्वेताबर यतियोंके आराधन किये हुए समस्त देवतागण सरस्वतीके प्रभावसे कुत्तेकी तरह पलायन हो गये ॥ ४२८ ॥

अर्थ—उसी समय शुक्लाचार्य आदि श्वेतांबर यतीगण सर्व प्रकार मुनि कुन्दकुन्द स्वामीसे हार कर समस्त संघसे तिरस्कारित हुए । दिगम्बर मतका विजय हुआ[1] । सो ठीक ही है । विपक्षके नाश होनेपर विजय ही होता है ॥ ४२९ ॥

१ पद्मनंदियतीन्द्रेण चोर्जयतगिरौ किल । सशयिमतसवादे वादिता येन चाश्मजा ।
सघसहित श्री कुन्दकुन्द मुनि, वदन हेत गये गिरनार । वाद पऱ्यो तहा सशयिमतसो साक्षी वदी अबिकाकार ॥
सत्यपथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर कही सुरी तह प्रगट पुकार । सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघनहरन मंगल करतार ॥

समीपे केशरी सिंहे ? किं कर्तुं च क्षमा गजा. । तत्शब्दाद्धि पलायंते प्रत्यक्षेण न संशय. ॥ ४३० ॥
तस्मिन्नवसरे तत्र एवमासीत् भयोत्करः । तेषां विपक्षहस्तिना स्वस्य मदविनाशनात् ॥ ४३१ ॥
तदा स यतिराट् साकं चतुर्विधगणैर्वरैः । श्रीमन्नेमिजिनेन्द्रस्य चकार दर्शनं मुदा ॥ ४३२ ॥
तत्रैव स्थापयामास स मुनि धर्मवर्द्धक । सरस्वत्यभिध गच्छ सार्थनामयुत खलु ॥ ४३३ ॥
बलात्कारगण शुद्ध तत्रैव स मुनीश्वर' । स्थापयामास सर्वस्य साक्षितो धर्मवृद्धये ॥ ४३४ ॥
स्वस्य नामकृतो वंश शिष्याश्च स्वस्य ये खलु । आम्नाय कृतवान् तेषा नद्याद्यानंदकारक ॥ ४३५ ॥
सर्वसंघेषु मुख्योय श्रीमूलसंघनायक । अद्यप्रभृतितो यूय भजध्व च ह्यत इम ॥ ४३६ ॥
इमे सर्वत्र लोकेषु जाता विख्यातता खलु । जिनधर्मे परा प्रीतिं नरा भेजुश्च ते तदा ॥ ४३७ ॥

अर्थ—केशरी सिंहके सामने गज कितनी देर पर्यन्त ठहर सकते हैं ? केशरीकी गर्जना मात्रसे ही भयभीत होकर प्रत्यक्ष भाग जाते हैं इसमें कोई संदेह नहीं । इसी प्रकार केशरी मुनि कुन्दकुन्द स्वामीसे भय खाकर श्वेतांबर गज भाग गये ॥ ४३० ॥

अर्थ—उस समय श्वेतांबर यतियोंका यही हाल हुआ । कुन्दकुन्द मुनि रूपी केशरीसे अपने-अपने मदको छोड़कर सब भाग गये ॥ ४३१ ॥

अर्थ—उस समय सबसे प्रथम दिगम्बर जैन संघ अपने समस्त चतुर्विध संघ सहित श्री गिरनारी पर्वत पर श्रीमान् नेमि जिनेश्वरकी वंदना करनेको गया । और अतिशय हर्षके साथ प्रभु श्री नेमिनाथ जिनराजके दर्शन किए ॥ ४३२ ॥

अर्थ—वहाँपर ही कुन्दकुन्द स्वामीने सरस्वती नामका गच्छ स्थापन किया । क्योंकि सरस्वती नामकी पत्थरकी मूर्तिसे आदि दिगंबर मत बुलवाया था । यह सार्थक नाम था । और वहाँपर बलात्कार गण स्थापित किया । समस्त संघकी साक्षीमें यह कार्य धर्मकी वृद्धिके लिए किया । इसी प्रकार अपने नामसे अपने शिष्योंकी आम्नाय कायम की । और उस आम्नायको नद्यादि महर्षियोंने स्वीकार किया । समस्त संघमें यह मूल संघ मुख्य है । दिगंबर जैनोंमें इस संघकी मुख्य मान्यता है (श्री मूल संघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे कुन्दकुन्दाम्नाये इत्यादि पाठ जो प्रायः कितनी ही प्रतिमाओंपर लेखोंमें मिलता है) । यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध हो गई । और कुन्दकुन्द स्वामीका यश सर्वत्र प्रगट हुआ । जैनधर्ममें सबकी उत्कृष्ट भावना हुई ॥ ४३३-४३७ ॥

स मुनिः सिद्धभूमेश्च तैः साकं दर्शनं मुद्रा । कृत्वा स्वस्थानमागत्य चकार तप सग्रहम् ॥ ४३८ ॥
एकदा ध्यानकालेहि तस्यायात् वक्रता मुने· । ग्रीवा तत्रैव स्वचित्ते विचार कृतवान् स च ॥ ४३९ ॥
केन वै कारणेनैव इयमासीच्च वक्रता । तदाभवत् पुरस्तस्य ब्राम्ह्या वाणी मनोहरा ॥ ४४० ॥
अकाले जैनसिद्धाता नो योग्या· पठने खलु । युष्माक तद्विदोषेण इय जाता च वक्रता ॥ ४४१ ॥
भारत्या वचन श्रुत्वा इत्थ मुनीश्वरस्तदा । स्वात्मनो निंदा परमा चकार स्वात्मसिद्धये ॥ ४४२ ॥
पुनस्तद्दोपनाशार्थं नत्वा सीमधर जिनम् । तस्यैव ह्यकरोत्स्तोत्र तदा तस्या· प्रमोदये (?) ॥ ४४३ ॥
अवक्रता तदा ता च आप सापि गता तदा । स्वस्थाने वक्रग्रीवाख्यामस्य कृत्वा मुदान्विता ॥ ४४४ ॥
अनेन कारणेनैव तृतीयाभिधजातवान् । तस्य सर्वमुनीन्द्रेपु तस्मिन्नवसरे बुधाः ॥ ४४५ ॥
तदाप्रभृतित· स्वामी वाणी सिद्धातमण्डिताम् । कालेहि प्रतिघस्र च पपाठ नैव तद्विना ॥ ४४६ ॥

अर्थ—श्री कुन्दकुन्द स्वामी श्री गिरनारी पर्वतकी (सिद्धभूमि) वंदना कर अपने तपस्थान धरणीभूषण पर्वतपर वापिस आये ॥ ४३८ ॥

अर्थ—एक समय ध्यान कालमे मुनि कुन्दकुन्द स्वामी धरणीभूषण पर्वतपर विराजे हुए थे कि इतनेमें उनकी ग्रीवा (नार) स्वयमेव वक्र (टेढ़ी) हो गई । स्वामीने उस वक्रताका कारण अपने मनमें विचारा परन्तु रोगादि कोई भी ऐसा कारण मालूम नहीं हुआ कि जिससे मान लिया जाय कि अमुक कारणसे ग्रीवा वक्र हुई है । मुनि इस बातके विचारमें ही थे कि उनके सामने एक मनोहर ब्राह्मी (सरस्वती) की वाणी हुई । उस वाणी से प्रगट हुआ कि हे मुने ! आपने अकालमें जैन सिद्धांतोंका अध्ययन किया है उस पातकके फलसे वक्र ग्रीवा हो गई है । ऐसे वचनोंको सुनकर अपनी आत्माकी सिद्धिके लिये कुन्दकुन्द स्वामीने अपनी आत्माकी निंदा की ॥ ४३९-४४२ ॥

अर्थ—भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीने ग्रीवाकी वक्रता के दोषको दूर करने के लिये श्री जिनेन्द्र सीमन्धर स्वामीको नमस्कार कर और उनकी ही स्तुति बड़ी भक्तिसे प्रेम सहित की जिससे तत्काल ही वह ग्रीवा जैसी की तैसी अपने स्थानमें आकर सरलरूप हो गई । वक्रता मिट गई । इस कारणसे स्वामीका तीसरा नाम वक्र-ग्रीव समस्त मुनि संघमें प्रसिद्ध हो गया ॥ ४४३-४४५ ॥

अर्थ—उस समयसे श्री कुन्दकुन्द स्वामी जैनसिद्धांतरूपी जिनवाणीको कालमें ही पढ़ने लगे । फिर कभी

अकाले ये पठिष्यंति मोक्षशास्त्रादिकान् खलु। तिर्यंचयोनिषु तेहि यास्यन्ति नात्र संशय. ॥ ४४७ ॥
शिवनंदियतीन्द्रैक. सिद्धांताकालपाठनात्। हृदेऽभूच्च महामत्स्यः तपसालंकृतोऽपि च ॥ ४४८ ॥
कालाकालस्य मर्यादा ज्ञेया वै मूलग्रन्थतः। बुधै. विस्तारतस्तत्र वर्णना च कृता खलु ॥ ४४९ ॥
एलाचार्यो ह्यय नामो विदेहक्षेत्रतो बुधै.। ज्ञैतस्तस्य वै विख्यात आसीच्च सकलावनौ ॥ ४५० ॥
पिच्छिका पतिता यानात् तस्य ध्यानयुतस्य वै। गृद्धस्य पिच्छिका दत्ता देवैर्वा तत्क्षणे शुभा ॥ ४५१ ॥
एतत्कारणतस्तस्य नामासीत्सकलक्षितौ। बुधोत्तमाश्च गृद्धादिपिच्छाचार्यातिविश्रुत ॥ ४५२ ॥
एव पंचाभिधानेन स मुनि. सकलार्थवित्। आसीत् विख्याततता पूज्यः विपक्षविजयात्सुरैः ॥ ४५३ ॥
अश्मजा वादिता येन भगमाप्ताः खलाशया। श्वेतवासोधराः क्रूराः तस्मै श्रीमुनये नमः ॥ ४५४ ॥

भी उनने अकालमें अध्ययन नहीं किया ॥ ४४६ ॥

अर्थ—अकालमें जैनसिद्धांत (मोक्षशास्त्र) का पाठ करते हैं वे लोक तिर्यंच योनिमें उत्पन्न होते है। इसमें सन्देह नहीं है ॥ ४४७ ॥

अर्थ—बडे भारी तपस्वी शिवनन्दी नामके एक मुनीश्वर अकालमें जैनसिद्धांतका पाठ करनेसे तिर्यंच योनिमें बडे मच्छ उत्पन्न हुए ॥ ४४८ ॥

अर्थ—काल और अकालका स्वरूप जैनागमसे जानना चाहिये। ग्रन्थ बढ़ जानेके कारण यहाँपर नहीं लिखा ॥ ४४९ ॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें सीमंधर स्वामीके समोशरणमें चक्रवर्तीने एलाचार्य (लघु शरीरको एला कहते हैं) नाम रखा। विदेहकी यात्राके समय विमानमें ध्यानमें बैठे हुए स्वामीकी पोछी विमानमेंसे गिर जानेसे देवोंने गृद्धकी पीछी बनाकर दी इसलिये गृद्धपिच्छाचार्य नाम प्रसिद्ध हुआ ॥ ४५०-४५२ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रुतज्ञानसे समस्त पदार्थोंको जाननेवाले कुन्दकुन्द स्वामी पांच नामोंसे प्रसिद्ध हुए थे। विपक्षियोंको जीतनेसे देवोंसे पूज्य हुए थे ॥ ४५३ ॥

अर्थ—जिनने पत्थरकी देवीको बुलवाया और दुष्ट आशयवाले क्रूर ऐसे श्वेतांबरियोंसे वादविवादमें विजय प्राप्त की ऐसे कुन्दकुन्द स्वामीको नमस्कार ॥ ४५४ ॥

सामधरजिनेन्द्रस्य येनाप्त दर्शन शुभम्। प्राचीनपुण्ययुक्तेन तस्य पादो नमाम्यहम् ॥ ४५५ ॥
अस्मिन् कली मुनीन्द्रेण तेनैव रचना कृता। शास्त्रादीनामहो भव्या- तस्मै नमोस्तु सर्वदा ॥ ४५६ ॥
कुन्दकुन्दसमश्चास्मिन् काले मिथ्यात्वसभृते। नाभून्नैव पुनश्चात्र भविष्यति सुनिश्चयात् ॥ ४५७ ॥
धन्या सा जननी लोके यस्याः कुक्षौ सुरै स्तुत.। अभूद्वै ईदृशः पुत्रो मिथ्याधतम पूपण. ॥ ४५८ ॥
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रस्य तस्यैवाह करोमि वै। स्तवन चित्तरोधार्थं नित्याहसो विनाशकम् ॥ ४५९ ॥
कुन्दकुन्दमहमाद्यमाह्व जन्मसमुद्भवम्। वदे कुदसम देह तत्पदाप्ताय केवलम् ॥ ४६० ॥
द्वितीय पद्मनद्याख्य पद्मातिशयदर्शकम्। वदे पद्मसम नेत्र विपक्षाद्रौ पविसमम् ॥ ४६१ ॥
तृतीय वक्रग्रीवाख्य ध्यानमग्नसुरैः स्तुतम्। वदेऽह ध्यानसिद्ध्यर्थं दिशाबरधर वरम् ॥ ४६२ ॥

अर्थ—जिन कुन्दकुन्द स्वामीने पूर्व पुण्योदयसे विदेह क्षेत्रमे सीमंधर स्वामीके शुभ दर्शनोंका लाभ लिया उनके चरणकमलको नमस्कार है ॥ ४५५ ॥

अर्थ—जिन कुन्दकुन्द स्वामीने ८४ पाहुड आदि ग्रंथोंका निर्माण कर जगत्में महान् उपकार किया उनको सर्वदा नमस्कार है ॥ ४५६ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीके समान महापराक्रमशाली जैनधर्मके उद्योतक इस कलिकालमें न हुए और न भविष्यमें होंगे ॥ ४५७ ॥

अर्थ—देवोंसे पूजित और जगत मान्य कुन्दकुन्द स्वामी जिस माताकी कूखसे उत्पन्न हुए वह माता धन्य है। जिसके प्रभावसे मिथ्यात्व रूपी घोर निबिड़ अंधकार नष्ट हुआ ॥ ४५८ ॥

अर्थ—मैं अपने चित्तको वश करनेके लिये और नित्यके पापोंकी शांतिके लिये कुन्दकुन्द स्वामीका स्तवन करता हूँ ॥ ४५९ ॥

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीके पाँच नाम प्रसिद्ध थे उनमें कुन्दकुन्द यह उनका प्रथम जन्म नाम था। उनका शरीर कुन्दके समान था। मै उन समान पदकी प्राप्तिके लिये उनकी वन्दना करता हूँ। दूसरा पद्मनंदी यह नाम कमण्डलुमेंसे पद्मके फूलोंके ढ़ेरोका अतिशय प्रकट करनेसे प्रकट हुआ, कमलसमान नेत्र हैं जिनके तथा जो विपक्षी रूपी पर्वतोंके लिये चातक सम उन पद्मनंदी आचार्यको मै वन्दना करता हूँ। तीसरा वक्रगीव यह

एलाचार्याभिध तुर्यं सीमधरस्य दर्शकम्। तद्धि साहससिद्धयर्थं वदेह सर्वदा मुदा ॥ ४६३ ॥
पचमाभिधसयुक्त गृद्धपिच्छेन भूषितम् । पिच्छाचार्यं च गृद्धान्त वदेमृतभुजैस्तुत ॥ ४६४ ॥
वसुधराया मुनिसत्तमोऽय पचैव(?)नाम्ना कलितः सुवुद्धि। जातोंह वदे तमह त्रिशुद्धया विख्याततता भो वुद्धसत्तमा वै ॥४६५॥
इमानि वरनामानि कुन्दकुन्दमुनेश्च ये। प्रातश्चोत्थाय नित्य वै पठिष्यन्ति नराः कलौ ॥ ४६६ ॥
अस्मिन् भक्त्या प्रयास्यति दिवि शर्माब्धिसभृते। ते शिवे क्रमतो भव्याः सदा शर्मविभूपिते ॥ ४६७ ॥
अस्य प्रभावत. सर्वे विपमादिज्वरास्तथा । व्यतरा राक्षसा· क्रूराः सर्वे यात्येव नाशताम् ॥ ४६८ ॥

नाम—अकालमें जैन सिद्धांतोका पाठ करनेके दुष्परिणामसे उनकी ग्रीवा स्वयमेव वक्रताको प्राप्त हो जानेसे वक्रगीव नाम प्रसिद्ध हुआ। ध्यानमें मग्न वे वक्रगीवाचार्य देवोके द्वारा स्तुतिको प्राप्त हुए, दिशा ही जिनका श्रेष्ठ वस्त्र है ऐसे उन आचार्यको मैं ध्यानकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूँ। चौथा एलाचार्य यह नाम विदेह क्षेत्रमें सीमन्धर स्वामीके समवशरणमे चक्रवर्तीने इन्हे एला (इलायची) के समान लघुकाय होकर भी साहस और शक्तिकी विशेषता देखकर प्रकट किया था। उस साहस सिद्धिके लिये मै हमेशा प्रमुदित चित्त हो उन्हे नमस्कार करता हूँ ॥ ४६०-४६३ ॥

अर्थ—पांचवां नाम गृद्धपिच्छ यह विदेहकी यात्राके समय विमानमें बैठे हुए ध्यानमें मग्न थे उस समय विमानसे पिच्छी (मयूरपिच्छी) नीचे गिर पड़ी। जब इनका ध्यान पूर्ण हुआ तब पीछी गिर जानेके समाचार देवोमे कहे और यह भी कहा कि बिना पीछीके गमन नही होगा। तब देवोने पीछी तलाश की। परन्तु वह मयूर पीछी नही मिली। तब गृद्धके कोमल पख पड़े हुए देखकर देवोने उनकी पीछी बनाकर दी और उस पीछी पर से उनका नाम गृद्धपिच्छाचार्य सिद्ध हुआ ॥ ४६४ ॥

अर्थ—इस प्रकार पांच नाम कुदकुद स्वामीके समस्त जगत्में प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार समस्त प्रकारके श्रेष्ठ गणिगणोंसे गुणसम्पन्न, महान् प्रभावशाली, समस्त विद्याओंके पारगामी ऐसे कुन्दकुन्द भगवान्को नमस्कार है। जो मनुष्य प्रातःकाल इन नामोका स्तोत्र पाठ करता है सो उत्तम गतिको प्राप्त होता है॥४६५-४६६॥

अर्थ—इन कुन्दकुन्द स्वामीके स्तोत्रको जो मनुष्य भाव भक्तिसे पढते हैं उनको समस्त सुखोका निधान स्वर्गका सुख प्राप्त होता है। और क्रमसे मोक्ष भी होता है। इस स्तोत्रके प्रभावसे विषमज्वर आदि-व्याधि

काकोदरा महाक्रूराः सद्यः प्राणहरा हि ये । नहि चास्य प्रभावेन करिष्यति भय नृणाम् ।। ४६९ ।।
धनाप्तिर्जायते पुसा पुत्राप्तिर्नात्र सशयः । स्तोत्रस्य पठनात् भव्या सर्वसिद्धि- सुखास्पदा ।। ४७० ।।
इत्थ स प्रकटं कृत्वा धर्ममार्गं जगन्नुत । पश्चात् स्वपुरबाह्यस्थवने वै नदनोपमे ।। ४७१ ।।
स्वायुप हि तदा ज्ञात्वा मासमात्र च स मुनि । समाध्यत्ययसिद्धयर्थमाजगाम सुबोधवान् ।। ४७२ ।।
प्राशुके तत्र भूमौ स स्थित्वा ह्यनुक्रमात् मुनि. । जेमन चोदक क्षीर तत्याज चित्तशुद्धये ।। ४७३ ।।
पश्चाद्धि सर्वमाहार त्यक्त्वा साहसधारक । नत्वा सोमधर देव तस्थौ स कर्महानये ।। ४७४ ।।
परिचर्या तदा चक्रु तच्छिष्या स्वगुरो पुर॰ । तथासमाधिसिद्धयर्थं पाठ सिद्धातसूचकम् ।। ४७५ ।।
चतुराराधनापाठ हस्तपादादिमर्दनम् । मत्रराजस्य श्रवण सर्वपापाद्रिभजकम् ।। ४७६ ।।

और समस्त प्रकारकी उपाधि स्वयमेव शांत हो जाती है । व्यन्तर-राक्षस और क्रूर पिशाचादिकोंकी बाधा नष्ट हो जाती है । काकोदर, जलोदर आदि भयङ्कर रोग भी स्वयमेव शमन हो जाते है । धनके चाहनेवालेको धन मिलता है और पुत्रार्थीको पुत्रकी प्राप्ति होती है । इस स्तोत्रसे समस्त सिद्धि, वृद्धि और नित नये मंगलोंकी प्राप्ति होती है ।। ४६७-४७० ।।

अर्थ—इस प्रकार कुन्दकुन्द स्वामी जैनधर्मको समस्त पृथ्वीतलमे विस्तार कर फिर अपने वारा नगर के उद्यानमे (धरणीभूषण पर्वतके उद्यानमे) वापिस आये ।। ४७१ ।।

अर्थ—वहाँपर कुन्दकुन्द स्वामीने जब अपनी आयु एक महिनाकी अवशेष रह गई थी ऐसा अपने निमित्त ज्ञानसे जान लिया तब चतुर वे मुनि समाधिमरणके लिए तैयारी करने लगे ।। ४७२ ।।

अर्थ—वहाँपर धरणीभूषण पर्वतपर एक प्रासुक स्थानमें बैठकर और चित्तकी शुद्धिके लिए क्रमसे चार प्रकारके आहारोका परित्याग किया ।। ४७३ ।।

अर्थ—फिर चार प्रकारके आहारको सर्वथा छोडकर कर्मके नाश करनेके लिए अपने मनमें सोमंधर स्वामीको नमस्कार किया ।। ४७४ ।।

अर्थ—कुन्दकुन्द स्वामीके नंद्याचार्यने अन्य शिष्य वर्गोंको प्रभुकी परिचर्या करनेकी प्रधान आज्ञा दी । कितने ही शिष्य सिद्धांत शास्त्रोका पाठ करते थे । कितने चार आराधनाका स्वरूप निरूपण करते थे । कितने

यच्छ्रवणादलर्काद्या दिवमापु: सुखाकितम् । तिर्यंचोप्यजनाद्याश्च पाटच्चरक्रियोद्यता ॥ ४७७ ॥
तरिता तरति ये भव्यास्तरिष्यतिहि केवलम् । अनेन मत्रराजेन नान्योपायोहि प्राणिनाम् ॥ ४७८ ॥
शयने चासने मार्गे विपिने चाद्रिमस्तके । सख्ये शाते तथा दु खे ह्येन जपतु भो बुधाः ॥ ४७९ ॥
नैव विस्मरणीय च मंत्रराज कदाप्यहो । दातु हि शिवशर्मणः क्षमो नैवापरो बुधा ॥ ४८० ॥
महिमा मत्रराजस्य इत्थ ज्ञात्वा शिवाप्तये । जपतु सर्वदा भव्या इम सकलशर्मदम् ॥ ४८१ ॥
कुन्दकुन्दमुनीन्द्रश्च विमोह तत्ववो गमी । विभो पादारविंदेहि धृत्वा स्वचित्तमजसा ॥ ४८२ ॥
निर्विकल्पो नि कषाय चायुरते वशी दमी । एकाग्रमनसा तस्थौ स्मरन् पचपदावलिम् ॥ ४८३ ॥

ही णमोकार महामत्र श्रवण कराते थे । कितने उनके मलमूत्रका प्रक्षेपण करते थे । कितने पदमर्दन आदि वैयावृत्य करते थे । णमोकार महामत्रका श्रवण करनेसे समस्त पापोका नाश होता है । श्वान आदि तिर्यंच जीवोको भी मंत्रके श्रवण मात्रसे स्वर्गकी प्राप्ति हुई है । अंजन चोर आदि पापी जीव भी सद्गतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४७६-४७७ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव ससार समुद्रसे तिर गये, तिरते हैं अथवा तिरेंगे वे सब एक-एक णमोकार मंत्रके प्रभावसे ही पार हुए हैं । संसारसे पार होनेका इससे अन्य कोई दूसरा उपाय नही है ॥ ४७८ ॥

अर्थ—सोनेमें, बैठनेमें, मार्गमें, संकटमे, पर्वतपर, सुख दु:ख आदि सर्वत्र इस णमोकार मत्रका जाप करना चाहिये ॥ ४७९ ॥

अर्थ—इस महामत्रको कभी भी भूलना नही चाहिये । क्योकि इसके सिवाय अन्य कोई भी मोक्षके सुखोंको प्रदान करनेके लिये समर्थ नही है ॥ ४८० ॥

अर्थ—इस महामत्रराजकी इस प्रकार अद्भुत महिमा जान कर मोक्षकी प्राप्तिके लिये भव्यजीवोको सदा जपना चाहिये । जिससे सर्व सुखोकी प्राप्ति हो ॥ ४८१ ॥

अर्थ—भगवान् कुन्दकुन्द स्वामी समाधिमरणके समय मोह रहित हो गये । समस्त तत्त्वोके वेत्ता, शांत, निराकार, इन्द्रियोका विजय करने वाले, परमसाहसी, मनकी चपलताको वश करनेवाले और निर्विकल्प दशाको प्राप्त होकर श्री सीमधर स्वामीके चरणकमलोंको हृदयमें धारण कर केवल पंच णमोकार मंत्रका

शुष्कगात्रोपि स योगी धीरवीराग्रणी खलु । नाभजत् मनसि क्लेश स किंचिदपि शिवाप्तये ॥ ४८४ ॥
ततोहि सन्निधे काले चागते स गणीश्वर । पद्मासन गृहीत्वा हि सतस्थौ शुद्धमानसः ॥ ४८५ ॥
अर्हद्भ्य सर्वसिद्धेभ्य आचार्येभ्यो नमोस्तुवै । पाठकेभ्यस्तथा योगीश्वरेभ्य सर्वदा हि मे ॥ ४८६ ॥
निगद्या देवदेवेश सीमधरमघापहम् । पुन पुन ननाम च तत्पदाप्तये केवलम् ॥ ४८७ ॥
नमोस्तु चेति अर्हद्भ्य ध्यानमग्नस्तदा मुनि । त्यक्त्वा समाधिना प्राणान् दिवमाप सुखास्पद ॥ ४८८ ॥
नानर्द्धिमडिता तत्र भुक्त्वा वै शर्मसततिम् । स मुनिस्तुर्यकाले च यास्यति मोक्षधामनि ॥ ४८९ ॥
कुन्द कुन्दनमुज्वल सुविमलो ध्यानादिभि शुद्धधी., सत्तपसा कृशता गतोपि न भजेत् दुर्मानस स कदा ।
भव्याभोजदिवाकर मुनिनुतः षड्जीवरक्षाकर, वृद्धया गी पतिसदृशो हि यतिराट् स पातु नो व सदा ॥४९०॥

स्मरण करते हुए ध्यानसे स्थिर हुए ॥ ४८२-४८३ ॥

अर्थ——भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीका शरीर ध्यान और तपके प्रभावसे शुष्क हो गया था तो भी धीर-वीर परम साहसी अपने मनमे जरा भी संकोचको नही प्राप्त हुए। और परम शांतिसे आत्मज्ञानमें लवलीन हो गये ॥ ४८४ ॥

अर्थ——भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीका जब मरण काल अतिशय समीप आ गया तब प्रभु अपना पद्मासन लगाकर मन, वचन, कायकी शुद्धि कर, निःशल्य होकर ध्यानमे निमग्न हुए। प्रभुने 'नमो अर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः। नमः आचार्येभ्यः, नमः पाठकेभ्यः, नमः सर्वसाधुभ्यः' इस प्रकार मंत्रोके द्वारा अपनी आत्मामे पंच परमेष्ठी की स्थापना कर तीन प्रकार की शुद्धिसे जगद्गुरु देवाधिदेव सीमंधर स्वामीको उनके पदकी प्राप्तिके लिये बारंबार नमस्कार किया और प्राणांत समय नमोऽर्हद्भ्यः ऐसा कहकर एकाग्रमनसे ध्यानमें मग्न हो गये। इस प्रकार अपने स्वरूपमे लीन होकर शातिसे प्राणोंका परित्याग किया और स्वर्गमें देव पर्यायको प्राप्त हुए ॥ ४८५-४८८ ॥

अर्थ——वहाँपर (स्वर्गमें) अनेक प्रकारकी ऋद्धियोंसे संपन्न समस्त प्रकारके सुखोंको भोगकर भगवान् कुन्दकुन्द स्वामीका जीव आगामी चतुर्थ कालमें नियमसे मोक्षको प्राप्त होगा ॥ ४८९ ॥

अर्थ——कुन्दकुन्द स्वामी सदैव निर्मल भावके धारक थे, बड़े ही पवित्र थे और समस्त प्रकारके दोषोसे

प्राप्त येन जिनेश्वरस्य मुखदं पुण्योदयात्पुण्यदम्, पूर्वाख्ये वरसुन्दरे सुविमले सोमधरस्याजसा ।
सर्वाशर्मविनाशक शिवकर सद्दर्शन मोदद, क्षेत्रे शर्मनिकेतने वरबुधा पुण्याच्च किं दुष्करम् ॥ ४९१ ॥
पुण्य पापविनाशक भवहर पुण्य पर मगलम्, पुण्य श्रीजिनस्नानपूजनभव पुण्य च रागोज्झनम् ।
पुण्य सिद्धिप्रदायक मुनिनुत पुण्याय नित्य नम , ज्ञात्वेत्थ बुधसत्तमा ह्यनुदिन पुण्य कुरुध्व खलु ॥४९२॥
कालेऽस्मिन् मुनिवृदपूजितपद श्रीकुदकुदाभिधः, जातो धर्मप्रकाशको वरमतिः मिथ्याद्रिनाशे पवि. ।
कौमारे हि वृता महासुखकरा जैनेंद्रदीक्षा मुदा । धीरः शूरतमो महानुग्रकरो न पातु समारत. ॥४९३॥

रहित थे। ध्यान आदि उत्तम कार्योंसे जिनका ज्ञान परम पवित्र हो गया था। तपसे जिनका शरीर कृष था तो भी अत्यंत कठिन तप धारण करनेपर भी जिनके परिणामोंमें कभी संक्लेश नहीं होता था। भव्य जीवरूपी कमलोंके लिये सूर्य, छह प्रकारके जीवोंकी दया पालनेवाले, बुद्धिमें बृहस्पति से भी अतिशय गरिष्ट ऐसे कुन्दकुन्द स्वामी सदा हमारी रक्षा करो ॥ ४९० ॥

अर्थ——कुन्द-कुन्द स्वामीने अतिशय पवित्र और सर्वोत्तम ऐसे पूर्व विदेहक्षेत्रमें पूर्व पुण्योदयसे महान् पुण्यका प्रदान करनेवाला, समस्त पापोंका नाश करनेवाला, समस्त सुखोंको देनेवाला, अपार आनंदका कारण ऐसा सीमधर भगवान्का पवित्र दर्शन किया। ठीक है पुण्यसे सब बातें साध्य हो जाती है ॥ ४९१ ॥

अर्थ——पुण्य ही पापका नाश करनेवाला है। संसारका उच्छेद करनेवाला है। पुण्य ही परम मगल है। पुण्य समस्त सिद्धियोंका देनेवाला है, मुनियोंसे भी पूज्य है। अरहत परमात्माका पचामृत स्नान, पूजन, जप, गुण, स्मरण और भक्तिसे महान् दिव्य पुण्यकी प्राप्ति होती है। अथवा सामायिक, जप, तप, ध्यानके द्वारा रागादिक दुष्टभावोंका परित्याग करनेसे भी पुण्य प्राप्त होता है। ऐसा पुण्य बुद्धिमानोंको सदा सचय करते रहना चाहिये। इस कालमें मुनियोंसे पूजित, श्रेष्ठ धर्मके प्रकाशक, उग्र [illegible], मिथ्यात्वरूपी पर्वतोंके भेदक और धीर, वीर, परमसाहसी, सुखके प्रदान करनेवाले और [illegible] अतिशय कठिन जिनेंद्र दीक्षाको धारण करनेवाले ऐसे कुन्दकुन्द मुनि हमारी इस ससारसे रक्षा करो ॥ ४९२-४९३ ॥

पुण्यस्यैव फलं जिनागमविदा ज्ञात्वा महाशर्मणे, त्यक्त्वा पापक्रिया महादु खकरा ससारवीजाकुराम् ।
ससारातपनाशक सुविमलै ध्यानादि तत्कर्मभि , त पुण्य ह्यघनाशक मुनिनुत चागीकुरुध्व सदा ॥४९४।
पुण्यात् सिद्धपदे व्रजत्यनुदिनं योगीश्वरा· पावने, ह्यतातीतसुशर्मवृन्दनिचिते क्षोभादिकर्मोज्झिते ।
पुण्यात्सुमुतप्राप्तिता वरगुणैर्युक्ता मनोनदका, मत्वेत्थ नरसत्तमाः सुविमल पुण्य कुरुध्व सदा ॥४९५॥
इत्थ श्रेणिक भूप सर्वगदित वृत्त मया तेऽखिलम्, पापौघस्य विनाशक सुविमल श्रीकुन्दकुन्दस्य वै ।
चित्ते त्व कुरु धारण च मनस शुद्ध कर नदद । अग्रे धर्मविवर्द्धक वरसुरै· पूज्य च पूज्योदयम् ॥४९६॥

अर्थ—इसलिये जिनवाणीसे पुण्यको ही समस्त वस्तुओसे दुर्लभ और सर्वोत्कृष्ट समझ कर संसारकी बीजभूत समस्त दुःखोंको प्रदान करने वाली ऐसी पापक्रिया का परित्याग करो। तथा ध्यान, संयम, सदाचार, चारित्र आदि उत्तम पुण्यक्रियाओंका पालन करो। जिससे संसारका नाश हो। यह ऐसा पुण्य मुनियोसे भी पूज्य है इसलिये ऐसा पुण्य सदा करते रहना चाहिये ॥ ४९४ ॥

अर्थ—पुण्यसे ही मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। योगीश्वर भी पुण्यकी प्राप्तिके लिये जप, तप करते है। पुण्यसे अनन्तसुख निर्विघ्नतापूर्वक होता है। पुण्यसे पुत्र, राज्य, धन-धान्य आदि विभूति होती है, अनेक गुणों-की प्राप्ति होती है और मनको आनंद होता है। इसलिये हे भव्यजीवों, पुण्यको नित्य ही संपादन करो॥४९५॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! अत्यन्त पवित्र, समस्त पापोंका नाश करनेवाला, धर्मको बढ़ानेवाला, देवोंसे पूज्य, पूज्य पुरुषोंके उदयको प्रगट करनेवाला और आनन्दका प्रदाता ऐसा कुन्दकुन्द स्वामीका संक्षिप्त जीवन चरित्र कहा है। उसको भावभक्तिसे श्रवण कर आत्मकल्याण करना चाहिये ॥ ४९६ ॥

नदाद्या ये करिष्यंति जिनधर्मप्रभावनाम् । ततो भूप सुयोगीद्रा धर्मस्योद्धारणे क्षमा ॥ ४९७ ॥
अथापर शृणु भूप पचमसमयस्य वै । वृत्तातं भाविक वक्ष्ये सर्वचितासमाधिना ॥ ४९८ ॥
श्रावकाणा मता भूप जिनसेवासुशर्मदा: । पट्क्रिया नित्यपापस्य घातार्थमघरोधका: ॥ ४९९ ॥
पूर्वं श्रीमज्जिनेन्द्रस्य कर्तव्य कल्मपापहम् । अभिपेक वरै: शुद्धै: पचामृतरसैर्घनै: ॥ ५०० ॥
पयेक्षुरससर्पिर्भिर्दुग्धदधिरसोत्करै । स्वर्णरचितकुम्भस्थै: नेत्रानन्दकरै. वरै: ॥ ५०१ ॥
एभीर्गर्मैजिनेन्द्रस्य स्नान कुर्वंति ये नरा. । प्राप्नुवन्ति खलु ते च स्वर्णाद्रौ निर्जरोत्कर: ॥ ५०२ ॥
गन्धादेलागरुघनसारककोलकुङ्कुमै: । कर्पूरादिवरै. द्रव्यै आमोदापूरितावरै: ॥ ५०३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इसके वाद जैनधर्मकी प्रभावना धर्मका उद्धार करनेमें समर्थ ऐसे नन्दाचार्य आदि महर्षिगण करेंगे ॥ ४९७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! अव मैं पंचमकालमें होनेवाले वृत्तांतको कहता हूँ । एकाग्र मनसे श्रवण कर । ऐसा महावीर स्वामीने राजा श्रेणिकसे कहा ॥ ४९८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्रावकोंकी षट्क्रियाएँ परमावश्यक होती हैं। इसलिये उनका स्वरूप जानना परमावश्यक है ॥ ४९९ ॥

अर्थ—श्रावकोंकी समस्त क्रियाओंमेंसे मुख्य क्रिया जिनेन्द्रपूजन है । इस क्रियासे समस्त प्रकारके पाप एकक्षण मात्रमें नाश हो जाते हैं । और सर्व प्रकारके सुख अनायास ही स्वयं प्राप्त हो जाते हैं । अभिषेकपूर्वक ही पूजन होती है । क्योंकि पूजनका प्रारम्भ अभिषेक पाठसे ही होता है । पूजनके पंच अंगोंमेंसे तीन अंग तो अभिषेकके प्रारम्भमें ही करने पड़ते हैं । इसलिये पूजनका अर्थ अभिषेकपूर्वक पूजा है । अभिषेक पंचामृत रसोंसे होता है ॥ ५०० ॥

अर्थ—सबसे प्रथम जलका अभिषेक जिन प्रभुका किया जाता है। फिर क्रमसे इक्षुरस, घृत, दुग्ध, दधि सर्वौषधि आदि रसोंसे स्वर्णके कुंभोंसे करना चाहिए । जो मनुष्य इस पञ्चामृतसे श्रीजिनदेवका अभिषेक करता है वह देवोंसे अभिषेक किया जाता है । फिर एला (इलायची-अगर, गंधसार, चंदन) कंकोल (शीतलचीनी) कुंकुम, कपूर आदि सुगंधित द्रव्योंसे अभिषेक करना चाहिए । सबसे पीछे कलशाभिषेक करना चाहिए । गन्धलेपन,

[illegible]

नीराजनाविधिं पश्चात् चाज्ञानहानये प्रभो । पुरो ह्युत्तारणीयं च सर्वसंपत्तिकारकम् ॥ ५०४ ॥
गृहस्थानामहो भूप सर्वासु च क्रियासु वै । कथितो वीतरागस्य चाभिषेकविधिर्महान् ॥ ५०५ ॥
दिविहि निर्जरा. पूर्वं कृत्वा स्नानं प्रभोर्मुदा । पश्चात्सकलसंपत्तिमंगीकुर्वंति ते खलु ॥ ५०६ ॥
दुग्धाद्यैर्बुधसत्तमा जिनपतेर्बिंबस्य धस्र प्रति । शुद्धै नेत्रमनोहरै सरसकै पापालिनाशाप्तये ॥
स्नानं येन कृतं सदा वररसैस्तेनाप्तमक्षालयं । तस्मात् शर्मप्रदायकं भवहरं स्नानं कुरुध्वं बुधा ॥ ५०७ ॥
कलौ वै मानवा मूढाः चाभिषेकक्रियामिमां । नूनमुत्थापयिष्यंति स्वस्वमतिविपर्ययात् ॥ ५०८ ॥

पुष्पवृष्टि आदि कर नीराजन आरती करना चाहिए । यदि इस क्रमसे पूजाकी जाय तो सर्व संपत्ति प्राप्त होती है । हे राजन् ! यह अभिषेककी मुख्य क्रिया श्रीजिनागममे प्रतिपादन की है । इसलिए यह आगमोक्त क्रिया सब क्रियाओंमें श्रेष्ठ है ॥ ५०१-५०५ ॥

अर्थ—देवलोक स्वर्गमें उत्पन्न होते ही सबसे पहले भगवान्‌का अभिषेक करते है और फिर स्वर्गको संपदाको स्वीकार करते है ॥ ५०६ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवों जो आप सुखकी प्राप्ति चाहते हो तो श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिबिंबका नित्य-प्रति दुग्ध, दहि आदि मनोहर और पवित्र द्रव्योंसे अभिषेक करना चाहिये । पापोंका नाश इस पंचामृत अभिषेकसे एक क्षणमात्रमे होता हैं । और संसारका समूल नाश होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ॥ ५०७ ॥

अर्थ—कलिकालमें मूर्ख मनुष्य अभिषेककी पवित्र क्रियाको उठा देंगे । और अपनी बुद्धिसे अनेक प्रकारकी मिथ्या कल्पना कर जिनागमका लोप करेंगे ॥ ५०८ ॥

अर्थ—कुशिक्षित और मलिन ज्ञानसे सुधरे हुए मूर्ख पुरुष शास्त्रोंके वचनोंका लोप करेंगे और अपनी कीर्तिके लिये नवीन-नवीन मार्ग निकालेंगे ॥ ५०९ ॥

अर्थ—कुशिक्षा और मलिन ज्ञानके संस्कारसे सर्वत्र प्रभुके द्वारा प्रतिपादित आगम ग्रन्थोमे भी दोषको लगायेंगे । और अपनी तुच्छ बुद्धिको सर्वज्ञके अतीन्द्रिय ज्ञानसे अधिक महत्त्वशाली मानेंगे । ऐसे लोग संस्कृत और प्राकृत भाषाके मूलग्रंथोकी वाचना भी छोड़ देंगे । अभिप्राय यह है कि मूलग्रंथोका अभिप्राय तो उनकी

शास्त्राणा वचन मूर्खा लोपयिष्यति निश्चयात् । नूनन नूतन मार्गं करिष्यति स्वकीर्तये ॥ ५०९ ॥
दास्यन्ति सर्वग्रन्थाना दोप स्वमतिसम्बलात् । सस्कृत प्राकृत ग्रन्थं वाचयिष्यन्ति नैव च ॥ ५१० ॥
स्व स्व कल्पितवाक्य च मानयिष्यति ते नराः । जैनागमविनिर्मुक्ता आचार्यागमनिंदकाः ॥ ५११ ॥
स्वस्वमतस्य पक्षस्य पालका गुरुनिंदका । कृतघ्ना ते भविष्यति जैनेन्द्रमतघातका ॥ ५१२ ॥
द्वितीया च क्रिया प्रोक्ता गृहस्थाना जिनेश्वरै. । पूजनाख्या त्रिकाले हि कृता ससारदु.खहा ॥ ५१३ ॥
विभोः पादारविंदाग्रे स्वर्णभृगारनालकात् । दातव्य त्रियमा धारा जन्ममृत्युजरापहाम् ॥ ५१४ ॥

समझमें आवेगा नहीं । केवल उधर-इधरकी सुन सुनाकर अपनी विपरीत बुद्धिके अनुसार लोगोंको बहकावेंगे । ऐसे लोग शास्त्रोको झूठा दोष लगावेंगे और मनमानी कल्पना कर मिथ्या मार्गका या नरक निगोद देनेवाले नीच मार्गका प्रचार करेंगे ॥ ५१० ॥

अर्थ—अपनी-अपनी कपोल कल्पनासे विषय कषायको पुष्ट करनेवाले अथवा मनोनीत, आगमविरुद्ध वाक्यको रचकर मान्य करेंगे और सर्वज्ञप्रणीत परम पवित्र यथार्थ आगमको नहीं मानेंगे तथा आचार्य और शास्त्रोको मिथ्या निंदा करेंगे ॥ ५११ ॥

अर्थ—कुशिक्षा और मिथ्यात्वके सस्कारसे ये लोग अपने पक्षको बनाकर देव-शास्त्र-गुरुओकी निंदा करेंगे । मिथ्या अवर्णवाद लगायेंगे । दोप भी लगायेंगे । सर्वज्ञ प्रभुकी पवित्र आज्ञाको अपवित्र बनानेका प्रयत्न भी करेंगे । पवित्र गुरुओकी निर्दोष चर्यामें दूषण लगावेंगे और उनके गुणोको नहीं देख सकेंगे । सब प्रकारसे जैनमतका घात कर अपनेको समुन्नत मानेंगे । जैनधर्मका समूल नाश करेंगे और उसीको उन्नति बतलायेंगे । ऐसे नीच कलिकालमें अवतार लेंगे ॥ ५१२ ॥

अर्थ—हे भगवन् ! श्रावक की दूसरी क्रिया श्रीजिन देवने भगवान् अरहन्त देवकी पूजन करना बतलाया है । भगवान्की पूजा त्रिकाल करनी चाहिये । जिससे संसारके दुःखोका नाश होता है ॥ ५१३ ॥

अर्थ—श्रीमन् जिनदेवके पवित्र चरणकमलोके आगे स्वर्ण या अन्य धातुकी झारी की नालिकामे तीन धारा देना चाहिए है । यह भक्तिपूर्वक भक्तिसे की जाय तो जन्म-मृत्यु-जराका नाश तत्काल कर देती है॥५१४॥

कुंकुमागरुकर्पूरं सुघृष्य जिनपादयोः । लेपनीय भवातापघातार्थं शुद्धभावतः ॥ ५१५ ॥
अखण्डाक्षतसदोहै शुभै नेत्रमनोहरैः । चाक्षयपदसिद्धयर्थमर्चनीयो जिनेश्वर ॥ ५१६ ॥
कुन्दाब्जजातिवकुलैरन्यै पुष्पोत्करैः वरैः । पूजनीयौ विभोः पादौ मकरध्वजनाशये ॥ ५१७ ॥
शाल्योदनैस्तथा सर्वपक्वान्नव्यञ्जनोत्करैः । क्षुधातकविनाशार्थं पूजनीयो जगत्पतिः ॥ ५१८ ॥
शतसहस्रप्रदीपैराज्यमिश्रितवर्तिजै । उद्योतो जिनपादाग्रे कर्तव्यो मोहहानये ॥ ५१९ ॥
पवत्यादिद्रव्यतोत्पन्नधूपग्येव धनञ्जये । दहन जिनपादाग्रे कर्तव्य कर्महानये ॥ ५२० ॥
केलाम्रगोस्तनीराजादनफलकदवकैः । ढौकनीयौ प्रभोः पादौ शिवशर्मफलाप्तये ॥ ५२१ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव विशुद्ध भावोंसे कुंकुम, अगर, तगर, कर्पूर आदि सुगंधित पदार्थोंको उत्तम प्रकार घिसकर प्रभुके पवित्र चरणकमलोपर लेप करता है उसके संसारके समस्त पापोंका नाश होता है ॥ ५१५ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अखंड अक्षतो के मनोहर शुभ्र पुञ्जोंसे भगवान्की पूजा करता है उसको अक्षय पदकी प्राप्ति होती है ॥ ५१६ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव मोगरा, वकुल, जुई, जाही आदि सुगंधित पुष्पोसे भगवान्के पवित्र चरणकमलों-की पूजा करता है वह कामदेवके मदका नाश करता है ॥ ५१७ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव नैवेद्य, घी, शक्करमें पकाये हुए नाना प्रकारके व्यञ्जनोसे श्रीजिनराजकी पूजा करता है वह क्षुधा रोगका नाश करता ॥ ५१८ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव हजारो लाखों घीके महान् दिव्य दीपक से भगवान् के पवित्र चरण-कमलोंपर प्रकाश करता है वह मोहनीय कर्मका नाश करता है ॥ ५१९ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अगर, तगर आदि सुगंधित द्रव्योंसे बनाई हुई धूपसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्के पवित्र चरण-कमलोंकी पूजा करता है वह कर्मोका नाश करता है ॥ ५२० ॥

अर्थ—जो भव्यजीव केला, आम्र, द्राक्ष, विजोरा, नीबू आदि फलोंके द्वारा भगवान्के पवित्र चरण-कमलों की पूजा करते हैं वे मोक्षके सर्व सुखको प्राप्त होते है ॥ ५२१ ॥

अष्टभेदैर्वरैर्द्रव्यैर्दूर्वादिर्भैश्च सर्षपैः। अर्घं कृत्वा पुनः पादौ पूजनीयौ विभोर्मुदा ॥ ५२२ ॥
जय नंद दयाधीश तारय तारक प्रभो। इत्यादिशब्दनिकरं चानर्घ्यपद मिद्धये ॥ ५२३ ॥
एकैकद्रव्यतो भूप सुखमाप्ता घना जनाः। तेषां नामानि वक्तु कः क्षमोस्ति मादृश विना ॥ ५२४ ॥
तथापि शृणु चाष्टाना नामानि सुखदानि च। वच्मि सक्षेपतो भूप फल चापि फलाप्तये ॥ ५२५ ॥
भारते गुजरे देशे तस्मिन् स्तभपुरे वरे। सोमिलोऽभूच्च भूदेवस्तस्य सोमाभिधा प्रिया ॥ ५२६ ॥
तयोरागमीरसुनो नाम्ना याज्ञवल्कश्च वल्लभः। सोमश्रीरबला तस्य स्वनाथाशक्तमानसा ॥ ५२७ ॥
कियत्यपि गते काले सोमिलश्च मृतो द्विजः। बधुवर्गैस्तदा तस्य सस्कार प्रापिता तनुः ॥ ५२८ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव अष्टद्रव्य और दूर्वा, दर्भ, सरसों आदि मंगलीक द्रव्योंसे भगवान्के चरण कमलों का अर्घ उतारता है वह कर्म नाश करता है ॥ ५२२ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! जय जय जय ! नंद नंद नंद, तारय तारय तारय, हे तारक ! हे दयाधीश ! इत्यादि मगलीक शब्दोंके द्वारा गणगान करें, जिससे मोक्षपदकी प्राप्ति हो ॥ ५२३ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज, जिन भव्य जीवोने भाव भक्तिसे प्रभुको पूजा एक भी द्रव्यसे की है वे परम सुखको प्राप्त हुए है। उनके नाम कहनेको मेरे विना (महावीर प्रभुके समान) अन्य कोई भी समर्थ नही है ॥५२४॥

अर्थ—हे राजन् ! तो भी उनमेंसे कितने ही भव्योंके सुखद नामोको कहता हूँ। जिससे पूजाके फलमें विशेष रुचि हो ॥ ५२५ ॥

अर्थ—भरतक्षेत्रके आर्य खंडमें गुर्जर देशमें एक खभात (स्तंभपुर) नामका नगर प्रसिद्ध था। जिसमें सोमशर्मा नामका एक क्रियाकांडमें निपुण ओर समस्त वेदोका पारगामी ब्राह्मण था। उसकी स्त्रीका नाम सोमा था। दोनो ही वेदधर्ममें बड़े कट्टर थे ॥ ५२६ ॥

अर्थ—उन ब्राह्मणके याज्ञवल्क नामका पुत्र था और उसकी स्त्रीका नाम सोमश्री था। सोमश्री भद्र परिणामी थी और अपने स्वामीकी सेवामें प्रवीण थी ॥ ५२७ ॥

अर्थ—कुछ दिनोंके बाद वह सोमशर्मा (सोमिल) मर गया। उसके कुटुंबियोने मिलकर उसके शरीरका संस्कार किया ॥ ५२८ ॥

द्वादशे वासरे सर्वे सुतमात्रादय खलु । मृतक्रिया च विप्रस्य चक्रुरानदतश्च ते ॥ ५२९ ॥
सोमा स्नुषामिति प्राह सोमश्री मह भीरुभि । व्रज नदी प्रति कुभान् आनय स्वक्रियाप्नये ॥ ५३० ॥
सापि श्रुत्वा इति ता वै आदाय अगमन्नदीम् । तस्मिन्नवसरे तत्र वैश्यसुतापि चागता ॥ ५३१ ॥
सोमश्रीश्च तयाऽभाणि सखे श्रीमज्जिनालये । मयारब्ध शिवाप्त्यर्थं अभिपेको जिनस्य वै ॥ ५३२ ॥
इति श्रुत्वाह सा मोदात् किमस्य चालि हे फलम् । साप्याह सखि भो भद्रे फलयस्य श्रृणु शुभम् ॥ ५३३ ॥
ये गृहस्था जिनेन्द्रस्य पचामृतरसैवरै । अभिपेक प्रकुर्वंति ते भव्यतेत्र निर्जरै ॥ ५३४ ॥
विवुधा सकलास्तस्य सेवा कुर्वंति भावत. । कथयाम्यपरा शोभामतस्ते चाभिपेकजाम् ॥ ५३५ ॥
जिनागारे हि त्वमपि कुभमेक जलभृत । मु च तवापि पुण्याप्ति भविष्यत्येव मत्समा ॥ ५३६ ॥

अर्थ——उस सोमशर्माके मरनेके बाद पुत्र माता आदि कुटुंब परिवारके लोग बारहवे दिवसके संस्कार करने लगे ॥ ५२९ ॥

अर्थ—सोमा ब्राह्मणीने अपनी पुत्रवधूसे कहा कि तेरे स्वसुरका आज बारहवे दिवसका संस्कार है। इसलिये अन्य ब्राह्मणीको साथ ले जाकर नदीसे घड़ोंमें पानी भर ला जिससे संस्कार क्रिया की जावे ॥५३०॥

अर्थ—यह सुनकर सोमश्री अन्य ब्राह्मणियोंके साथ नदीपर पानी भरनेको गई। और वहाँ पर एक सेठकी पुत्री भी पानी भरनेको आई ॥ ५३१ ॥

अर्थ——उस सेठकी पुत्रीने सोमश्री (ब्राह्मणीकी बहूसे कहा कि सखि आज मैने श्रीमज्जिनालयमे परमपूज्य जिनेन्द्र भगवान्‌का अभिषेक महोत्सव प्रारंभ किया है ॥ ५३२ ॥

अर्थ—ऐसा सुनकर सोमश्रीने हर्षसे कहा कि हे सखि इस अभिषेकका क्या फल है ? सेठकी पुत्रीने कहा कि सखि हे भद्रे अभिषेकका महान् दिव्य फल होता है मै उसको संक्षेपसे कहती हूँ सो सुन। जो गृहस्थ श्रीमान् जिनेन्द्र प्रभुका भाव भक्तिसे पंचामृतसे अभिषेक करते है वे देवोंके द्वारा पूजा किये जाते है। इसकी विशेष शोभा मैं फिर कहूँगी ॥ ५३३-५३५ ॥

अर्थ——हे सखि, तू भी एक पवित्र प्रासुक जलसे घड़ा भर कर श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के अभिषेकके लिये श्रीजिन मंदिरमें जाकर चढ़ा। तुझे भी मेरे समान पुण्यकी प्राप्ति होगी ॥ ५३६ ॥

तस्या वचनमाकर्ण्य ह्येक कुंभ सुमोद्त.। आधाय श्रीजिनेन्द्रस्य चागात् स्वस्थानमजसा ॥ ५३७ ॥
धृत्वा सा मंदिरे पूज्ये लेखवृंदैश्च खेचरैः। श्रीजिनस्याभिषेकाय शिवस्थाने शिवाप्तये ॥ ५३८ ॥
सापि मृत्वा सुपुण्येन श्रीधराभिधभूपतेः । श्रीदेव्यायाः सुता जाता कुंभश्रीरप्सरोपमा ॥ ५३९ ॥
तत्रैव सापि मोदेन चकार स्नपन प्रभोः । प्रतिघस्र च दुग्धाद्यैः पूजन वसुद्रव्यत.॥ ५४० ॥
अंते समाधिना मृत्वा परमेष्ठिमत्रतत्परा। सा गता तेन स्वर्गेहि अग्रे यास्यति निर्वृतिं ॥ ५४१ ॥
भो भव्या पश्यथ यूय सत्फल स्नपनस्य वै। प्रत्यक्ष शर्मकर्तारं कुरुध्व स्नपन प्रभोः॥ ५४२ ॥
नार्या मर्त्येन येनैव कृत जिनपदाब्जयोः। लेपन च तयो वक्ष्ये सवध चदनादिभिः॥ ५४३ ॥

अर्थ—सेठकी पुत्रीके वचनोको श्रवण कर सोमश्री ब्राह्मणी भी विशुद्ध भावोसे एक घड़ा प्रासुक पानीका नदीमेंसे बड़े हर्षके साथ भर श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के मंदिरमें जाकर श्रीवीतराग अरहत प्रभु पर चढ़ा आई। और फिर अपने घर पर गई ॥ ५३७ ॥

अर्थ—उस ब्राह्मणी सोमश्रीने देव और विद्याधरोसे पूजित मोक्षका स्थान—महामनोहर ऐसे श्रीजिन-मंदिरमे श्री जिनदेवका अभिषेक किया और वह अतिशय हर्षको प्राप्त हुई ॥ ५३८ ॥

अर्थ—सोमश्री श्री जिनेन्द्र भगवान्‌का एक कुंभके जलसे अभिषेक करनेके फलसे मरकर श्रीधर राजाकी रानीके कुंभश्री नामकी पुत्री उत्पन्न हुई। और उसने वहाँ भी भगवान्‌का अभिषेक किया। पचामृत अभिषेक प्रति दिन किया। आठो द्रव्योसे पूजन की। अंतमें समाधिमरण धारण कर पच नमस्कार मंत्रका ध्यान करती हुई शरीर छोड़कर स्वर्गमे देव हुई। और वहांसे चय कर मोक्ष जायगी ॥५३९-५४१॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! आपने श्रीभगवान्‌का पंचामृतसे अभिषेक करनेका फल प्रत्यक्ष ही देखा। सोमश्रीको कैसा उत्तम फल प्राप्त हुआ। इसलिये सर्व सुखकी प्राप्तिके लिये नित्य ही जिनेंद्र प्रभुका स्नपन करना चाहिये ॥ ५४२ ॥

अर्थ—जो स्त्री पुरुष श्री जिनचरण कमलोपर सुगन्धित चंदनादि द्रव्योसे लेप करता है उसके लिये कथा कहता हूँ ॥ ५४३ ॥

अस्मिन् खगाचले शुभ्रे खगवारविभूपिते । औदीच्याया च श्रेण्याच तस्मिन् रत्नादिसचये ॥ ५४४ ॥
पुरे आसीत् धराधीशो मणिशेखरनामभाक् । तस्य वामाऽभवत् साध्वी नाम्ना शुभमती सुधीः ॥ ५४५ ॥
सम्यक्त्वरत्नभूपाढ्या गुर्वाज्ञापालका शुभा । पत्युर्भक्तिकरा नम्रा प्रभो· पूजनतत्परा ॥ ५४६ ॥
तस्योदरे सुर· कश्चित् सम्यग्दृष्टि जिनार्चकः । ह्यवातरच्च दीप्त्याढ्य· पूर्वपुण्योत्करोदयात् ॥ ५४७ ॥
तत्प्रभावाच्च तस्या हो दोहलोजनि सुन्दरः । अष्टापदगिरीन्द्रस्य यात्रा करोमीति हृदि ॥ ५४८ ॥
पचामृतरसैस्तत्र करोमि स्नपन प्रभोः । तथा काश्मीरकर्पूरगधसारादिभि· खलु ॥ ५४९ ॥
जिनपादाब्जयो लेप सदा सौरभयुक्तयोः । पूज्ययो· सुगवृन्दाद्यैस्ततः पूजा जलादिभि· ॥ ५५० ॥
ध्यात्वेति सह भूपेन सा गत्वा तत्र भूधरे । व्योमयानसमारूढा नत्वा तत्र जिनाधिपान् ॥ ५५१ ॥
पुनः सस्नाप्य सद्भक्त्या दुग्धदध्यादिसद्रसै· । विलेपन चकार सा सुगन्धैः कुकुमादिभिः ॥ ५५२ ॥
पश्चादिज्या च गान च स्तवन तद्गुणोद्भवम् । कृत्वा पुनः चचालासी तस्माच्च स्वपुर प्रति ॥ ५५३ ॥

अर्थ—इस विजयार्ध पर्वतपर उत्तर दिशामें एक रत्नसंचयपुर नामका नगर है ॥ ५४४ ॥

अर्थ—इस रत्नसचयपुर नगरका राजा मणिशेखर नामका विद्याधर था । और उसकी रानी शुभमती थी । यह रानी सम्यग्दृष्टि थी । गुरुकी आज्ञा पालनेवाली थी । पतिसेवामें तत्पर और जिनेन्द्र भगवान्‌की सेवा में लवलीन थी । पूर्वपुण्योदयसे उसके गर्भमें भगवान्‌की पूजा करनेवाले सम्यग्दृष्टि एक पुण्यात्मा देवने अवतार लिया ॥ ५४५-५४७ ॥

अर्थ—उस पुण्यात्मा देवके प्रभावसे शुभमती सतीको दोहल हुआ कि कैलाश पर्वतकी यात्रा करूँ । और कैलाशपर जाकर श्रीजिनेन्द्र देवका पञ्चामृत अभिषेक करूँ तथा सुगन्धित द्रव्यसे परम पवित्र प्रभुके चरण कमलोंका लेप करूँ । फिर अष्टद्रव्यसे पूजा करूँ । ऐसा विचारकर वे दम्पत्ति विमानमें बैठकर कैलाशको गये और वहाँपर प्रभुकी दिव्य प्रतिमाओंका पंचामृत रससे अभिषेक किया और कुंकुमादि सुगन्धित द्रव्योंसे प्रभुके चरणकमलोंपर विलेपन किया ॥ ५४८-५५२ ॥

अर्थ—फिर उस विद्याधरने श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌की अष्ट द्रव्यसे भक्तिपूर्वक पूजा की, भगवान्‌का गान किया, स्तवन किया और प्रभुके गुणोंका स्मरण किया । फिर वहाँसे (कैलाशसे) अपने नगरको आनेका विचार किया ॥ ५५३ ॥

तावत्तद्गह्वरस्थानात् निसृतो गंधदुस्सहः । जनैः सोढुमशक्योपि दुष्टैर्जातजुगुप्सकैः ॥ ५५४ ॥
आघ्राय त च दुर्गंध तया पृष्टः पतिस्तदा । अस्मिन्नामोदसंयुक्ते वने हि नन्दनोपमे ॥ ५५५ ॥
दुर्गन्धः कुतः स्वामिन् आयातो देहदु खदः । कथय सत्वरं भूप कारण मम शातदं ॥ ५५६ ॥
श्रुत्वा इत्याह ता भूपः शृणु त्व प्राणवल्लभे । कश्चिद्योगीश्वरो ह्यत्र दृश्यते ध्यानतत्पर ॥ ५५७ ॥
मलाविलो महाधीरस्तस्य देहस्य योगत । आगतश्च प्रिये चाय दुर्गन्धो नात्र सशय ॥ ५५८ ॥
पतेः वाचमिति श्रुत्वा सा गत्वा तस्य सन्निधे । ददर्श तत्तनु दीप्त तपसा कृपता गतम् ॥ ५५९ ॥
व्याप्ताग स्वेदमल्लौघे ध्यानमग्न निरबर । कायोत्सर्गं स्थित सौम्य चिदात्मरससभृतम् ॥ ५६० ॥
ईदृशस्य मुनीन्द्रस्य किंचिच्चकार सा हृदि । तस्मिन् काले जुगुप्सा च दृष्ट्वा सर्वार्थनाशकम् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—उसी समय पर्वतकी एक गुफामेंसे अत्यन्त दुस्सह दुर्गन्ध ऐसा निकला कि जिसको निर्विचिकित्सा अगके पालनसे रहित (सम्यग्दर्शन विहीन) जीव सहन करनेको सर्वथा असमर्थ हो ॥ ५५४ ॥

अर्थ—उस दुर्गन्धको सूँघते ही शुभमतिने अपने पति विद्याधरसे पूछा कि हे स्वामिन् ! इस परम सुगन्धित नन्दन वनके समान महान् उत्कृष्ट वनमें शरीरको दुःख देनेवाली यह दुर्गन्ध कहाँसे आई ? हे प्रभो ! मुझे सुख देनेवाला इसका कारण कहिये ॥ ५५५-५५६ ॥

अर्थ—अपनी धर्मपत्नी शुभमती रानीके ऐसे वचनोंको सुनकर विद्याधरने कहा कि यहाँपर कोई योगीश्वर अतिशय तपस्वी महान् मलसे पूर्ण हो रहा है और यह दुस्सह दुर्गन्ध उसीके शरीरसे आ रही है इसमें सन्देह नहीं है ॥ ५५७-५५८ ॥

अर्थ—अपने स्वामीके ऐसे वचनोंको सुनकर वह शुभमती रानी शीघ्र ही मुनि समीप गई। और परम देदीप्यमान तपसे कृशित शरीर ऐसे दिव्य मुनिको देखा। जिनके शरीरमें स्वेद (पसेव) के कारण मल बहुत हो गया था। तो भी ध्यानमें तल्लीन थे। कायोत्सर्ग स्थिर थे। शात थे और अपने चैतन्य परमानन्द रस का पान करनेमें तल्लीन थे ॥ ५५९-५६० ॥

अर्थ—ऐसे परमज्ञानी और शरीर से सर्वथा मोह रहित मुनीश्वर को देखकर प्रथम तो उस

पश्चात्प्रासुकनीरेण प्रक्षाल्य तत्तनु च सा। चकार लेपन तस्य कृष्णागुर्वादिजै. रसै ॥ ५६२ ॥
मुनि नत्वा तयो पश्चात् स्तुत्वा स्वपुरमागतौ। शृणु त्व चान्यवृत्तात यज्जात तत्र लेपज ॥ ५६३ ॥
लेपजातसुगधेन तदा मत्ता मधुव्रता। लग्नाश्चागत्य देहस्य मुनेः सहस्रश प्रमा ॥ ५६४ ॥
चैतन्यजडरूपे च पश्यन् भिन्नत्वमजसा। आत्मन्येव तदा तस्थौ स मुनिः धीरभावयुक् ॥ ५६५ ॥
नात्यजत् आत्मनो ध्यान तदा घोरोपसर्गके। वायुना किं नगाधीश. प्रचलत्येव निश्चयात् ॥ ५६६ ॥
तदोपसर्गे सजाते स यतिरात्मवेदक.। स्थिरोऽभवत् शिवाकाक्षी आत्मनि मेरुवत् क्षयी ॥ ५६७ ॥
मुने देहात् पल सर्वमश्नन्ति शोणित तका। तथाप्येष मुनिश्चित्ते न चचाल स्वध्यानतः ॥ ५६८ ॥

रानीने अपने मनमें समस्त प्रकारके अनर्थोंको करनेवाली किंचित् जुगुप्सा (ग्लानि) की। फिर तत्काल ही प्रासुक और पवित्र जलसे मुनीश्वरके शरीरको प्रक्षाल कर अगर, तगर आदि सुगन्धित द्रव्योंका सुगन्धित लेप किया ॥ ५६१-५६२ ॥

अर्थ—मुनीश्वरको नमस्कार कर और स्तुति कर वे दम्पत्ति (विद्याधर व रानी) अपने नगरमें आये। इसके बाद वहाँपर दूसरी कथा बनी, वह सुनो। उस सुगन्धित लेपकी सुगन्धसे मुनीश्वरके शरीरपर हजारों भ्रमर आकर लिपट गये ॥ ५६३-५६४ ॥

अर्थ—वे धीर, वीर मुनीश्वर आत्मा और शरीरको सर्वथा भिन्न-भिन्न विचार करते हुए अपने आत्म विचारमे लवलीन हो गये ॥ ५६५ ॥

अर्थ—यह घोर उपसर्ग आनेपर भी मुनिराजने अपना ध्यान नहीं छोड़ा। सच है कि मेरुपर्वत कहीं वायुसे कम्पित होता है ? ॥ ५६६ ॥

अर्थ—इस प्रकार भ्रमरोंका घोर उपसर्ग आनेपर भी वे मुनीश्वर अपने आत्मीक ध्यानसे रंच मात्र भी चलायमान नहीं हुए। मेरुके समान अडोल रहे ॥ ५६७ ॥

अर्थ—मुनीश्वरके शरीरका सर्व मांस और रक्त भ्रमर (भौरा) भक्षण करने लगे परंतु मुनिराज अपने ध्यानसे रंचमात्र चलचित्त नहीं हुए ॥ ५६८ ॥

एवं पञ्चप्रमे घस्त्रे याते स भार्ययान्वितः । पूर्वोक्तश्चाययौ तत्र यात्रार्थं खचरेश्वरः ॥ ५६९ ॥
नो दृष्टः स यतिश्चात्र सा चाह स्वपतिं प्रति । क गतः स मुनिः स्वामिन् अस्माभिः पूजितश्च यः ॥५७०॥
सर्वत्रालोकना चक्रे श्रुत्वा राज्ञ्युदितं वचः । स खगो भ्रमरैर्युक्तं ददृशाग्रे मुनीश्वरम् ॥ ५७१ ॥
प्रियामाह खगाधीशः पश्य पश्य दयोज्झिते । त्वया भक्त्या कृतो लेपः ह्यत्रानिष्टस्तु जातवान् ॥ ५७२ ॥
सापि श्रुत्वा पते वाच दृष्ट्वा योगीश्वरं तदा । आत्मनः परमा निंदा चकार खचरप्रिया ॥ ५७३ ॥
निर्घाटितास्ततः सर्वे तया षट्पदसचयाः । तदा ध्यानप्रभावेन स लेभे केवलोदयम् ॥ ५७४ ॥
समाययु सुरेन्द्राश्च तस्य पूजार्थमञ्जसा । कृत्वा पूजा जिनेन्द्रस्य तस्थुः तत्रैव भावतः ॥ ५७५ ॥

अर्थ——इस प्रकार यह घोर उपसर्ग पंद्रह दिवसपर्यन्त रहा। पंद्रह दिवस बाद वही विद्याधर और शुभमती रानी कैलाशगिरिकी वंदनाके लिए पुनः वहाँपर आये ॥ ५६९ ॥

अर्थ——शुभमती रानीने अपने स्वामी विद्याधरसे पूछा कि जिन मुनीश्वरको हमने प्रथम पूजा की थी, लेप किया था सो वे यहाँपर दीखते नही हैं कहाँपर गये ॥ ५७० ॥

अर्थ——शुभमती रानीके कहनेसे विद्याधरने मुनीश्वरको सर्वत्र देखा, तब भ्रमरोसे आच्छादित उसी स्थानपर मुनीश्वरको देखा ॥ ५७१ ॥

अर्थ——हे वल्लभे ! हे निष्ठुरे ! देख-देख तेने मुनीश्वरको भक्तिसे सुगन्धित पदार्थोंका लेप किया परंतु बिना विचारे हुए कार्यका कैसा अनिष्ट परिणाम हुआ है ॥ ५७२ ॥

अर्थ——शुभमती रानीने अपने स्वामीके ऐसे वचनोको सुनकर और मुनीश्वरका घोर उपसर्ग देखकर अपनी घोर निंदा की ॥ ५७३ ॥

अर्थ——शुभमती रानीने उन समस्त भ्रमरोको दूर किया। उपसर्गके निवारण होते ही ध्यानके प्रभावसे चार घातिया कर्मोंका नाश हुआ और मुनीश्वरको केवलज्ञान प्रगट हुआ ॥ ५७४ ॥

अर्थ——उसी समय मुनिराजके केवलज्ञानकी पूजा करनेके लिए देवगण आये और भगवान्‌की पूजा कर तदनंतर धर्मोपदेश श्रवण करनेके लिए ठहरे ॥ ५७५ ॥

सप्रिय: सोपि त नत्वा स्तुत्वा तद्गुणजै: गुणै- । स्वस्य पापविनाशार्थं तदग्रे चाहतुश्च तौ ॥ ५७६ ॥
भो जिनेन्द्र दयाधीश सर्वपापविभजक । ते नमोस्तु महावीर हतस्व नश्च दुष्कृतम् ॥ ५७७ ॥
अस्माभिर्भक्तिबुद्धया च विलेपन दयापते । यत्कृत भवना जातमुपसर्गकर च तत् ॥ ५७८ ॥
सन्निधेरात्मनस्तस्य दपती तौ पुन पुन: । कृत्वा निंदा गतौ स्वस्य पुरे तद्गुणचिंतकौ ॥ ५७९ ॥
पुण्योदयाच्च सा लेभे सुत कल्याणसज्ञकम् । पश्चाद्दीक्षा गृहीत्वा च भर्त्रा साक गता दिवि ॥ ५८० ॥
तस्माच्च्युत्वा सुरी सापि ह्यस्मिन् रजतपर्वते । वैजयतपुरे जात: पुष्पदताभिधो नृप. ॥ ५८१ ॥
सुभद्रा भामिनी तस्य सजाता भद्ररूपभा । तस्या कुक्षौ समुत्पन्ना सुता च मदनावली ॥ ५८२ ॥
क्रमत सापि सजाता यौवनाढ्या प्रियवदा । सिंहध्वजेन भूपेन परिणीता स्वयवरे ॥ ५८३ ॥ ८

अर्थ––उस विद्याधरने भी अपनी रानी शुभमतीके साथ केवली भगवान्‌को नमस्कार कर अपने पापों-के नाशके लिए भगवान्‌से पूछा ॥ ५७६ ॥

अर्थ––हे जिनेन्द्र ! हे पापमर्दक ! हे दयालु, हे केवलज्ञान साम्राज्य नायक ! प्रभो ! आपको बार-बार नमस्कार है । हे प्रभो ! हमारे अपराधोका नाश कीजिए । हमने आपके शरीरमें गंधका लेप भक्तिभावनासे लगाया था । परतु वही लेप आपको उपसर्गका कारण हो गया । अज्ञानी जीवोंमें विचार नही रहता । हे प्रभो ! यह अपराध नाश करिये । इस प्रकार अपनी निंदा कर वे दम्पति (विद्याधर और शुभमती रानी) अपने नगर-को गये ॥ ५७७-५७९ ॥

अर्थ––भगवान्‌की चंदनकी पूजाके पुण्यप्रभावसे शुभमती रानीके कल्याणकुंवर नामका अत्र पुत्र उत्पन्न हुआ । इस प्रकार पुत्र राज्य आदिके उत्तम सुखोंको भोग कर और अन्तमें श्रीभगवती जिनदीक्षाको अपने पति-के साथ स्वीकार कर स्वर्गमें वह रानी देवी हुई ॥ ५८० ॥

अर्थ––आयुष्य क्षय होनेपर शुभमती रानीका जीव देवी पर्यायको छोड़कर विजयार्द्ध पर्वतपर वैजयन्त नगरके राजा पुष्पदंतकी सुन्दरी रानी सुभद्राके मदनावली नामकी पुत्री उत्पन्न हुई ॥ ५८१-५८२ ॥

अर्थ––वह मदनावली क्रमसे यौवन अवस्थाको प्राप्त हुई और स्वयम्वरमें उसका सिंहध्वज राजाके साथ पाणिग्रहण हो गया ॥ ५८३ ॥

ततश्च तौ गत काल न जानतौ वृषोदयात् । शर्मंमग्नौ च सर्वे ते जायते शर्मसचया: ॥ ५८४ ॥
मुनिनिंदोत्थपापेन तस्या देहे महानभूत् । दु खसदायक: क्रूरो दुर्गंधो दुस्सहो अहो ॥ ५८५ ॥
तस्या दुर्गंधनाशार्थं कृतानेकाश्च भेषजा: । चिकित्सकैस्तथाप्येव नैति वै शातता च सा ॥ ५८६ ॥
तत: मापि पुरेबाह्यमद्मनि दु खपूरिता । वाम चकार तत्रापि रुदती चेत्यचिंतयत् ॥ ५८७ ॥
पापिन्या: किं कृत पाप मया हि पूर्वजन्मनि । इत्येवाचिनयत् चित्ते यावदास्ते शुचान्विता ॥ ५८८ ॥
तावदवधिनेत्रेण पूर्वोक्त. खचरेश्वर: । तस्या: पति: गत स्वर्गे ज्ञात्वा तस्या सुदु.खक ॥ ५८९ ॥
आजगाम सुरस्तत्र तस्याग्रे सकल स्वक । वृत्तात पूर्वज निद्य कथयामास मोदत: ॥ ५९० ॥
पुन उत्याह त्व भावात् सप्ताहानि प्रमाणि च । पचामृतरसै: शुद्धै जिनाना स्नपन कुरु ॥ ५९१ ॥
तत काश्मीरकर्पूरगन्धसारजसद्रसै । जिनाना शुद्धभावेन पादयो लेपन कुरु ॥ ५९२ ॥

अर्थ——मदनावलीने पूर्व पुण्योदयसे अपने स्वामीके साथ संपूर्ण सुखको भोगते हुए कितना समय व्यतीत हो गया यह नही जाना । सो ठीक ही है, पुण्योदयसे सब कुछ होता है ॥ ५८४ ॥

अर्थ——मदनावलीके जीवने प्रथम शुभमती रानीकी पर्यायमे मुनिके शरीरकी दुर्गन्धीको देखकर यत्किंचित् निन्दा की थी, उस पापके उदयसे उसके शरीरमें दुस्सह दुर्गन्ध उत्पन्न हो गई जिसको नगर निवासी मनुष्य सहन नहीं कर सके । राजाने इसलिए उस अतिशय प्यारी मदनावलीको नगरके बाह्य एक राजमंदिरमें रखी । और उसका वहाँपर सब प्रकारसे दुर्गन्ध दूर करनेका प्रयत्न किया । परतु वैद्योसे वह दुर्गन्ध दूर नही हुई । तब मदनावली दु.खसे इस प्रकार विचार करने लगी ॥ ५८५-५८८ ॥

अर्थ—हाय ! हाय ! पापिनी मैंने पूर्वभवमें ऐसा कौन-सा भयङ्कर पाप किया होगा कि जिसके फलसे यह दारुण दुःख मुझे प्राप्त हुआ । ऐसा विचार मदनावली अपने मनमें कर रही थी कि उसी समय पूर्वभवके स्वामी विद्याधरका जीव (जो विद्याधरकी पर्यायमे स्वर्गमें देव हुआ था) स्वर्गसे मदनावलीके पास आया । मदनावलीने पीछले पूर्वभवमें मुनि निन्दा की थी और उसके फलसे ही यह रोग हो गया है, ऐसा मुनि निन्दा सम्बंधी समस्त पूर्वभवका वृत्तांत उस देवने बतलाया ॥ ५८९-५९० ॥

अर्थ——उस देवने फिर कहा कि हे मदनावलि ! तू सात दिवस पर्यन्त भावोसे श्रीजिनदेवका पंचामृत रससे अभिषेक कर और पवित्र सुगन्धित केशर, कर्पूर, चंदन आदि पदार्थोंके रससे श्रीजिनदेवके पवित्र चरण-

अनेनैव प्रयोगेण त्वत्तनौ शातता खलु। भविष्यति प्रिये नात्र संदेहमाकुरुष्व भो ॥ ५९३ ॥
इत्याख्याय सुरो दक्ष स्वस्थाने च गतस्तत । तच्छ्रुत्वा सापि तत्सर्वं चकार स्वस्य शातये ॥ ५९४ ॥
त्रिकाले सा जिनेन्द्राणामभिषेक विधानत.। चक्रे च पादयोर्लेप नित्य सुगन्धजै रसै ॥ ५९५ ॥
एव च क्रियमाणे हि तस्या देहोऽभवन्महान्। सुगन्धाढ्यश्च सर्वेषा प्रिय. स्नानप्रभावत ॥ ५९६ ॥
प्रतिघस्न तत सापि चकार घनमोदतः। अभिषेक जिनेन्द्राणा पादयोः लेपन तथा ॥ ५९७ ॥
काललब्ध्या ततः सापि लात्वा दीक्षा जगन्नुताम्। दुर्धर च तपस्तेपे कर्मवृन्दारिहानये ॥ ५९८ ॥
अन्ते सन्यासमादाय विशुद्धमनसा तप । प्रभावात् सा निहत्याशु स्त्रीलिंग निंदित बुधै. ॥ ५९९ ॥
समाप पचमे नाके देवत्व शर्मसभृते । धर्मत शिवसप्राप्तिः का कथा नाकसद्मनः॥ ६०० ॥
सोमरो दिव्यसौख्यानि प्रभुज्यति स सर्वदा। पूर्वधर्मप्रभावेन धर्मतो दुर्घट च किम् ॥ ६०१ ॥
तस्माच्च्युत्वा स्वकालाते नरजन्म शुभे कुले। सप्राप्य सयम धृत्वा सोमरः शिवसिद्धये ॥ ६०२ ॥

कमलोंका लेप कर तो ऐसा करनेसे तेरी यह दुस्सह व्याधि शीघ्र ही शमन हो जायगी। इसमे जरा भी संदेह नही। ऐसा कहकर वह देव अपने स्थानको गया और मदनावलीने वह सब विधि समस्त सांगोपांग की ॥५९१-५९४॥

अर्थ—मदनावलीने अपने रोगकी शांतिके लिए तीनो काल पंचामृतसे श्रीजिनदेवका अभिषेक किया और सुगन्धित पदार्थोंके रससे प्रभुके पवित्र और सुगंधित चरणोंपर लेप किया। इस प्रकार करनेसे उसकी देह अत्यन्त सुगंधित तथा सुन्दर हो गई ॥ ५९५-५९६ ॥

अर्थ—तदनन्तर वह मदनावली हर्षके साथ प्रति दिवस श्रीजिनदेवका पंचामृताभिषेक करने लगी। और सुगंधित द्रव्योसे जिनेंद्र चरणोका लेप करने लगी। काललब्धि प्राप्त कर वह मदनावली श्रीभगवती जिनेन्द्र-दीक्षाको धारण कर दुर्धर तपश्चरण करने लगी। अतमें विशुद्ध भावोसे संन्यास धारण कर स्त्रीलिंगको छेद पाँचवें स्वर्गमें देव हुई। सच है धर्मसे सब कुछ होता है। जब मोक्षकी प्राप्ति धर्मसे होती है तो स्वर्गकी प्राप्ति में क्या आश्चर्य ? ॥ ५९७-६०० ॥

अर्थ—यह देव स्वर्गके दिव्य सुखोको प्राप्त हुआ। सो ठीक ही है क्योंकि धर्मके प्रभावसे कोई भी कार्य दुर्घट नहीं रहता ॥ ६०१ ॥

अर्थ—वह देव स्वर्गसे चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर और जिनेन्द्र भगवान्‌की पवित्र दीक्षाको

यास्यति कर्मनिर्णाशात् सिद्धस्थानेच्युतोपमे। मुनिः भो मगधाधीश तत्रापि सर्वपूजितम् ॥ ६०३ ॥
भो भव्या. श्रीजिनेन्द्रस्य पादयोश्च प्रलेपनात्। सुखमाप्ता च सा राज्ञी प्रत्यक्ष खलु पश्यथ ॥ ६०४ ॥
चदनस्य प्रलेपेन सुखमाप्ता घना जना.। लेपनीयौ जिनपादौ ह्यतश्चदनकुकुमै ॥ ६०५ ॥
शुक कीरी जिनेन्द्रस्य पादाग्रे घृतमजसा। शालिकण पुनः तौहि गतौ स्वर्गे मनोहरे ॥ ६०६ ॥
यास्यत. क्रमतो मोक्षे वृवा नित्य जिनोत्तमम्। पूजयध्व वरैः शुद्धैरक्षतैरक्षताप्तये ॥ ६०७ ॥
पृथ्वीधै. कुदपद्मोघै विभो पूजा कृता ह्यतः। लीलावत्यभिधा श्रेष्ठश्रेष्ठिन्या प्रतिवासरम् ॥ ६०८ ॥
दिवि या च गता ह्यग्रे मोक्ष यास्यति निश्चयात्। अतो भव्या जिनेन्द्राश्च पूजयध्व सुपुष्पत ॥ ६०९ ॥
हालिकाभिधवैश्यो यत्युपदेशात् कृतीति वै। नियम एकग्रामेन पूजयिष्यामि वै जिनम् ॥ ६१० ॥
सोपि नृपार्चितो जात तत्फलेन पुनश्च स। दीक्षा जैनेश्वरी धृत्वा दिवि देवोऽभवत्खलु ॥ ६११ ॥

धारण कर मोक्षको प्राप्त होगा। हे श्रेणिक महाराज! यह सब महिमा भगवान् पर चंदन चढानेके पुण्यके फल की है। भगवान्के चरणकमलोकी चदनसे पूजा करनेका महान् फल है ॥ ६०२-६०३ ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो! श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र चरणकमलोपर चंदनका लेप करनेके फलसे मदनावलीने प्रत्यक्ष फल प्राप्त किया। भगवान्के चरण-कमलपर चदनका प्रलेप करनेसे वहुतसे जीव सुखको प्राप्त हुए हैं, इसलिए चदनसे पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ ६०४-६०५ ॥

अर्थ—एक तोता दम्पति (तोताके जोडा) ने श्रीजिनेन्द्र भगवान्के पवित्र चरण-कमलोकी अक्षतके कणोंसे भक्तिपूर्वक पूजा की। उसके फलसे वे दोनो स्वर्गको प्राप्त हुए। और क्रमसे मोक्षको प्राप्त होगे। इसलिए भव्यजीवोंको शुद्ध अक्षतोंसे श्री जिनेन्द्र देवकी पूजा नित्य ही करनी चाहिये ॥ ६०६-६०७ ॥

अर्थ—श्रीजिनेंद्र भगवान्के पवित्र चरणकमलोकी कुद, पद्म, चमेली, गुलाब आदिके फूलोसे पूजा कर के लीलावती नामकी सेठानीने स्वर्ग पद प्राप्त किया और क्रमसे मोक्षको जायगी। इसलिये भव्यजीवोंको भगवान् जिनेन्द्र देवकी फूलोंसे पूजा नित्य करना चाहिये ॥ ६०८-६०९ ॥

अर्थ—एक मुनिराजके धर्मोपदेशसे हालिक नामके एक अतिशय दरिद्र वैश्यने श्रीजिनेन्द्र भगवान्के पवित्र चरणकमलोंपर समस्त एक ग्रास मात्र चढानेका नियम लिया था। उस पुण्यके प्रभावसे उसका उसी

सोऽमर स्वर्गतश्च्युत्वा लप्स्यति मोक्षमक्षयम् । कुर्वंतु सर्वदा भव्या नैवेद्यै पूजन प्रभो ॥ ६१२ ॥
जिनपादारविंदाग्रे नाशार्थं मोहकर्मण । यत् खलु शुद्धभावेन दीपस्योद्योतन कृतम् ॥ ६१३ ॥
धूपश्रीकन्यका जाता दिवि देवागनापि सा । चाग्रे यास्यति मोक्ष हि अनुक्रमाच्च सा मुरी ॥ ६१४ ॥
विनयधरो नाम्नेति श्रेष्ठिपुत्रश्च शुद्धधी । धूपपूजाप्रभावेन तुर्यकल्पेऽमरोभवत् ॥ ६१५ ॥
सोपि यास्यति भो भव्या ह्यनुक्रमात् शिवास्पद । पूजयध्व जिनेंद्र वै धूपव्यूहै शिवाप्तये ॥ ६१६ ॥
रूपिणी नामत ख्याता दरिद्रवणिजात्मजा । केलाम्रादि फलौघ च सा जिनाग्रे फलाप्तये ॥ ६१७ ॥
धृत्वा इत्याह भो स्वामिन् देहि मोक्षफल च मे । कृत्वा प्रतिदिन चैव मृत्वा समाधिना ततः ॥ ६१८ ॥
आद्ये स्वर्गेमरो जातश्च ग्रे मोक्ष गमिष्यति । फलेज्याफलतो भव्याः किं न स्यात् शर्मसततिः ॥ ६१९ ॥

पर्यायमे समस्त दरिद्रताका दुःख दूर हो गया और राजासे पूजित हुआ । अन्तमें मरकर वह स्वर्गमें देव हुआ । और आगे वह मोक्षको नियमसे प्राप्त होगा । इसलिये भव्य जोवोको भगवान् जिनेन्द्र देवकी पूजा नैवेद्यसे प्रतिदिन करनी चाहिये ॥ ६१०-६१२ ॥

अर्थ—मोहनीय कर्मका नाश करनेके लिये श्रीजिनदेवके समक्ष शुद्ध भावोसे दीपकोका उद्योत अवश्य ही करना चाहिये । धूपश्री नामकी कन्याने दीपकी पूजाके फलसे स्वर्गमे देवांगनाको पर्याय प्राप्त की । और क्रमसे मोक्षको भी प्राप्त करेगी ॥ ६१३-६१४ ॥

अर्थ—विनयंधर नामके एक सेठके पुत्रने शुद्ध भावोसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्की धूपसे पूजा की । उसके फलसे वह चोथे स्वर्गमें देव हुआ । और वहाँसे चयकर क्रमसे मोक्षको जायगा । इसलिये हे भव्यजीवो धूपसे भगवान्की पूजा महान् फल देनेवाली है । इसे प्रतिदिन करो ॥ ६१५-६१६ ॥

अर्थ—मोक्षफलकी इच्छासे रूपिणी नामकी एक दरिद्र वणिकपुत्रीने केला, आम, नारंगी, नीबू आदि उत्तम फलोंसे श्री जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की उसके फलसे वह मरकर स्वर्गमें देव हुई । और फिर वहाँसे चयकर मनुष्य पर्यायको प्राप्त कर मोक्षको प्राप्त होगी । फलोंकी पूजासे भव्यजीवोको समस्त प्रकारके सुख प्राप्त होते हैं ॥ ६१७-६१९ ॥

एकैकद्रव्ययोगेन पूजयित्वा जिनाधिपम् । सम्प्राप्ताः शर्मनिकर नराश्च बहवो भुवि ॥ ६२० ॥
विष्णुभट्टो द्विजश्चैको वसुद्रव्यैर्जिन मुदा । पूजयित्वा दिवि चाद्ये सजातो देवराट् खलु ॥ ६२१ ॥
भेकाद्या सद्भावेन जिनपूजात्तमानसा. । तेपि स्वर्गं गता भव्या अतः कुर्वन्तु ता सदा ॥ ६२२ ॥
पूजा ये नरसत्तमा सुविधिना कुर्वन्ति ते निश्चयात्, इन्द्रस्यैव खगेन्द्रपन्नगपते. भूतिं समाप्याशु वै ।
यान्त्यत्येव शिवास्पद मुनिनुत नाशादिकर्मोज्झित, मत्वेत्येव बुधोत्तमा जिनपतेः इज्या कुरुध्व च भो ॥ ६२३ ॥
अनेन विधिना भूप कलौ मूढाश्च ये नरा. । करिष्यति जिनेन्द्राणा पूजा नैव मदोद्धताः ॥ ६२४ ॥
तस्मिन् तद्दुद्भवा. क्रूरा. सुबोधलववर्जिताः । वचनोत्थापका स्वस्यागमस्यैव प्रतिश्चयात् ॥ ६२५ ॥
अगपूर्वा नगाधीश स्थास्यति मत्पर खलु । पञ्चत्तुसोमवर्षाते प्रत्याष्टहीनतश्च ये ॥ ६२६ ॥

अर्थ—एक एक द्रव्यसे ही भावभक्ति पूर्वक श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा करनेवाले बहुतसे भव्य जीव उत्तम सुखको प्राप्त हुए हैं ॥ ६२० ॥

अर्थ—विष्णुभट्ट नामक एक ब्राह्मणने श्रीजिनेन्द्र देवकी आठ द्रव्योंसे पूजा की थी उसके फलसे वह इन्द्रपदको प्राप्त हुआ ॥ ६२१ ॥

अर्थ—मेंढक आदि क्षुद्र पर्यायके धारक जीवोने भावोंकी विशुद्धिसे श्रीजिनदेवकी पूजा की और स्वर्गादिक उत्तम पद की प्राप्ति की । इसलिए भगवान् जिनेन्द्र देवकी पूजा सदा करते रहना चाहिये ॥ ६२२ ॥

अर्थ—जो भव्यजीव भव्य भावोसे विधिपूर्वक श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा करते हैं वे निश्चयसे इन्द्र, धरणेन्द्र आदि की महान् दिव्य विभूतिको प्राप्त होते हैं । वे भव्यजीव मुनियोसे पूज्य और समस्त प्रकारके कर्मोंसे रहित ऐसी मोक्षको प्राप्त होते है । इसलिए भव्यजीवोको भगवान्‌की नित्य पूजन करनी चाहिए ॥६२३॥

अर्थ—हे राजन् ! शास्त्रोकी उपर्युक्त विधिसे जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा नहीं करते हैं वे मदोन्मत्त उनसे उत्पन्न क्रूर और हठग्राही बन जाते हैं उनका सम्यग्ज्ञान नष्ट हो जाता है । जो आगमके वचनोका उत्थापन करना है उनका सम्यग्ज्ञान नहीं होता ॥ ६२४-६२५ ॥

अर्थ—श्रीवर्धमान स्वामीने राजा श्रेणिकसे कहा कि हे राजन् ! मेरे निर्वाण होनेके बाद ... अगपूर्वोका ज्ञान पूर्ण रूपसे होगा ॥ ६२६ ॥

चाग्रे धर्मप्रकाशार्थं करिष्यन्ति मुनीश्वराः। ग्रन्थाना सकलाना च पर्णेषु रचना खलु ॥ ६२७ ॥
हायन प्रति तस्मिन् वै मुनिमार्गस्य हानिता। भविष्यति शरीरस्य हीनसहननाश्च वै ॥ ६२८ ॥
जिनधर्मात् भविष्यति भूदेवा [1]भूमिपास्तदा। सुबोधवर्जिताश्चास्य निंदकाश्च परान्मुखाः ॥ ६२९ ॥
ह्यतो मुनिपदस्यैव धारका पुरुषाः कलौ। तुच्छा[2] जानीहि त्व भूप यथा भूपास्तथा प्रजाः ॥ ६३० ॥

अर्थ—इसके बाद मुनीश्वरगण निःस्वार्थ और पवित्र वृत्तिसे धर्म प्रकाशनके लिये श्री जिनदेवकी ही वाणीको ताड़-पत्रपर लिखकर ग्रन्थोकी रचना करेंगे ॥ ६२७ ॥

अर्थ—इसके बाद क्रमसे प्रतिवर्ष मुनिमार्गकी हानि होती जायेगी। पंचमकालमें हीन संहनन होनेसे सिंह वृत्तिके चारित्रको धारण करनेवाले विरले ही होंगे ॥ ६२८ ॥

अर्थ—हे राजन्! पंचमकालमें राजा और ब्राह्मण जिनधर्मसे परान्मुख हो जायेंगे। उनमें सम्यग्ज्ञान-का अभाव हो जायेगा जिससे वे उलटे जैनधर्मके निन्दक बन जायेंगे ॥ ६२९ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक उपर्युक्त कारणोसे मुनिपदके धारक वीर पुरुषोंकी संख्या स्वल्प होगी। सो ठीक ही है जैसा राजा वैसी प्रजा होती है ॥ ६३० ॥

---

१ धर्मकी स्थिति और वृद्धिके कारण राजा धर्मगुरु और निर्ग्रन्थ ऋषिगण माने है। राजा यदि नीतिवान् सदाचारी और सत्य धर्ममे तत्पर है तो प्रजा भी राजाके समान नीतिमान सदाचारी और धर्ममे तत्पर होगी। यथा राजा तथा प्रजा। वर्तमान समयमे राजाओमे धर्मवासना, नीति और सदाचारका अभाव हो गया तो प्रजा भी वैसी हो गई। ऐसे कायदे कानून बन गये जिनसे अधर्म फैलाया जा सके, हिंसा की जा सके, व्यभिचारमे धर्म कायदा कानूनसे होने लग गया। इसी प्रकार धर्मगुरु ब्राह्मण गृहस्थाचार्योंके अभाव होनेसे (ब्राह्मण लोगोने जैनधर्म छोड देनेसे) सोलह संस्कार और उत्तम आचरणोका अभाव हो गया। नीति प्रतिदिन उठने लग गई। ब्राह्मणोकी देखा-देखी अन्य प्रजा भी धर्मसे परान्मुख हो गई। निर्ग्रन्थ ऋषियोका अभाव होनेसे धर्मका मूल ही नष्ट हो गया। लोगोने धर्ममे मनमानी कल्पना कर ली और ऋषिगणोके अभावके कारण उपदेश न होनेसे जैनसंख्याका अभाव हुआ। नवीन जैन बनते नही, जो हैं सो अन्य धर्म स्वीकार करने लगे।

२. धर्मकी वृद्धि और पवित्रताको स्थिरता रखनेवालोमे मुख्य मुनिराज ही होते है। वे एक साथ हजारो जीवोसे अधर्म छुड़ाकर सबको धर्म मार्गमे लगा सकते है। ऐसी सामर्थ्य गृहस्थमे नही होती है, परन्तु कालके दोषसे अपने धर्मभाई ही मुनियो की निंदा कर मुनिधर्म को उठानेका प्रयत्न करेंगे। मुनियोमे मिथ्या अवर्णवाद लगावेगे। इन कठिनाइयोसे मुनि धर्मका अभाव होगा। और मुनि धर्मके अभाव होनेसे जैनधर्म को भी अत्यन्त हानि होगी।

आदिवीरस्य पुत्रेण रचिता ब्राह्मणाश्च ये । जिनधर्मप्रकाशार्थं पूज्याः सर्वेषु चोत्तमाः ॥ ६३१ ॥
जिनधर्मविनाशाय ते च जाता बुधोत्तमाः । दुष्टकालप्रदोषेण न दोषः कस्यचिद् भुवि ॥ ६३२ ॥
तुर्यकाले समाः सर्वे वैश्याश्च क्षत्रिया द्विजाः । खलु चैकेव चेष्टाढ्या जिनधर्मप्रसेवकाः ॥ ६३३ ॥
अस्मिन् भूपा द्विजा सर्वे प्राप्ताश्चैकत्वता खलु । केवलं च स्थिता वैश्याश्चैकाश्चास्य प्रपालकाः ॥ ६३४ ॥
अतो हि श्रीजिनेन्द्रोक्तो धर्मोयं दृश्यते च व । अल्पवत्तस्य दृष्टांत शृणुथ यन्मयोदितम् ॥ ६३५ ॥
कठोरवो यथा मत्तवारणारसक्षयम् । क्षणेनैकेन सकुर्यात् एकश्च नात्र सशय ॥ ६३६ ॥
स च आम्रतरुस्थाना फलानामदनेषु च । नो क्षम कारण किं तु विपक्षत्वात् बुधा खलु ॥ ६३७ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! श्री आदिप्रभु भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तीने जिन ब्राह्मणोंकी स्थापना, धर्मकी वृद्धि और धर्मकी पवित्रता स्थिर रखनेके लिये की थी—इसलिये जिन ब्राह्मणोको पूज्य माना था और सर्व वर्णोंमें श्रेष्ठता प्राप्त हुई थी वे ही ब्राह्मण जैनधर्मके नाशक, निन्दक और द्वेष करनेवाले हो जायँगे। यह सब कालका ही दोष है। इसमें किसीका अपराध नही ॥ ६३१-६३२ ॥

अर्थ—चौथे कालमें समस्त वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मणोंको एक समान क्रिया, आचरण और धार्मिक प्रवृत्ति थी। इसलिये सब एक ही जिनधर्मके सेवन करनेवाले धार्मिक थे ॥ ६३३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पञ्चम कालमें तो समस्त ब्राह्मण एवं राजा गण विधर्मी, क्रिया भ्रष्ट और सदाचार विहीन हो गये। एक केवल वैश्य ही जिनधर्मके प्रतिपालक रह गये ॥ ६३४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इसीलिये यह सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म इस पंचमकालमें अल्प संख्याधारक जीवोंमें ही देखा जाता है। उसका दृष्टांत बतलाते है ॥ ६३५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! महापराक्रमशाली सिंह अकेला ही समस्त गजोंको मारकर शीघ्र ही भगा देता है। [illegible] भी [illegible] नही है। सिंहकी शक्ति सर्वोपरि और सर्वोत्कृष्ट है। तो भी वह पर्वतपरके आम्रके फलोंको [illegible] नही है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण यही है कि उसके पक्ष (पंख) नही है। यद्यपि [illegible] है और [illegible] हीन है। तथापि वह पक्ष या पंखोंको धारण करनेवाला है। इसलिए अर्थात् केवल [illegible] उन पर्वतके आमके फलोंको खानेमें समर्थ हो जाता है। अभिप्राय यह है

ध्वाक्षश्च शक्तिहीनाढ्यः तथापि पक्षभाक् खलु। स्याददनेषु तेषां च जातिहीनोपि स क्षमः ॥ ६३८ ॥
ह्यस्त्यनतश्च ससारे पक्षः स्यात् यस्य दृश्यते। महत्त्वत्व च तस्यैव तदृते अमहत्वता ॥ ६३९ ॥

कि फल एक सर्वोत्तम पदार्थ है। उसको पक्षधारी पक्षी ही खा सकते हैं। पक्ष रहित होनेसे सबसे अधिक बलवान सिंह भी उनको नहीं खा सकता। इसी प्रकार मोक्ष भी एक सर्वोत्तम पदार्थ है। उसको वही पा सकता है जिसके भगवान् अरहन्त देवका पक्ष है। जिसके अरहन्त भगवान्का पक्ष नही है, उनके वचनोंमें जिसका श्रद्धान नहीं है उसे कभी मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। इसलिये मोक्ष प्राप्त करनेके लिये भगवान् अरहन्त देवके वचनोंका पक्ष अवश्य रखना चाहिये। भगवान् अरहंत देवके वचनोंका श्रद्धान करना ही मोक्षका मूल कारण है।

अथवा समुदाय शक्तिसे जातिहीन मनुष्य अपने ऐसे कार्य निकाल लेते है। जो समुदाय शक्ति रहित उत्तम जाति वालोसे भी नहीं हो सकें। परंतु इसमें बड़प्पन नही है। बड़े-बड़े शक्तिशालियोंको नीचा दिखा देते है ॥ ६३६-६३८ ॥

अर्थ—हे राजन्! कलिकालमें इस संसारमें जिसके पक्षमें बहुत-सी संख्या है वह अपना बल प्रकट करेगा, उसका महत्त्व प्रकट होगा। और जिनके पक्षमें संख्या स्वल्प है वे सर्वांग शक्तिशाली होनेपर भी अपना महत्त्व प्रकट नही कर सकेंगे। अपना जैनधर्म यद्यपि संसारमें सर्वोत्कृष्ट है, सर्वोत्तम है, पवित्र है, सदाचारसे परिपूर्ण है परंतु राजाओंका पक्ष न रहनेसे कमजोर हो गया है। इसी प्रकार मुनिवर्गका पक्ष जबसे कम होने लगा तबसे उसका महत्त्व छुपता जाता है। इसलिए जो लोग धर्मका महत्त्व प्रकट करना चाहते हैं उनको धर्म-गुरुओंकी आज्ञा शिरोधार्य कर धर्मके रहस्य जाननेवाले सच्चे विद्वान् त्यागियोंकी पक्षमें रहकर अपने धर्मकी रक्षा और वृद्धि करनी चाहिये। जो सुधारक मुनिगण और विद्वानोके सत्य और आगमोचित पक्षको छोड़कर धर्मके बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं और धर्मकी पवित्रता विधवाविवाह, जाति-पांति लोप और विजातीय विवाह आदि धर्मविरुद्ध कारणोंसे नष्ट करना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिए कि इस प्रकार पक्षभेद कर देनेसे धर्मका सत्यानाश ही होगा। समुन्नति नही ॥ ६३९ ॥

मिश्रकाले च अस्यैव पालका धारका नृपा.। प्रजाः सर्वा द्विजा. सर्वे अतः सर्वेषु भो बुधाः ॥ ६४० ॥
उत्तमना च ह्यस्यैव अन्यस्य न्यूनता खलु । तदृते ननु विज्ञेय विपरीतस्य कारणम् ॥ ६४१ ॥
कलौ धर्मप्रकाशार्थं सर्वलोकस्य साक्षित । नूतना स्थापना लोका. करिष्यति च मायिनः ॥ ६४२ ॥
केचिच्च द्वेषका मर्त्या केचिच्च सेवकाः खलु । एव तस्मिन् भविष्यति कलौ च मगधाधिप ॥ ६४३ ॥
जैनागमसुवाक्येषु ह्यमीषा मगधेश्वर । निश्चयो न भविष्यति सशयाधीनचेतसाम् ॥ ६४४ ॥

अर्थ—-चतुर्थकालमें इस जैनधर्मके प्रतिपालक राजा और ब्राह्मण आदि सभी प्राणी थे। इसलिए इसका डंका सर्वत्र अविच्छिन्न रूपसे बजता था ॥ ६४० ॥

अर्थ—यह धर्म सर्वोत्कृष्ट है। त्रिलोक पूजित है। और सर्वमान्य है। और धर्म इस धर्म (जैनधर्म)से सब बातोंमें अधम हैं। परंतु जैनधर्मका पक्ष मुनियोंके सदुपदेशके विना समस्त जीवोंको मिलना कठिन है। इसलिए इस जैनधर्मके पालन करनेवालोंकी संख्या कम हो गई है। इसलिए मुनिधर्म और सच्चे आगमके जानकार विद्वानोंको पक्षको एकदम मजबूत बना देना चाहिए जिससे धर्मकी विपरीतता नष्ट हो जाय ॥ ६४१ ॥

अर्थ—हे मगधाधिप कलिकालमें मायावी मनुष्य धर्म प्रकाशनके लिये समस्त लोगोंकी साक्षीसे नूतन स्थापना करेंगे। कितने ही मनुष्य उनके द्वेषी हो जायेंगे। और कितने ही सेवक बन जायेंगे ॥ ६४२-६४३॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! संशयमें मन और बुद्धि जिनकी भ्रमित हो गई है ऐसे उपर्युक्त मनुष्य श्री जिनागमके सत्य-सत्य वचनोंका भी निश्चय (श्रद्धान) नहीं करेंगे ॥ ६४४ ॥

[illegible] इस प्रकार धर्मकी स्थापना मायावी लोगोंसे कितनी बार हुई है। परन्तु दिगम्बर जैन महर्षियोंने [illegible] उनका बहिष्कार ही किया है। जैन संख्या बढानेके लोभसे उनको भ्रष्ट शिथिलाचारी गच्छवाह्य नकली [illegible] नहीं मिलाया। भद्रबाहुके समय जब श्वेताम्बर संघ उत्पन्न हुआ तब भी दिगम्बर जैन महर्षियोंने उनको [illegible] नहीं मिलाया। [illegible] लोगोंने लोगोंको धर्मका बहाना बनाकर नवीन [illegible] अपने स्वार्थको सिद्ध किया। [illegible] और जो सच्चे धर्मात्मा थे उनको द्रोही माना। इसी प्रकार बार-बार [illegible] हुए।

[illegible] अमान्यता [illegible] है। उनके जिनागमका [illegible] हैं। परन्तु उनके [illegible] आगमका [illegible] है।

गथाना पूजका केचित् जिनविंबस्य[1] निंदका । कलो भेदा ह्यनेके च ज्ञातव्या श्रेणिक त्वया ।। ६४५ ।।
वसुभूपालवत् स्वस्य मतस्य ते नराः खला । दृढ पक्ष करिष्यति सप्तघावनिदु खदम् ।। ६४६ ।।
जिनात्तपुरुषाणा च केचिच्छ्राद्धानिका नरा । खला निंदा करिष्यति जिनागमप्रघातका. ।। ६४७ ।।

अर्थ—हे श्रेणिक ! कितने ही तो केवल ग्रंथोंके पूजन बन जायँगे । कितने ही जिन बिंबोकी पूजा करनेका निषेध करेंगे । हे राजन् ! कलिकालमे जैनधर्ममेंसे बहुतसे पथ अपने-अपने मनसे असत्य कल्पना कर अनेक प्रकारसे जैनधर्मका रूप बिगाड़ेगे ।। ६४५ ।।

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज वसु भूपालके समान अपने-अपने मिथ्या मनका हठग्राही पक्ष कर सातवें नरक जाने लायक पाप संचय करेंगे ।। ६४६ ।।

भावार्थ—सत्यधर्म (जो अरहंत भगवान्ने कहा है) को दूषण लगाकर ये लोग जैनधर्ममेंसे नवीन धर्म अपने मनकल्पनासे गढ़कर अरहंत भगवान्का कहा हुआ है ऐसी मिथ्या घोषणा करेंगे । और अपने मिथ्यामतके पक्षको दृढ़ करेंगे । श्वेतांबर, ढूंढिया और भी अनेक पंथवालोने इसी प्रकार अपने-अपने मत दिगंबर जैनमत-मेंसे निकाल कर बनाये । और कितने ही दुष्ट मनुष्य अब भी ऐसा ही पाप कर रहे है ।

अर्थ—हे राजन् ! कितने दुष्ट श्रावक अंतरंगसे श्रीजिनागमका घात कर मूलोच्छेद करेंगे परंतु फिर भी अपनेको श्रावक कहला कर जिनात्त पुरुषोकी (मुनियोंकी) अथवा साधर्मी सज्जनोंकी निन्दा करेंगे ।। ६४७ ।।

भावार्थ—कितने दुष्ट हृदयके श्रावक मनकी दुष्टता और मिथ्यात्वके तीव्रोदयसे जिनागमका तो नाश करेंगे ही परंतु जिनागमके अनुसार चलनेवाले मुनिगण तथा भव्य धर्मात्मा श्रावकोकी निन्दा भी करेंगे । इस-प्रकार अपने धर्मका मूलोच्छेदन वे स्वयं कर पापके भागी बनेंगे ।

१ श्वेताबरो मे से ढूढिया जिनविंबोकी पूजाका निषेध करते है । दिगबरमे तारण पंथी भी जिनमदिरमे पूजन नही करते । परन्तु दिगम्बर जैनधर्मंमे या उसके आगममे अवर्णवाद नही लगाते । जो लोग दिगम्बर जैन भी जैनबिम्बोकी पूजन करनेका निषेध करते है इसका कारण उनको आगमके श्रद्धानका अभाव है ।

पूर्वाचार्यकृता सर्वामभिषेकादिका क्रियाम् । तस्मिन्नुत्थापयिष्यति ते मूढा पंचमोद्भवाः ॥६४८॥
नूतना नूतना सर्वां करिष्यति जडाशयाः । ते नराश्च क्रिया भूप स्वस्वमतिविकल्पत. ॥ ६४९ ॥
वय श्रद्धानिका यूय मिथ्यात्वपथसेवका । मानयिष्यति ते चित्ते क्रियालेशोज्झिता खलु ॥ ६५० ॥
स्वधीकल्पितग्रथान् वै स्वाध्याये पूजनादिके । कार्ये प्रवर्तयिष्यति नो तद्धिते खलाशयाः ॥ ६५१ ॥
इत्य जैनेन्द्रधर्मस्य मध्ये भेदोत्करा खलु । तस्मिन्नेव भविष्यति स्वस्वमतविनाशका. ॥ ६५२ ॥
भवत्येव कलो भेदा प्राक् चतुर्थाच्च निश्चयात् । चेलनाकांत बुद्धस्व शर्मलेशविवर्जिते ॥ ६५३ ॥

अर्थ—हे राजन् पंचम कालके श्रावकगण पूर्वाचार्यप्रणीत और तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित अभिषेकादि पवित्र आगमोक्त क्रियाका उच्छेद करेंगे ॥ ६४८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! पंचम कालके श्रावकगण नवीन-नवीन क्रियायें अपने मनसे गढ़कर करेंगे । और धर्मके सत्य मार्गका लोप करेंगे ॥ ६४९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्री जिनदेव प्रतिपादित प्राचीन क्रियाओंका लोप करनेवाले श्रावकगण अपनेको सम्यग्दृष्टी प्रसिद्ध करेंगे । और जो श्री जिनदेवके मार्गपर आगमानुकूल चल रहे हो उनको मिथ्यात्वी बतलायेंगे । वे पवित्र क्रियाओंका परित्याग करेंगे ॥ ६५० ॥

अर्थ—हे राजन् ! अपने मनकी कल्पनासे अपने मतलबके ग्रंथ बनाकर उनका ही स्वाध्याय करेंगे, प्रचार करेंगे और उन ग्रंथोंसे ही पूजन आदि धर्मक्रियाओंकी प्रवृत्ति करायेंगे । ऐसे लोग आत्महितके लिए कुछ नहीं करेंगे ॥ ६५१ ॥

अर्थ—इस प्रकार इस जैनधर्ममें अनेक भेद होंगे और वे अपने अपने धर्मका नाश करनेवाले ही होंगे ॥ ६५२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! जिसमें कल्याणमार्गका सर्वथा अभाव है ऐसे इस कलिकालमें आगामी चौथे कालके पहलेसे ही इस जैनधर्ममें बहुतसे भेद हो जायेंगे ॥ ६५३ ॥

भावार्थ—इस पंचमकालमें जैनधर्ममें भी बहुतसे भेद हो जायेंगे जो आत्मकल्याणसे सर्वथा रहित होंगे ।

हुंडासर्पिणि काले हि भवति नो कदाचन । जिनधर्मस्य हानिश्चान्यत्र भो मगधेश्वर ॥ ६५४ ॥
चेदृग्विभो ! दयाधीश कियत्काले गते सति । आयात्येव तदा चाह त प्रति दिव्यभाषया ॥ ६५५ ॥
वसुवेदेन्दुसख्याना चतुर्विंशतीना गते । हुडको जायते ह्येको तत्त्रयाणा मतश्च स ॥ ६५६ ॥
अस्मिन्नेव भवत्येव ह्यनर्था चेलनापते । तीर्थंकरस्य पुत्र्यौ चक्रेश्वरस्यापमानता ॥ ६५७ ॥
प्रभोर्गात्रादप्यधिको दोर्बलेरुच्चता तनो । जेमनार्थं च भ्रमता धराया वृषभस्य वै ॥ ६५८ ॥
पदवीधारकाणा च ह्रासोपसर्गमेव च । धार्मिकाणा कलकाश्च सतीनामपमानता ॥ ६५९ ॥
स्थापना सिद्धक्षेत्राणा चातिदूराः शिवार्थदा. । जिनशासनयक्षाणा तुच्छाश्चातिशयाः खलु ॥ ६६० ॥
मिथ्याशासनदेवाना प्रचार. सघनो ननु । श्रीजिनाधिपबिबानामपमानः कुमानुजै ॥ ६६१ ॥
साधर्मिपुरुषाणा च निंदा ते श्रावका खलाः । करिष्यति कलौ भूय निंदायाः कि फल भवेत् ॥ ६६२ ॥

अर्थ—हे राजन्! यह इतना धर्मका भेदभावका विप्लव हुंडावसर्पिणी कालमें ही होता है। अन्य कालोमे नहीं । इसीलिए इस कालमे जैनधर्मकी हानि विशेष होगी ॥ ६५४ ॥

अर्थ—महाराज श्रेणिकने हुंडावसर्पिणी कालको ऐसा दुष्ट सुनकर भगवान्से पूछा कि हे स्वामिन् ! हे वीर प्रभो ! कितने कालके बाद हुन्डावसर्पिणी काल आता है ? तब दिव्य ध्वनिसे भगवान्ने कहा कि १४८ एकसौ अड़तालीस चौवीसी व्यतीत होनेपर एक हुन्डक काल आता है ॥ ६५५ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! हुन्डक कालके प्रभावसे बड़ी-बड़ी विपरीत बातें इस भरतक्षेत्रमें होगी । महान् अनर्थ होंगे—

१. तीर्थंकरोंके पुत्रीका जन्म होना । २. चक्रधरका अपमान होना । ३. प्रभु तीर्थंकरके शरीरसे अधिक ऊँचा शरीर बाहुबलि का होना । ४. श्रीवृषभदेवका आहारके लिए षट्मास पर्यंत परिभ्रमण होना । ४. पदवी धारक त्रेषष्ठि शलाका पुरुषोका ह्रास होना । ६. तीर्थंकर देवको छद्मस्थ अवस्थामें उपसर्ग होना। ७. धर्मात्मा पुण्यपुरुषोंको कलंकका लगना । ८. सतियोंका अपमान होना । ९. सिद्ध क्षेत्रोंकी अतिशय दूर स्थापना होना । १०. जिनशासन यक्षगणोका अतिशय कम होना । ११. मिथ्या शासन देवोंकी महिमा का बढ़ना । १२. पाखंडयोकी बढ़वारी होना । १३. श्री जिनबिम्बोंका कुमनुष्योके द्वारा अपमान होना । १४. और श्रावकोके द्वारा ही सत्यमार्गपर जिनागमके अनुकूल चलनेवाले साधर्मी पुरुषोकी निन्दाका होना । १५. जैनधर्ममें भेदभावका होना ।

भवति परनिंदाया जाताधा परजन्मनि । मूकाः सदातकमग्नाः कुब्जा दुष्टाश्च कुस्वनाः ॥ ६६३ ॥
बधिरा विकलांगाश्च षंढा दारिद्रधारकाः । कुरूपा दुःखभोक्तारः पुत्रपौत्रादिवर्जिताः ॥ ६६४ ॥
सदा शोकधरा क्रूराः निर्भाग्या मनिनिंदिताः । नराश्चेदृग्विधाः भूप ज्ञानलेशविवर्जिताः ॥ ६६५ ॥
मुन्यादिवर्जिता धर्ममार्गपरान्मुखाः खलाः । गुणमानविहीनागाः परसद्मनि सेवकाः ॥ ६६६ ॥
प्रतिपद्दर्शनीवाते म्रियते मगधाधिप । अष्टमैकादशे चैव हायने द्वादशे तथा ॥ ६६७ ॥
षोडशे यौवने काले अत्रामुत्र धवाश्च ये । जानीहि परनिंदायाः तच्च भो कारण खलु ॥ ६६८ ॥
समारभयभीतैश्च महादुःखप्रदायका । अतोहि परनिंदा च नो कर्तव्या कदाचन ॥ ६६९ ॥
परदोष न दातव्य मा वक्तव्यमसत्यवाक् । प्रमाद नैव कर्तव्य देवपूजादिकर्मसु ॥ ६७० ॥

इत्यादि बहुतसे अनर्थ कालके प्रभावसे इस भरतक्षेत्रमें होंगे ।

उपर्युक्त दिव्यध्वनिके द्वारा सुनकर श्रेणिक महाराजने पूछा कि हे प्रभो श्रावकगण सच्चे धर्मात्माओं को निन्दा करेंगे उसका क्या फल है ? ॥ ६५७-६६२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज जिनागमके अनुकूल चलनेवाले भव्य जीवोंकी निन्दा करनेसे पर जन्ममें अंधे, गूंगे, बहिर, रोगी, कुबड़े, विकलांग, नपुसक, दरिद्र, कुरूपी, दुःखी, कुटुम्ब परिवार रहित, भाग्यहीन, शोकातुर और ज्ञान रहित होते हैं। वे बड़े भयंकर दुःखोको प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं । उनसे मुनियोंका धर्मपालन नहीं होता । इतनाही नही बल्कि वे धर्ममार्गमे परान्मुख, गुणविहीन, दूसरोके गुलाम होते है ॥६६३-६६६॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! धर्मात्मा भव्यजीवोंकी निन्दा करनेवाले प्रतिपद चन्द्रमाके समान शीघ्र ही मरणको प्राप्त होते हैं । अथवा आठ, दश, ग्यारह, बारह और सोलहवें वर्ष जवानी अवस्थामें मरण कर जाते हैं । इसलोक तथा परलोकमें विधुर अथवा विधवा हो जाते हैं ॥ ६६७-६६८ ॥

अर्थ—इसलिये संसारके दुःखोंसे भयभीत पुरुषोंको चाहिये कि महान् दुःखको देनेवाली दूसरोंकी निन्दा न करें । न किसी धर्मात्मामें मिथ्या दूषण लगावें । न झूठ वचन बोलकर गुणोंका निह्नव करें । तथा देवपूजादि महान् पुण्यकार्योंमें प्रमाद न करें । सच्चा धर्मात्मा वही है जो निन्दाके भयसे सत्य धर्मका त्याग नहीं करता है । प्रमाद । [illegible] भी जो अपने धर्मसे च्युत नहीं होता, वही धर्मात्मा है ॥ ६६९-६७० ॥

गामशर्मद्विजस्येव सुता लक्ष्मीमती नरा । रूपयौवनसम्पन्ना किञ्चिन्निन्दा यते कृता ॥ ६७१ ॥
तन पापेन तीव्रेण तस्या गात्रेऽभूत्ताकर । उदम्बरमहाकुष्ट समुत्पन्नोतिदुस्सह ॥ ६७२ ॥
गलिता तेन सतप्ता महाद् रोगेन सा मृता । शुनी च गर्दभा पश्चात्सूकरीत्यादियोनिषु ॥ ६७३ ॥
भ्रमित्वा च सा तत्र प्राप्यातिदुखसततिम् । जनगमसुता पश्चाज्जाता च दुखभोजका ॥ ६७४ ॥
मत्वेति भो स्त्रिय मा च नरा शर्मविनाशका । कदापि नैव कर्तव्या सर्वेषा स्वात्मशुद्धये ॥ ६७५ ॥
कार्याति स्वस्य निंदा भो स्वस्यैव पापघातका । उच्चगोत्रकरा नानाशर्मसहतिदायका ॥ ६७६ ॥
परनिंदासमो लोके ह्यन्यत् पापहि प्राणिना । नास्त्येव तत्र कर्तव्य यदीच्छा शर्मसततेः ॥ ६७७ ॥
दत्कलक समापेव सीता शीलगुणान्विता । तद्धि निंदाप्रभावेण मा कुर्वन्तु परस्य वै ॥ ६७८ ॥
खलाना सज्जनाना च ह्यत्र भेद प्रदृश्यते । खलेच्छा चेत्तदा कार्या परनिंदा ह्यनर्थदा ॥ ६७९ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मणकी लक्ष्मीमती नामकी पुत्रीने मुनियोंकी किंचित् निन्दा की थी। उस निन्दाके फलसे उसको उसी भवमें भयंकर कुष्टरोग हो गया था। जिससे उसको महान् दुःख प्राप्त हुआ और परकोकमें, वह मरकर कुत्ती, गधी, सूकरी आदि कुत्सित योनिमें भ्रमण कर महान् दुःखोंको प्राप्त हुई। तथा पीछे वह अनेक दुःखोंको भोगनेवाली चांडालकी पुत्री हुई। और किंचित् मुनि निन्दाका इतना महान् कष्ट सहन करना पडा। इसलिए भव्यजीवों तथा स्त्रियों अपने आत्माको शुद्ध रखनेके लिए धर्म, धर्मायतन, साधर्मी भाई और मुनि आदिकी निन्दा कभी भी नही करनी चाहिये ॥ ६७१-६७५ ॥

अर्थ—जो अपनेसे पापकर्म अज्ञान या प्रमादसे हो जावे तो उसको दूर करनेके लिए अपनी आत्माकी निन्दा करनी चाहिये। जिससे मोक्ष सुखका प्रदान करनेवाला ऊँच गोत्रका बंध हो ॥ ६७६ ॥

अर्थ—परनिन्दाके समान अन्य कोई पाप नहीं है। इसलिए अपने आत्मकल्याणके लिए या स्वभाव रूपसे भी किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिए ॥ ६७७ ॥

अर्थ—सती शिरोमणी सीताको कलङ्कका योग प्राप्त हुआ इसका मूल कारण पूर्वभवमें गुरु, देव और साधर्मीकी निन्दा है ॥ ६७८ ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जनमें मात्र यही एक भेद है कि सज्जन जन किसीकी निन्दा नहीं करते है। और दुर्जन करते हैं। जो सज्जन बनना हो तो निन्दा करना छोड़ देना चाहिए ॥ ६७९ ॥

ये ये दु खाश्च जायंते प्राणिना दु.खदायका: । ते ते ज्ञेया: शरीरेषु परनिंदाया भो फलम् ॥ ६८० ॥
दुर्जनाना स्वभावोय परनिंदनतत्परा: । स्वात्मदोष न जानति ह्यनर्थधारकाश्च ते ॥ ६८१ ॥
प्रत्यक्ष येत्र मूढा वै निंदा कुर्वन्ति सर्वदा । ज्ञेया: श्वपचसा तुल्या: स्वमतस्य क्षयङ्करा: ॥ ६८२ ॥
ह्येव सर्वे भविष्यति कलौ भूप न सशय: । स्वचित्ते मानयिष्यति वय श्राद्धानिका: खलु ॥ ६८३ ॥
ग्रन्थलोपज[1] पापेन ते च श्राद्धानिका खलु । नरकावनौ च यास्यति सर्वेहि मगधेश्वर ॥ ६८४ ॥

अर्थ---जो-जो दुःख शरीरमें प्राप्त होते हैं वे प्रायः परनिन्दाके फलसे उत्पन्न होते है ॥ ६८० ॥

अर्थ---दुर्जनोका स्वभाव ही निन्दा करनेका होता है । परंतु वे अपने दोषोको नहीं जानते हैं । वे केवल अनर्थ धारण करनेवाले होते हैं ॥ ६८१ ॥

अर्थ---जो मनुष्य सर्वदा साधर्मी भाइयोकी निन्दा ही करते रहते हैं, एक प्रकारसे वे प्रत्यक्ष ही चांडालके समान हैं और अपने धर्मका नाश करनेवाले हैं ॥ ६८२ ॥

अर्थ---हे श्रेणिक कलियुगमें ऐसे निन्दक मनुष्य बहुत उत्पन्न होंगे । जो जैनधर्मके धारकोकी व जैनधर्मकी निन्दा करेंगे । और अपनेको अपने आप ही श्रावक मानेंगे ॥ ६८३ ॥

अर्थ---हे मगधेश्वर ! ग्रन्थोका लोप करनेके पापसे श्रावकगण अवश्य ही नरक वा निगोदमें जायेंगे ॥ ६८४ ॥

[illegible] ग्रन्थोका [illegible] करना है । इसके समान संसारमें अन्य पाप नहीं है । आगमको सत्यता व [illegible] । [illegible] वीतराग है, त्रिकालमें उनकी प्रामाणिकता स्वत-सिद्ध है । जो मनुष्य [illegible] प्रामाणिकता नष्ट करे तो वह आगमका या ग्रन्थका लोपी है । [illegible] इन्द्रियजनित बुद्धिका हो कुत्सित तर्क और अनु- [illegible] मिथ्या समालोचना कर पापका भागी बनता है । [illegible] जिनधर्मको [illegible] निन्दा समालोचना करते हैं, [illegible] आगमका श्रद्धान नहीं है । अपने आप [illegible]

यद्वत् वै ब्रह्मदत्ताख्य चक्री धर्मस्य लोपनात् । गतो हि सप्तमे श्वभ्रे नानादुःखभयाकिते ॥ ६८५ ॥
न्यायोय लोकमान्य स्यात् यदुक्तं वचनं वरम् । सर्वज्ञाज्ञऽविरुद्ध यन्महता पुरुषेण वै ॥ ६८६ ॥
यदुक्तं वीतरागेण प्रोक्त गणधरादिभि । मर्यादायाश्च ग्रथेपु तदेव सधृता खलु ॥ ६८७ ॥
यत्याचारक्रियाः सर्वाः श्रावकाणा क्रियास्तथा । पूजास्नानक्रियाश्चैव नानाशर्मप्रदायका ॥ ६८८ ॥
भद्रबाहुर्माघनदी पूर्वांशधारको यमी । महापुराणकर्ता च जिनसेन ऋषीश्वर ॥ ६८९ ॥
सुराच्यों गुणभद्रो वै तत्पट्टाब्जदिवाकर । सकलागमवेत्ता च मारवारणकेसरी ॥ ६९० ॥
सीमधरजिनेन्द्रस्य दर्शकः सयताग्रणी । नाम्ना श्रीकुदकुदो वै जिनधर्मप्रकाशकः ॥ ६९१ ॥
वसुनंदी तथा धीर. सकलकीर्तिर्धर्मभाक् । शुभचद्रो गुणै. पूर्णो मिथ्यामार्गविघातक ॥ ६९२ ॥
इत्याद्यैर्वरयोगीन्द्रै दिशावासोधरै. वरैः । पूज्यैश्च लेखसंदोहे फलादिगुणधारकै. ॥ ६९३ ॥

अर्थ—जैसे ब्रह्मदत्त नामके चक्रवर्तीने जिनागमको असत्य ठहराकर जिनागमका लोप किया था तो वह पापके फलसे मरकर अनेक दुखोसे परिपूर्ण ऐसे सातवें नरकमें प्राप्त हुआ ॥ ६८५ ॥

अर्थ—यह एक साधारण न्याय है कि संसारमे लोगोको वे ही वचन माननीय होते हैं जो किसी महापुरुषके द्वारा सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अविरुद्ध कहे जाते । सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके विरुद्ध वचन कभी मान्य नही होते ॥ ६८६ ॥

अर्थ—जो सर्वज्ञ वीतराग अरहंत भगवान्ने कहा हो और गणधरादि देवोंने प्रतिपादित किया हो तदनुकूल ही आचार्य परंपरासे उन सर्वज्ञदेवकी मर्यादाको कायम रखनेवाले ही ग्रथ भव्य जीवोको मान्य करना चाहिये । ऐसे आचार्य भद्रबाहु, माघनंदी, महापुराणके कर्ता जिनसेन, कुंदकुंद, सकलकीर्ति आदि अनेकों हुए हैं । ये सर्व धर्मके प्रकाश करनेमें अत्यंत उद्यमी थे, इन्होने मुनियोके आचरण निरूपण करनेवाले अनेक

१. धर्मरहस्य सुलोचना आदि ग्रन्थ, आगम ग्रन्थोका लोप करनेके अभिप्रायसे वनाये जा रहे है । धर्मरहस्यके कर्ता तो मिथ्या-दर्शनके प्रभावसे जैनधर्मसे बहिर्भूत हैं । उनको ज्ञानमे रजस्वला स्त्री जिनमदिर जा सकती हैं । डेढ और भगोके साथ खाना पीना आदि तथा विधवाविवाह (व्यभिचार) आदि धर्मविरुद्ध आचरणोको धर्मरूप कहलवानेके लिए महावीर स्वामी तथा गौतम गणधर-का संबंध जोड़ा गया है । यह भी आगममे अवर्णवाद लगाकर आगमका लोप करना है ।

जिनधर्मप्रकाशार्थं मानमायाविवर्जितैः । भो बुधा जिनधर्मस्य वर्द्धनैककृतोद्यमैः ॥ ६९४ ॥
तत्क्रियोत्थापका- किन्न यास्यति ये च सप्तसु । श्वभ्रेषु दु.खपूर्णेषु नराः कापट्यपूरिताः ॥ ६९५ ॥
सम्यग्दृष्टेरिद लक्ष्म यदुक्त ग्रथकारकैः । वाक्यं तदेव मान्य स्यात् ग्रंथवाक्यं न लघयेत् ॥ ६९६ ॥
अतः श्राद्धानिका यूय स्वकल्पोक्तमघकरम् । त्यक्त्वा ग्रथेषु यत्प्रोक्त कुर्वीध्व शिवप्राप्तये ॥ ६९७ ॥
ये मूढा जैनवाक्य हि त्यक्त्वा स्वमतिकल्पतः । चलंति तेहि धर्मघ्ना धर्मबाह्या मता बुधैः ॥ ६९७ ॥
प्रभोर्वाक्यप्रलोपेन ते मूढा मानसयुता- । यास्यति वै निकोतेषु नानादु.खाकरेषु च ॥ ६९९ ॥

ग्रन्थ बनाये हैं । तथा श्रावकोके आचरणोका निरूपण करनेवाले तथा कल्याण करनेवाले पूजा, अभिषेक आदि की क्रियाएँ बतलाई हैं । क्रियाओको जो कपटी मनुष्य उठा देना चाहते हैं, उन क्रियाओंका लोप करना चाहते हैं वे अवश्य ही दुःखोसे भरे हुए नरकोमें प्राप्त होगे ॥ ६८७-६९५ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टीका यही एक लक्षण है कि जिसको श्री जिनेन्द्र देवके आगमका श्रद्धान है । आगमके एक अक्षरको भी जो अपनी बुद्धिसे मिथ्या नही ठहराता, न मनमें भी ऐसी भावना रखता है और न मलिन तर्क व हठाग्रहसे जिनागमविरुद्ध पदार्थोके स्वरूपको सत्य मानता है वही सम्यग्दृष्टी है । जिसके ऐसा आगमका दृढ श्रद्धान नही है उसके सर्वज्ञ प्रभुका भी यथार्थ श्रद्धान नही है इसलिये ग्रन्थोके वचनोको अमान्यता मिथ्यात्व है ॥ ६९६ ॥

अर्थ—इसलिये भव्य श्रावकोको चाहिये कि आगम ग्रन्थोको ही मान्य कर श्रद्धान करें । और कपोल कल्पित वचनोपर श्रद्धाभाव न रखें । यही सम्यग्दृष्टीका लक्षण है । उससे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है । अन्यथा अनन्त संसार है ॥ ६९७ ॥

अर्थ—जो मूर्ख अपनी कुबुद्धि की कल्पना मात्रसे भगवान् जिनेन्द्र देवके कहे हुए वचनोका उल्लंघन करते हैं उनके अनुसार क्रियाएँ नहीं करते वे धर्मको नाश करने वाले धर्मसे बहिष्कृत समझे जाते हैं ऐसा विद्वानोने कहा है । अभिप्राय यह है कि जैनधर्मके वचनोका उल्लंघन करना धर्मका नाश ही करना है । इसलिये जैन आगमके वचनोका उल्लंघन कभी नही करना चाहिये ॥ ६९८ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान्के वचनोका लोप करनेसे जीव निगोद राशिमें प्राप्त होकर महान् दुःखको प्राप्त होता है ॥ ६९९ ॥

अथापरं शृणु भूप पठनीयं विभो पुर । स्तवनं तद्गुणप्राप्त्यै तद्गुणैर्मंडितं वरम् ॥ ७०० ॥
प्रभो स्तवनपाठेन सर्वांहा दुःखदायका । तत्क्षणात् प्रलयं याति नागाः खगेश्वरेक्षणात् ॥ ७०१ ॥
विभो गुणानुवादाढ्यं नानाशर्मप्रदायकम् । पठतु सर्वदा भव्या स्तवनं ह्यवरोधकम् ॥ ७०२ ॥
कर्तव्या गानविद्या च मनोमोदाप्तये खलु । प्रभो. पुरो बुधैर्नित्यं दुःखदावाग्निवारिदा ॥ ७०३ ॥
नृत्यं गानं जिनस्याग्रे ये कुर्वंति नरोत्तमा । तेषां पुरो दिवि लेखा करिष्यंति सदा मुदा ॥ ७०४ ॥
गानविद्याप्रभावेण चित्तरोधश्च जायते । चित्तरोधात् शुभं ध्यानं ध्यानाद्धि परमं पदम् ॥ ७०५ ॥
मत्वैव जिननाथाग्रे भो बुधा स्वात्मशुद्धये । स्तवनं तद्गुणैर्युक्तं प्रपठन्तु त्रिशुद्धित. ॥ ७०६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! अब भगवान्के समक्ष प्रभुके गुणानुवाद नामकी क्रियाको कहता हूँ। जो मनुष्य भगवान्के समक्ष प्रभुके गुणोंका स्तवनो द्वारा गुणगान करता है वह प्रभुके गुणोको प्राप्त होता है ॥ ७०० ॥

अर्थ—प्रभुके गुणोके स्तवन, पठन-पाठन आदि करनेसे दुखदायक समस्त पापोंका नाश होता है। तथा देव, विद्याधर आदि सब दुष्ट क्षणभरमें नष्ट हो जाते है ॥ ७०१ ॥

अर्थ—प्रभुके गुणानुवाद करनेसे अनेक सुख प्राप्त होते हे इसलिये भव्य जीवोंको भगवान्का स्तवन अवश्य ही करना चाहिये ॥ ७०२ ॥

अर्थ—दुखःरूपी दावानलको बुझानेके लिये बादलोंके समान प्रभुके गुणोंका गान संगीत और वाद्यघोष आदि सब नित्य ही करना चाहिये जिससे मनको प्रसन्नता हो ॥ ७०३ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान्के सामने नृत्य गान और संगीत आदि भाव भक्तिसे करते है उनका गान देवोंसे होता है ॥ ७०४ ॥

अर्थ—गान विद्यासे भगवान्के गुणोंमें चित्त संलग्न होता है। गुणोंमें चित्त संलग्न होनेसे शुभ ध्यान होता है और शुभ ध्यानसे परम पद प्राप्त होता है ॥ ७०५ ॥

अर्थ—इसलिए भव्यजीवोको अपनी स्वात्माकी विशुद्धिके लिए प्रभुके गुणोंका गान अनेक प्रकारके स्तोत्रो द्वारा मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक करना चाहिये ॥ ७०६ ॥

गात्राह पाठकाना क्षयमपि स्तवनस्यैव तस्य सुभक्त्या । दुःखाना दानदक्ष सकलसुखहर श्रीजिनेशैः प्रहेयम् ॥७०७॥
पापाना घातनार्थं नरखचरपते श्रीजिनस्य प्रधीरा । यात्येवातः सदा वै शिवसुखसदनप्राप्तये तत् पठतु ॥७०८॥
जपाभिधा क्रिया वच्मि शिवशर्मकरा वराम् । अतस्थिताघवृन्दाना नाशका त्व शृणु मुदा ॥ ७०९ ॥
ॐ नम अर्हद्भ्यो नमः ॐ सिद्धेभ्यो नमोस्तु वै । आचार्येभ्य पाठकेभ्यः साधुभ्य. सर्वदा नमः ॥ ७१० ॥
ॐ ह्री श्री क्ली भगवति सरस्वतिदेव्यै नम. । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु स । सदा मे हृदि तिष्ठतु ॥
ॐ ह्री श्रीवृपभादिवर्धमानाततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्मपहानये ।
ॐ ह्री श्री सप्तर्द्धिमडितगात्रा. तुर्यज्ञानालकृताः प्रभूणा सन्निधौ यौवराज्यपदस्था वृषभसेनादिगौतमातगणधराः

अर्थ—जो पुरुष भक्तिपूर्वक श्री अरहंत भगवान्‌के स्तोत्रोका पाठ करते हैं उनके दुःख देनेमें चतुर समस्त सुखोको नाश करनेवाले और श्रीजिनेन्द्र देव द्वारा सर्वथा त्याज्य ऐसे शरीरसंबंधी समस्त पाप दूर हो जाते हैं। इसलिये भव्यजीवोको अपने समस्त पाप दूर करनेके लिये देव विद्याधरोके स्वामी भगवान् जिनेन्द्र देवका मोक्ष सुख देनेवाला स्तोत्र सदा पढते रहना चाहिये ॥ ७०७-७०८ ॥

अर्थ—अब आगे जप क्रियाको कहता हूँ। जिससे भव्यजीवोको सुख प्राप्त होता है और समस्त पापोका नाश होता है। उसको हे राजन् ! श्रवण कर ॥ ७०९ ॥

अर्थ—ॐ नमः अर्हद्भ्यः । ॐ नमः सिद्धेभ्यः । ॐ नमः आचार्येभ्यः । ॐ नमः पाठकेभ्यः । ॐ नम. सर्वसाधुभ्य । ये पञ्च परमेष्ठीके वाचक मंत्र हैं ॥ ७१० ॥

अर्थ—ॐ ह्रीं श्री क्ली भगवति सरस्वतिदेव्यै नमः । श्रीजैनधर्माय सदा नमोस्तु सः । सदा मे हृदि तिष्ठतु । यह सरस्वती मन्त्र है।

अर्थ—ॐ ह्रीं श्रीवृषभादिवर्द्धमानांततीर्थंकरेभ्यो नमोस्तु चित्तकल्मपहानये। श्रीवृषभादि महावीरपर्यंत चौबीस तीर्थंकरोको नमस्कार हो।

अर्थ—जिनका शरीर सप्त ऋद्धियोंसे सुशोभित है, जो चार ज्ञानके धारक हैं, भगवान् अरहत देवके समीप [illegible] विराजमान हैं, जो समस्त पापोको नाश करनेवाले हैं, वीतराग अवस्थाको

सकलाहोनाशकाः श्रीवीतरागप्रकाशका स्वात्मतेजगा जितदिवाकरा महासारयुक्ता· स्मरमातगकठीरवसदृशा· प्रचण्डमोहनगपवि-तुल्याः इत्यादि अनेकगुणधारकेभ्यो नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।

जिनधर्मधारकेभ्यो हतकर्मकलकरजोभ्य· सदा नमोस्तु ।

श्री जैनधर्मो जयतु । ॐ सम्यग्दर्शनाय नम । ॐ सम्यग्ज्ञानाय नम । ॐ सम्यक्चारित्राय नम· । त्रय एते मे हृदि तिष्ठन्तु ।

ओ ह्री आदिधर्मप्रकाशकाय श्रीवृषभनाथाय जिनेन्द्राय नमोस्तु ।

श्रीवीतरागाय नम ।

समस्तकर्मरहिताय श्रीमते महावीरजिनेश्वराय सदा नम· ।

ओ ह्री पचपरमेष्ठिभ्यो नम ।

प्रकाशित करनेवाले है, अपने आत्माके तेजसे सूर्यको भी जीतने वाले है, संसारमें सारभूत वीतरागता सहित है, कामदेवरूपी हाथीके लिए जो केशरी सिंहके समान है, प्रचंड मोहनीय कर्मरूपी पर्वतके लिये जो वज्रके समान हैं इत्यादि और भी अनेक गुणोंसे सुशोभित ऐसे वृषभसेनसे आदि लेकर गौतम पर्यंत गणधर देवोंके लिये मैं तीन बार नमस्कार करता हूँ ।

अर्थ——भगवान् अरहंत देवके कहे हुए धर्मके धारण करनेवाले और कर्मरूपी कलङ्कको नाश करनेवाले श्री अरहन्त भगवान्में लीन ऐसे गणधर देवोको मै सदा नमस्कार करता हूँ ।

अर्थ——श्री जैनधर्मकी जय । ॐ सम्यग्दर्शनको नमस्कार हो, ॐ सम्यग्ज्ञानको नमस्कार हो, ॐ सम्यक्-चारित्रको नमस्कार हो । ये तीनों मेरे हृदयमें सदा विराजमान रहें ।

अर्थ——इस अवसर्पिणी कालके प्रारंभमें सबसे पहले धर्मका स्वरूप प्रकाशित करनेवाले श्रीवृषभनाथ जिनेन्द्र देवको बार-बार नमस्कार हो ।

अर्थ——श्रीवीतरागाय नमः—श्री वीतराग परम देवको नमस्कार हो ।

अर्थ—समस्त कर्मोंसे रहित अंतरंग बहिरग लक्ष्मीसे सुशोभित ऐसे जिनेन्द्र श्री महावीर स्वामीको नमस्कार हो ।

अर्थ—ॐ ह्रीं पंच परमेष्ठियोंको नमस्कार हो ।

ओ ह्री सर्वसिद्धान्तेभ्यो नमः ।

ओ श्रीसीमधरप्रत्यक्षदर्शनप्राप्ताय भव्याब्जमार्तंडसदृशाय मारवारणकेशरितुल्याय नरामरपूज्यपादाब्जाय मिथ्यात्वतमोविवस्वत्तुल्याय श्रीकुन्दकुन्दयतीश्वराय दिगाम्बरधारकाय सदा नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु ।

अर्थ—ओ ह्री समस्त सिद्धान्तोंको मैं नमस्कार करता हूँ ।

अर्थ—जिन्होने श्री सीमंधर स्वामीका प्रत्यक्ष दर्शन किया है, जो भव्यरूपी कमलोंके लिए सूर्यके समान है, कामदेवरूपी हाथीको वश करनेके लिए केशरी सिंहके समान है । देव, विद्याधर, मनुष्य आदि सब जिनके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, जो मिथ्यात्वरूपी अधकारको नाश करनेके लिए सूर्यके समान हैं और जो केवल दिशारूपी वस्त्रोंको धारण करनेवाले अर्थात् दिगम्बर हैं ऐसे श्री मुनिराज कुन्दकुन्द स्वामीको मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ ।

[illegible] जपन्ति ये मन्त्रराज नरोत्तमाः । भजति ते चतुर्थं च ह्यष्टोतरशतप्रमम् ॥ १ ॥
[illegible] महाकाले दुःखेऽशुभे [illegible] वर । परमेष्ठिमन्त्रराज जपन्तु शुद्धभावतः ॥ २ ॥
[illegible] [illegible] क्षमम् । मन्त्रराजसम मन्त्र न स्याद्धि सकलावनी ॥ ३ ॥
[illegible] [illegible] कालकला श्रुतोत्तमे । प्रमादे नैव नेतव्या मन्त्रराजादृते खलु ॥ ४ ॥
[illegible] जपन्ति ये मन्त्र [illegible] जिनोद्भव । महत्सलक्षमहत्वाढ्यं नानादुःखविनाशकम ॥ ५ ॥
[illegible] [illegible] मन्त्रराज जगन्नुतम । पशुसमा मनास्ते हि विमुच्छमतिवर्जिता ॥ ६ ॥

[illegible]—जो भव्यजीव णमोकार मन्त्रको ३ श्वासमें जपता है तथा इसी प्रकार एकसौ आठ बार जपता है [illegible] मोक्ष फलको प्राप्त होता है । णमो अरहंताण, णमो सिद्धाण—यह प्रथम श्वासोच्छ्वासमें, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाण—यह द्वितीय श्वासोच्छ्वासमें, णमो लोए सव्वसाहूण—यह तृतीय श्वासोच्छ्वासमें [illegible] । हे भव्यजीवो ! इस पचपरमेष्ठी वाचक मन्त्रराजका [illegible] दुःख सुख सब समयमें [illegible] करो । इससे समस्त प्रकारके पाप क्षणमें विलीन हो जाते हैं और सर्व प्रकारकी

कुरुध्व मोक्षप्राप्त्यर्थं जाप मत्रस्य भो बुधाः। शक्त्यनुसारत शुद्धया मत्वेति शिवदायक ॥ ७ ॥
मत्र. दुर्गतिनाशक ह्यघहर जैनेन्द्रवक्त्रोद्भवम्, दु खातकविनाशक मुनिनुत स्वर्गापवर्गप्रदम्।
मसारातपघातने पयसम नानर्द्धिसपादकम्, त्यक्त्वान्य बुधसत्तमा ह्यनुदिन चेम जपध्व खलु ॥ ८ ॥

ध्यानकी विधि

ध्यानाख्या वच्मि हे भव्य क्रिया सकलदु'खापहम्। यत्सम नापर धर्मं गृहस्थाना जिनागमे ॥ ९ ॥
पद्मासनेन सस्थित्वा त्यक्त्वा सर्वविकल्पकम्। एकाते शुद्धभूमौ च सन्निधौ वा प्रभो मुदा ॥ १० ॥

सिद्धि स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। इसके बिना अपने जीवनकी एक घड़ी भी व्यर्थ कभी मत खोओ। इस मंत्रके समान संसारभरमें अन्य कोई मंत्र नहीं है ॥ १–७ ॥

अर्थ—जप क्रियाको बतलाकर अब ध्यान क्रियाका स्वरूप बतलाते है। ध्यानके समान समस्त प्रकार सुखोंको प्राप्त करनेवाला और दुःखोंका नाश करनेवाला अन्य कोई धर्म नहीं है ॥ ८ ॥

अर्थ—इसलिये हे भव्य जीवों भगवान् जिनेन्द्र देवके कहे हुए तथा समस्त दुःखोंको दूर करनेवाले ऐसे मंत्रोंको हजारोंकी संख्यामे जप करो। जो मनुष्य समस्त संसार द्वारा पूज्य ऐसे मंत्रराजका (नमस्कार मंत्रका) जप नहीं करते हैं वे बुद्धिहीन तथा पूँछ रहित पशुओंके समान हैं। हे विद्वानों यह नमस्कार मंत्रका जप मोक्ष देनेवाला है इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये अपनी शक्तिके अनुसार शुद्ध भावोसे इसका जप अवश्य करो। यह भगवान् जिनेन्द्र देवका कहा हुआ नमस्कार मंत्र समस्त दुर्गतियोंको दूर करनेवाला है, पापोंका नाश करनेवाला है, रोग और दुःखोंको दूर करनेवाला है, मुनिराज भी इसको नमस्कार करते हैं, यह स्वर्गमोक्षके सुख देनेवाला है, संसाररूपी अग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान है, और अनेक ऋद्धियोंको देनेवाला है, इसलिये हे विद्वानों ! अन्य सब मंत्रोंको छोड़कर प्रतिदिन इस मंत्रका जप करो ॥ ९ ॥

अर्थ—सर्वांग शुद्ध होकर मन, वचन, कायकी सर्व प्रकारकी शल्य मिटाकर, स्वस्थचित्त होकर, समस्त

मानस्तभादिस्तूपाता सभाद्वादशमडिताम् । सर्वा समवसरणस्य रचना देवजा खलु ॥ ११ ॥
चिंतनीय त्रिधा शुद्धया चित्तकलमपहानये । ततः शास्त्रानुसारेण पश्चात् सिद्धपदाप्तये ॥ १२ ॥
गधकुट्युपरिसस्थे तप्तहाटकनिर्मिते । सिंहासने निरौपम्ये सुराचलसमुन्नते ॥ १३ ॥
तस्योपरि निरौपम्य सर्ववाधाविवर्जित । सर्वदेवाधिदेव च वृपभादिजिनेश्वरम् ॥ १४ ॥
तुर्यांगुलमूर्ध्वस्य तस्मादपि प्रभावत । निर्जरेन्द्रोरगेन्द्राच्यं वेदर्त्तुचामरैर्युतम् ॥ १५ ॥
वसु वै प्रातिहार्यांक तुर्यास्यभूपित वरम् । मेघवद् गर्जनायुक्त सप्ततत्वप्रकाशकम् ॥ १६ ॥
अनतमहिमोपेत च यतीश्वरनमस्कृतम् । मदचद्रमहादोपवर्जिताग विवोधकम् ॥ १७ ॥
सौम्यरूप दयारूप वासाभरणवर्जितम् । विभय निर्विकार च मानमाया विवर्जितम् ॥ १८ ॥
विमोह सर्वलोकेश पूज्यपाद निरजन । तारक सर्वजीवाना सर्वजीवाभयकरम् ॥ १९ ॥

प्रकारकी चिन्ताओको छोड़कर और संकल्प—विकल्पोका सर्वथा त्याग कर, निराकुल होकर, निराबाध स्थानमें पवित्रताके साथ पवित्र भावोसे पद्मासनपूर्वक ध्यान करनेके लिये स्थिर चित्तसे बैठना चाहिए । अथवा अरहंत प्रभुके समक्ष ध्यान करना चाहिये ॥ १० ॥

अर्थ——सबसे पहले मानस्तभसे लेकर स्तूपपर्यंत समवशरणकी देव रचित सब शोभाका चिन्तवन करे, फिर सिद्धपद प्राप्त करने और सब पापोंको दूर करनेके लिये शास्त्रानुसार श्रीमंडपका चिन्तवन करे । मध्यमें एक गंधकुटी उसपर मेरु पर्वतके समान उपमारहित सुवर्णमय सिंहासन है । उसपर चार अंगुल ऊपर अधर सब उपमाओंसे रहित तथा बाधाओसे रहित भगवान् वृषभदेव विराजमान है । देव, विद्याधर, इन्द्र, नागेंद्र सब उनकी पूजा कर रहे हैं । चौसठ चमर उनपर ढुल रहे हैं । आठ प्रातिहार्य शोभायमान हैं । चारो ओर चार मुख शोभायमान हैं । मेघकी गर्जनाके समान जिनकी दिव्यध्वनि खिर रही है । जो सातो तत्त्वोंको प्रकाशित कर रहे हैं । अनंत महिमा संयुक्त विराजमान हैं, सब मुनिराज जिनको नमस्कार करते हैं, जो अठारह दोषोंसे रहित हैं, पूर्ण ज्ञानरूप हैं, सौम्य हैं, दयामय हैं, वस्त्राभरण रहित हैं, निर्भय हैं, निर्विकार हैं, मान-मायासे रहित हैं, मोह रहित हैं, तीनों लोकोंके स्वामी हैं, पूज्यपाद हैं, घातिया कर्मोंसे रहित हैं, सब जीवोंको पार कर देनेवाले, सब प्राणियोंको निर्भय करनेवाले, समस्त कर्मरूपी अग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान, शुद्ध और मोक्षमार्गको

ईदृश ह्यात्मनि भव्याः सर्वकर्माग्निमेघदम् । शिवमार्गकर शुद्धं चिंतयतु दिन प्रति॥ २० ॥
अनेन ध्यानयोगेन सर्वांहो दुःखदायकम् । तत्क्षणात् प्रलय याति ध्यानिना वज्रतो नगाः ॥ २१ ॥
कुरुथ सकलभव्या भावतश्चात्मशुद्धयै, परमरसयुताना ध्यानमानदरूपम् ।
शिवयुवतिविलासादायक धीरध्येय, सकलकलुषवन्हेः मेघपुष्पोपम वै ॥ २२ ॥
षष्ठी च क्रिया वक्ष्येह महदानददायकाम् । यत्प्रसादात्तरंत्येव सर्वे जीवा भवात् खलु ॥ २३ ॥
वीतरागमुखोद्गीतान् ग्रथितान् मुनिनायकै. । ख्यातपूजाव्यतिक्रातचित्तैर्मायाविवर्जितैः ॥ २४ ॥
त्यक्तलोभैर्दिशावासोधरैर्मार्गप्रभावकैः । ग्रथान् भव्याः गुरोरास्यात् शृणुध्वमीदृशान् वरान ॥ २५ ॥
त्रिषष्टिपुरुषाणा च पुराण वा चरित्रकम् । चान्येषा मनुजाना वै श्रोतव्य वासर प्रति ॥ २६ ॥

प्रगट करनेवाले भगवान् विराजमान है—ऐसा ध्यान प्रतिदिन करना चाहिये । इस प्रकार ध्यान करनेसे जिस प्रकार वज्रसे पर्वत चूर-चूर हो जाते है उसी प्रकार दुःख देनेवाले सब पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते है । यह ध्यान मोक्ष देनेवाला है । समस्त पापरूपी वह्निके लिये मेघके समान है, धीर वीर पुरुष ही इसका चिंतवन कर सकते है और आत्मरसास्वादियोंके लिये यह आनंद देनेवाला है । ऐसे ध्यानको भी भव्य जीवों शुद्ध भावोंसे प्रतिदिन करो ॥ ११-२२ ॥

अर्थ—गृहस्थोंकी षष्ठी क्रिया स्वाध्याय है । स्वाध्याय सब क्रियाओसे अधिक आनंद प्रदाता है । जिस स्वाध्यायसे प्रसादसे भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होते है ॥ २३ ॥

स्वाध्यायके ग्रन्थ कैसे होने चाहिये ?

अर्थ—जो ग्रन्थ श्रीवीतराग सर्वज्ञ अरहंत भगवान्की दिव्य ध्वनिके हो प्रतिरूप हों और जिनकी रचना मुनीश्वरोने की हो और वह राग-द्वेषके वश या अपनी पूजा प्रतिष्ठा बढानेके लिये नहीं की हो अथवा जो ग्रन्थ स्वार्थ या किसी मतलबके कारण स्वकल्पित बातोंसे न बनाये गये हो जिनमें मात्र एक श्री जिनेन्द्र भगवानकी वाणीकी ही रचना हो, मायाचार या लोभसे जिन ग्रन्थोंमें दिव्यध्वनिसे विपरीतता न हो, जो जैनधर्मके सत्य स्वरूपको प्रतिपादन करने वाले हो ऐसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय गुरुमुखसे ही श्रवण करना चाहिये ॥ २४-२५ ॥

अर्थ—जिन ग्रन्थोंमें त्रिषष्टि शलाका पुरुषोका पवित्र जीवन चरित्र हो । अथवा पुण्यपुरुषोंका आदर्श

श्रावकाचारग्रंथ वै सर्वाचारप्ररूपकम् । गृहस्थैः कर्मनाशार्थं नित्य पापविनाशकं ॥ २७ ॥
शास्त्राणां श्रवणात्सर्वाः क्रियाः स्वर्मोक्षसाधिकाः । जानात्येव ह्यय प्राण्यभिषेकाद्यास्तथा बुधाः ॥ २८ ॥
पात्रापात्रस्य भेद च हेयोपादेयक तथा । मुखामुखस्य भेद वै मार्गामार्गस्य लक्षणम् ॥ २९ ॥
चतुर्विदानभेद च मुनिमार्गं च तत्क्रियाम् । सल्लेखनाविधि सर्वं नाकमोक्षस्य लक्षणम् ॥ ३० ॥
सम्यग्दृग्ज्ञानव्रतस्य स्वरूप शिवदायकम् । पुण्यापुण्यस्य भेद हि देवादेवस्य लक्षणम् ॥ ३१ ॥
ग्रयागय तथा शीलस्वरूप गात्रमडनम् । परलोकस्वरूप च गुणस्थानादिवर्णनम् ॥ ३२ ॥
षट्‌धाजीवनिकायाना लक्षण जीवरक्षण । भक्ष्याभक्ष्यप्रभेद च ह्यात्मरूप सदास्थिरम् ॥ ३३ ॥

चरित्र हो । श्रावकाचार और यत्याचारके द्वारा जिनमें गृहस्थोंके समस्त आचरणोकी आज्ञा प्रतिपादित की हो ॥ २६-२७ ॥

अर्थ---शास्त्रोका स्वाध्याय करनेसे गृहस्थोको पवित्र क्रियाओंका ज्ञान होता है, जिससे विवाह विधि, खानपानका आचरण और अपने समस्त कर्तव्योको धार्मिक समझ कर भव्यजीव उनको आगमके अनुकूल ही करनेमें अपनी पवित्रता मानते हैं । षट् आवश्यक कर्मोंका परिज्ञान शास्त्र श्रवणसे ही होता है जिससे जिनेन्द्र भगवान्‌के पवित्र अभिषेक विधि, पूजनविधि, जिनयज्ञ विधियोंका स्वरूप सत्य-सत्य जाना जाता है । पात्र अपात्र, दान कुदान, पुण्यपाप, हित अहित, कर्तव्य अकर्तव्य, सदाचार दुराचार, मार्ग कुमार्ग, नीति-अनीति, सत्य असत्य आदि बातोका सम्यक् परिज्ञान शास्त्र स्वाध्यायसे ही होता है। मुनियोका मार्ग, सल्लेखना विधि क्रियाका ज्ञान भी स्वाध्यायसे ही होता है । सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका स्वरूप स्वाध्यायसे, जाना जाता है ॥ २८-३० ॥

अर्थ---ब्रह्मचर्यका स्वरूप भी स्वाध्यायसे मालूम होता है और उसके विरुद्ध विधवा विवाह जैसा व्यभिचार तथा और भी प्रकारकी मलिनता स्वाध्यायसे जानी जाती है ।

परलोकका स्वरूप गुणस्थान, शीलस्वरूप छह कायके जीवोंका समूह, जीवोकी दया, भक्षाभक्षविचार आदि समस्त बातें स्वाध्यायसे जानी जाती हैं ।

विवेकमविवेकत्व ज्ञानाज्ञानप्रलक्षण । सप्ततत्वस्य भेद च कर्मप्रकृतिलक्षणम् ॥ ३४ ॥
वधावधस्वरूप च चर्चाचर्चादि लक्षणम् । इत्याद्यन्यत्स्वरूप च भव्याभव्यस्य लक्षणम् ॥ ३५ ॥
पश्यत भो बुधा ह्येतत् प्रभावमागमस्य वै । करस्थरेखावत्सर्वं ग्रथाना श्रवणात् भवेत् ॥ ३६ ॥
शृणुध्व प्रतिघस्न वै भो भव्या. कल्मपापह । श्रीजिनेन्द्रमुखोत्पन्न ग्रथ वैराग्यदायकम् ॥ ३७ ॥
ग्रथान् श्रीजिनवक्त्रजानघहरान् ससारविध्वसकान्, धर्माचारप्ररूपकान् मुनिनुतान् वद्यान् सुरेन्द्रादिभिः ।
मिथ्यामार्गविघातकान् नरवरै. सेव्यान् शुभान् भो बुधा, ससारातपहानये ह्यनुदिन यूय शृणुध्व खलु ॥ ३८ ॥
कौतूहलभृत ग्रथ ब्रह्मचर्यविनाशकम् । वीररसभृताशुद्ध कुकथाव्रातमडितम् ॥ ३९ ॥

विवेक और अविवेकका स्वरूप ज्ञान, अज्ञानका स्वरूप सात तत्त्वके भेद और कर्मकी प्रकृतियोके लक्षण बंध अबंधका स्वरूप, भव्य अभव्यका लक्षण आदि अन्य भी वस्तु स्वरूप स्वाध्यायसे जाना जाता है स्वाध्यायसे ही कुशिक्षा और आत्मज्ञान रहित शिक्षाको ज्ञान स्वरूप नही जानता और न उसको हितरूप समझता है। ये सब बातें शास्त्रोंके स्वाध्यायसे सत्य-सत्य जानी जाती है ।

इसलिये श्रीजिनेन्द्र देवके परम पवित्र आगमका ही स्वाध्याय पठन करना चाहिये जिससे पुण्यकी प्राप्ति हो और पाप क्रियाओका परित्याग हो ।

ग्रंथोंके स्वाध्याय करनेका एक यही अभिप्राय है कि स्वाध्यायके पवित्र ज्ञानसे पापक्रिया और आगम-विरुद्ध विचारोका परित्याग कर आत्माकी वास्तविक उन्नतिका मार्ग शोधन कर आत्मकल्याण करें । न कि संसारको बढ़ाने वाली क्रियायोंका विचार कर अपनेको मोक्षमार्गसे गिरावें । वही ज्ञानी है उसीने शास्त्र स्वाध्यायका लाभ लिया है कि जिसने शास्त्रके स्वाध्यायसे अपने मलिन विचारोको छोड़ दिया है ॥३१-३७॥

अर्थ—अरहंत भगवान्‌के मुख कमलसे प्रतिपादित ग्रन्थ संसारका नाश करनेवाले हैं, मिथ्यामार्गका नाश करनेवाले हैं, मुनियोंके द्वारा वंद्य है, इन्द्रादिकोके द्वारा पूज्य हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं और सबके द्वारा पूज्य हैं इसलिए भव्य जीवोंको संसारके समस्त दुःख दूर करनेके लिए ऐसे ग्रन्थोका स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिये ॥ ३८ ॥

अर्थ—जिनमें केवल तमाशे भरे हैं, जो ब्रह्मचर्यका नाश करने वाले हैं, वीररससे भरे हैं, अशुद्ध हैं,

आद्योपातविहीन त्वे रागमोहविवर्धकम् । निर्दयादिकथावृदकथकं बुद्धिनाशदम् ॥ ४० ॥
कुदानकथक हेयोपादेयवस्तुर्वाजितम् । मत्तवत्कथक चैव ससारभ्रमकारणम् ॥ ४१ ॥
क्रियाकर्मविहीन च मानक्रोधादिकारणम् । सद्धर्मरसहीन च कुधर्मपथपोपकम् ॥ ३२ ॥
दुर्गतिदायक हेय वुधैस्तत्वविदाम्वरै । स्वस्वकल्पोक्तितस्तैश्च प्रणीत लोभधारकैः ॥ ४३ ॥
भो वृथा चेदृश नित्य शिवमार्गकपाटद । कुमार्गवर्द्धक त्याज्य मा शृणुथ कदाप्यहो ॥ ४४ ॥
धर्मघ्न पापबीज सकलवुधजनैः सत्वहीन विनिंद्य । पापाना बधहेतु सकलसुखहर सर्वदोषै प्रयुक्तम् ॥ ४५ ॥
धूर्तैर्य च्च प्रोक्त करणमुखरतैस्तात्मविद्याविहीनैः । निंद्य वा मा पठध्व वुधजननिकराश्चेदृश वै कदापि ॥ ४६ ॥
प्रतिघस्र गहस्थाना मुकर्तव्या पट्धा क्रिया । जिनागमेहि कथिता शुद्धा पापप्रणाशिका ॥ ४७ ॥
पट्ना दुष्कतनाशार्थं पट्क्रिया भो वुधोत्तमा । कुर्वीध्व पूर्वकालेहि शिवशर्मकरा वराम् ॥ ४८ ॥

कुकथाओमे भरे है, जिनका आदि अंत कुछ नही है, जो राग मोहको बढानेवाले हैं, जिनमें दयारहित जीवोकी कथाएँ भरी हो जो बुद्धिको नाश करने वाले हो, जो कुदानका निरूपण करते हो, जो हेयोपादेय पदार्थोके ज्ञान मे रहित हो, जिनमें उन्मत्तपुरुषके वचनोके समान सबंधरहित कथन हो, जो ससारको बढाने वाले हो, क्रिया कर्मके उपदेशसे रहित हो, क्रोध मानादिके बढाने वाले हो, धर्मके स्वरूपसे रहित हो, अधर्मकी पुष्टि करने वाले हो, दुर्गति के देनेवाले हो, तत्त्वज्ञानी विद्वानोके द्वारा त्याज्य हो, जो मोक्षमार्गको रोकनेवाले हो, लोभी पुरुषोने अपनी कल्पनासे बनाये हो और कुमार्गको बढानेवाले हो ऐसे ग्रथ विद्वानोको कभी नही सुनने चाहिये । जो ग्रंथ धर्मका नाश करनेवाले है, पापके कारण हैं, समस्त विद्वानोके द्वारा निंद्य हैं, सत्य रहित हैं, पापबंध करनेवाले हैं, सब गुणोंको नाश करनेवाले है, सब दोषोसे भरपूर ह, जो निंद्य है और आत्मज्ञानसे रहित, इन्द्रिय सुखोमें लीन रहनेवाले [illegible] लोगोके बनाये हुए है ऐसे ग्रन्थ विद्वानोको कभी नही पढना चाहिये ॥ ३९-४५ ॥

[illegible]—प्रत्येक दिन गृहस्थोंको करने योग्य ये पट्क्रियायें जिनागमम कही हैं, ये पापको नाश करने- [illegible] और [illegible] ॥ ४६ ॥

[illegible]—गृहस्थोंको आरंभ और पचसूना पापसे [illegible] प्रकारके पाप नित्य प्रति लगते ह । उनकी निवृत्ति- [illegible] सुखोंको प्राप्त करानेवाली आवश्यक पट्क्रियाएँ अवश्य ही करनी चाहिये ॥४७-४८॥

पापकार्यं प्रकुर्वंति ये नरा तेऽधमा मता: । सर्वदु:खप्रद हेय धर्मस्य खलु न क्रिया ॥ ४९ ॥
षट्कार्येण भवेत् पाप तथा धर्मोपि भो बुधा । समस्वता गृहस्थाना भवेता द्वौ यदा खलु ॥ ५० ॥
यदहो धर्मकार्योहि वर्द्धत्येव तदा भवेत् । नाकलोकस्य संप्राप्तिः पारपर्यात् शिवस्य वै ॥ ५१ ॥
यदहो वर्द्धता याति तदा प्राप्ति भवेत् खलु । अधोगतेरहो भव्या निकोतस्य ह्यनुक्रमात् ॥ ५२ ॥
अतो द्वयो: फल ज्ञात्वा प्रात:काले बुधोत्तमा: । प्रतिघस्राहोनाशाय कुरुध्व षट्क्रिया वराम् ॥ ५३ ॥
षट्क्रिया ये प्रकुर्वंति मतास्ते गृहनायका: । आगमे जिननाथेन ते च धर्मप्रभावका: ॥ ५४ ॥
अहो श्राद्धानिका यूय कुरुथ षट्क्रिया वरा । भवता यदि श्रद्धा स्यात् ग्रथाना वै दृगाप्तये ॥ ५५ ॥

अर्थ---जो मनुष्य पाप कार्यके करनेमे रत हैं, वे अधम है । यह पापकर्म सब तरहके दुःख देनेवाला है इसलिये त्याज्य है । परंतु धर्मकी क्रिया कोई भी त्याज्य नहीं है ॥ ४९ ॥

अर्थ---कृष्यादि षट्कार्यसे पाप ही होता है । धर्म कार्यसे धर्म होता है । तथा गृहस्थोसे दोनो हो सकते हैं इसलिये गृहस्थोंको पापोको दूर करनेके लिये धर्मकार्य अवश्य ही करना चाहिये ॥ ५० ॥

अर्थ---जब धर्मक्रियाएँ बढ़ती है तब ही स्वर्ग सुख प्राप्त होते हैं और परंपरासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ५१ ॥

अर्थ---जब पापकर्म बढ़ जाते है तब यह जीव अधोगतिको प्राप्त होता है । और अनुक्रमसे निगोद पर्यायको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

अर्थ---पाप कर्मोंका फल दुःखकी प्राप्ति और धर्मक्रियाका फल सुखोंकी प्राप्ति है । इसलिये पाप क्रियाओंका परित्याग कर नित्य ही षट् आवश्यक क्रियाओंको भावपूर्वक करना चाहिये ॥ ५३ ॥

अर्थ---जो भव्य जीव षट् आवश्यक क्रियाओंका पालन भावभक्तिसे नित्य प्रति करते हैं वे सद्गृहस्थ माने गये हैं । जिनेन्द्र भगवान्ने उनको भव्य माना है । और उनसे ही धर्मकी प्रभावना होगी ॥ ५४ ॥

अर्थ---हे भव्य श्रावक हो ! इसलिये आप षट् आवश्यक क्रियाओंका पालन नित्य ही अपनी शक्तिको न छुपाकर भावभक्तिसे करो जिससे जिनागममें श्रद्धा हो तथा सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो ॥ ५५ ॥

प्रत्यक्ष पश्यथ यूय सर्वग्रंथेषु निश्चयात् । महापुराणचरितश्रावकाचारमुख्येषु ।। ५६ ।।
सर्वत्र वर्णिता श्रीमज्जिनसेनादियोगिभिः । दिशाबरधरैः धीरैः मिथ्यामार्गविघातकैः ॥ ५७ ॥
सर्वत्र वर्णिता. शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वराः । पालनार्थं प्रतिदिन ह्यागमे शिवदायका. ॥ ५८ ॥
स्नानाद्या कथिता. शुद्धा गृहस्थाना क्रिया वराः । पालनार्थं प्रतिदिन ह्यागमे शिवदायकाः ॥ ५९ ॥
भवद्भि. केन ग्रन्थेन वक्तव्य खलु लोपिताः । षट्क्रिया जिननाथेन इमाः प्रोक्ताश्च गेहिना ॥ ६० ॥
स्यात् यदि दृढश्रद्धा वै भवतामागमस्य च । कुरुध्वं जिननाथस्य षट्क्रिया वासरं प्रति ॥ ६१ ॥
त्यजध्व हृदयोक्ति च वसुभूपालवत् खलु । ग्रन्थाना लोपनं मूढा मा कुरुध्व मतापहम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! यह बात सबको प्रत्यक्ष है और ग्रन्थोंसे भी सबको निश्चय है । महापुराण और श्रावकाचार आदि मुख्य ग्रन्थोंमें ये क्रियाएँ स्पष्ट बतलाई है ॥ ५६ ॥

अर्थ—ये क्रियायें आगममें सर्वत्र कही हैं । और मिथ्यामार्गको नाश करनेवाले श्रीमज्जिनसेनाचार्य आदि दिगम्बराचार्योंने कही हैं ॥ ५७ ॥

अर्थ—गृहस्थोंके लिये आगममें प्रति दिवस करनेके लिये आवश्यक षट् क्रियाएँ प्रतिपादन की हैं । उनसे इस लोकमें सुख और परलोकमें सद्गति प्राप्त होती है और क्रमसे मोक्ष भी होती है ॥ ५८ ॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान्‌की पंचामृत रसोंसे अभिषेक पूजा आदि उत्तम क्रियाएँ गृहस्थोंको नित्य ही करनी चाहिये जिनसे मोक्षके सुखकी प्राप्ति हो ॥ ५९ ॥

अर्थ—जो लोग स्नानादि क्रियाओंका निषेध करते हैं उनसे पूछना है कि आपने किन ग्रन्थोंमें स्नानादि क्रियाओंका निषेध देखा है ? आगममें तो किसी भी ग्रन्थमें निषेध नहीं है । बल्कि समस्त ग्रन्थोंमें इनका विधान तो मिलता है । जब समस्त ग्रन्थोंमें विधान है तो फिर लोप क्यों करते हो । भगवान् जिनदेवने बतलाई हुई क्रियाओंका लोप करना ठीक नहीं है ॥ ६० ॥

अर्थ—यदि आपके जैन आगममें दृढ श्रद्धान है तो जिनवर देव प्रतिपादित षट्क्रियाओंको नित्य प्रति आप अवश्य करना चाहिये ॥ ६१ ॥

अर्थ—अपनी कल्पित विधिको ही सत्य मानकर जिनागमका लोप करना वसु राजाके समान दुःखको

मतिश्रुतावधिनेत्रधारकाणा च योगिनाम् । गृहस्थधर्मव्याख्यान कुर्वता च विमानिनाम् ॥ ६३ ॥
तेषा नैव ह्यहो मूर्खा दोषो दृष्ट किमप्यहो । अभिषेकादिसर्वासु क्रियासु विदितेषु वै ॥ ६४ ॥
भवता नैव भो मूढा मतिज्ञानादिमद्गुणाः । चाल्पमात्रापि दृश्यते सर्वद्वापरनाशकाः ॥ ६५ ॥
वक्तव्य केन ज्ञानेन भवद्भि मतिवर्जितै । किं दृष्टश्च प्रदोषो वै अभिषेकादिषु खलु ॥ ६६ ॥
दोषः किं स्यात् प्रभो पादलेपने चदनादिभि । दीपस्योद्योतने किं च जिनाकयक्षपूजने ॥ ६७ ॥
धूपोत्करस्य दहने निशायाः पूजने तथा । जिनात्तपुरुषाणा च वात्सल्ये मार्गवर्द्धके ॥ ६८ ॥
पुष्पोत्करै जिनेन्द्रस्य पादाब्जपूजने खलु । केलाम्रगोस्तनी चान्यत्फलोकरैः प्रपूजने ॥ ६९ ॥
इत्याद्या या क्रिया सर्वा जिननाथेन वर्णिता । आगमे तत् भवद्भिश्च त्यक्ता भो मूढबुद्धित ॥ ७० ॥

प्रदान करने वाला है । इसलिये भव्य जीवोको ग्रन्थका लोप नहीं करना चाहिये ॥ ६२ ॥

अर्थ——मति, श्रुत और अवधिज्ञानके धारक मुनीश्वरोंने गृहस्थधर्मका व्याख्यान करने समय षट्-क्रियाओंका वर्णन किया है । इन षट्क्रियाओमें उन्हे कोई दोष दिखाई नहीं दिया । इसलिये जो भव्यजीव इन क्रियाओंको नहीं करते है, श्रीजिनेन्द्र भगवान्का अभिषेक नही करते वे मूर्ख हैं ॥ ६३ ॥

अर्थ——हे भोले जीवो आप लोगोमें समस्त संदेहोंको दूर करनेवाले मतिज्ञान आदि सद्गुण थोड़ी मात्रामें भी नही हैं फिर आप किस आधार पर अभिषेक आदिक्रियाओका निषेध करते हैं ॥ ६४-६५ ॥

अर्थ——आप लोग शास्त्रके ज्ञानसे रहित है फिर आप किस ज्ञानसे अभिषेकादि क्रियाओंका निषेध करते है । क्या किसी शास्त्रमें इन क्रिया संबंधी दूषण आपने देखा है ? जो निषेध करते है ॥ ६६ ॥

अर्थ——प्रभुके चरण कमलोंपर चंदनका लेप करना, दीपको चढ़ाना और जिनशासन देवोंकी पूजा करना ये सब धार्मिक क्रियायें हैं जिनेन्द्र भगवान्ने कही हैं, निर्दोष हैं ॥ ६७ ॥

अर्थ——रात्रिमें धूपका चढाना, पूजन करना और जिन मुद्राधारक पुरुषोंका मोक्षमार्ग बढ़ानेवाला वात्सल्य करना यह सब क्रिया उत्तम है, निर्दोष है और शास्त्रविहित है ॥ ६८ ॥

अर्थ——इसी प्रकार पुष्पोसे भगवान्के चरणकमलोंकी पूजा करनी चाहिये । केला, आम, द्राक्ष आदि उत्तम फलोंसे पूजा करनी चाहिये । इत्यादि समस्त विधि जिनदेवने बतलाई है उसका लोप करना भगवान्-

अतो यूय जिनेन्द्रस्य आज्ञाघ्नाश्च कुमार्गगा । न श्रद्धा नि फला जाता जिनाज्ञालोपतः खलु ॥ ७१ ॥
यत्राज्ञान च तत्रापि धर्मलेशोपि नास्ति वै । अतो यूयं कुश्रद्धायाः पालकाश्च न सशयः ॥ ७२ ॥
यदि स्यात् दृढश्रद्धा वै भवता तत् वचनस्य च । तदा ह्यगीकुरुध्वं भो स्नपनादिकसत्क्रिया ॥ ७३ ॥
आख्यापयथ मूढाः कस्याज्ञाया स्नपनादिकाः । यूय त्यक्ताः क्रिया मुख्या ग्रन्थपक्ष प्रदर्श्यत ॥ ७४ ॥
ग्रथानुसारत· त्यक्ताः वदध्व च क्रियाः खलाः । इमे यूय तथा किं च स्वमतेः सारतः खलु ॥ ७५ ॥
जिनाननसमुत्पन्नग्रन्थाज्ञा भुवने त्रये । देवेन्द्रा वा नरेन्द्राश्च नागेन्द्राः खचरेश्वराः ॥ ७६ ॥
मर्वं ते मानयत्येव नि शका निखिलार्थदाम् । मतिश्रुतावधिश्लिष्टशुद्धदृग्धारकाः खलु ॥ ७७ ॥
क्वचिदपि जिनेन्द्रस्य चाज्ञा ऋते सुरेश्वराः । न कुर्वंत्यपर कार्यं नानाभवप्रदायकम् ॥ ७८ ॥

की आज्ञाका लोप करना है । जो मनुष्य भगवान्‌की आज्ञाका लोप करता है उसके सम्यग्दर्शन नही रहता है ॥ ७०-७१ ॥

अर्थ—जहांपर अज्ञान है वहां धर्मका लेश मात्र भी पालन नही है । इसलिये जो लोग इन क्रियाओं-को छोड देते हैं वे मिथ्या श्रद्धानके पालन करनेवाले समझे जाते हैं ॥ ७२ ॥

अर्थ—जो आपको आगमकी श्रद्धा है तो अभिषेक आदि षट् क्रियाओको स्वीकार करो ॥ ७३ ॥

अर्थ—यह तो बतलाइये कि स्नपन आदि क्रियायें किसकी आज्ञासे आपने छोड़ रखी है ? ऐसा कोई ग्रंथ है कि जिसमें उनका निषेध हो, यदि है तो वह ग्रंथ दिखलाइये ॥ ७४ ॥

अर्थ—जो आपने किसी ग्रंथके आधारसे समस्त क्रियाओंका परित्याग किया है या अपने ही मनसे ? मनकी बात तो ठीक नहीं है और आगम ग्रन्थमें कहींपर निषेध नहीं है ॥ ७५ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के मुखकमलसे प्रकाशित आगम ग्रन्थोंकी आज्ञा सब तरहकी शंकाओंसे रहित है और समस्त तत्त्वोंका बोध करनेवाली है इसलिये तीनों लोकोंके देवेन्द्र, नरेन्द्र, विद्याधर और विद्वान् सभी इसे मानते हैं तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञानको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टी जीव भी इसे स्वीकार करते हैं वे श्रद्धान करते हैं ॥ ७६-७७ ॥

अर्थ—श्रीजिनदेवकी आज्ञाको सुरेश्वर भी उल्लंघन नहीं करते हैं वे भी जिनदेवकी आज्ञानुसार अपनी

यूय वदथ भो मर्त्या. पारंपर्यात्समागता:। भवद्भिरभिषेकाद्या: कथमुत्थापिता: खलु ॥ ७९ ॥
सुरेन्द्राणामवि नैव सामर्थ्यं स्यात्कदाचन। जिनाज्ञालोपने मूढा: भवद्भि लोपिता: कथ ॥ ८० ॥
यूय तदधिका: किं वै अत उत्थापित प्रभो:। वाक्यं सर्वेन्द्रपूज्य च सर्वत्रापि निरकुशम् ॥ ८१ ॥
वदध्व पुन: भो मूर्खा ह्यसत्या: स्युरिमा: क्रिया:। सर्वे ग्रथा असत्या: स्यु- सर्वसदेहनाशका: ॥ ८२ ॥
युष्माक यदि श्रद्धा स्यात् दृढा जिनागमस्य वै। तदा किं न कुरुध्व भो तत् वाक्यं शिवदायकम् ॥ ८३ ॥
पक्षपात त्यजध्व च ग्रथपक्ष जगन्नुतम्। यूय श्रद्धानिका नित्य कुरुध्व धर्मसिद्धये ॥ ८४ ॥
ह्यधुना पचमे काले नो सति भो बुधोत्तमा:। तीर्थंकरा: सुरै पूज्या: केवलज्ञानमडिता· ॥ ८५ ॥

समस्त क्रिया करते है। परंतु आप लोग परंपरासे प्राप्त और जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित क्रियाओंका लोप क्यों करते है ? जो जिनेन्द्रकी आज्ञाको लोप करनेकी शक्ति देवोंमें नहीं है। मालूम पड़ता है कि आपका ज्ञान देवेन्द्रोंसे भी अधिक है ! इसीलिये देवेन्द्रोंसे पूज्य जिनागमके लोप करनेमें आपकी बुद्धि हो रही है। इस प्रकार की निरंकुश बुद्धि विवेकको नष्ट कर मिथ्यात्वको प्रकाशित करेगी ॥ ७८-८१ ॥

अर्थ—क्या शास्त्रोमे बतलाई हुई क्रियाएँ असत्य है। जो असत्य हैं तो समस्त शास्त्र भी असत्य ठहरेंगे। जिन शास्त्रोंके पढ़नेसे सर्व संदेह नाश होता है और सर्वज्ञ प्रभुकी आज्ञा निराबाध प्राप्त होती है उनको असत्य किस प्रकार माना जाय ॥ ८२ ॥

अर्थ—जो आपकी जिनागममें श्रद्धा है तो उन अभिषेकादि समस्त क्रियाओको स्वीकार करना चाहिये जिससे शिवसुख हो ॥ ८३ ॥

अर्थ—इसलिये पूजा और अभिषेक आदि क्रियाओंके करनेमें पक्षपातका परित्याग कर देना चाहिये। जगत्मान्य ग्रन्थोका पक्ष करना चाहिये। यदि आप आगमके अनुकूल चलना चाहते हैं तो धर्मकी सिद्धिके लिये क्रियाओंको पालन करो ॥ ८४ ॥

अर्थ—इस पंचम कालमें इस समय देवोंसे पूज्य केवलज्ञान मडित, समोशरण मंडित देवोसे पूज्य चौतीस अतिशय युक्त, अष्टादश दोष रहित, परम वीतराग, ऐसे तीर्थंकर प्रभु तो साक्षात् विद्यमान नही हैं।

समवसरणशोभामंडिता भव्यबोधका. । मित्राग्न्यतिशयैर्युक्ता: पुष्पदंतप्रभाधिका: ॥ ८६ ॥
तेपि सर्वे शिवस्थाने गताः धर्माब्धिभोजकाः। प्रत्यक्ष नैव दृश्यते जिनाश्च केवलेक्षणाः ॥ ८७ ॥
नितनार्थं न तेषा वै स्थापना पंचमे बुधा। धातुपाषाणद्रव्येषु मुनिभि. स्थापिताः शुभाः ॥ ८८ ॥
शिलास्फोटसुहस्तेन घटिता तत्समाश्च वै। पश्चाद्धि तत्प्रतिष्ठा च संभवेद्धि यथाविधि ॥ ८९ ॥
स्नानदा पूजया योग्या तन्मूर्ति सकलावनौ। सर्वे भव्या प्रतिघस्र तद्दिवस्य तदाप्तये ॥ ९० ॥
उदकेक्षुघृतैर्दुग्धैर्दधिसर्वौषधादिभि. । अभिषेकं प्रकुर्वंति शुद्धैरखकनदकै. ॥ ९१ ॥
ततश्चैव सुवस्त्रेण तत्तनोर्जलजान् कणान् । दूरीकृत्य प्रयत्नेन स्थापयित्वा वरासने ॥ ९२ ॥
तदग्रेहि त्रिधारा च पातयंति नराश्च ये । जन्ममृत्युजरानाशं कुर्वन्ति ते हि निश्चयात् ॥ ९३ ॥
काश्मीरागुरुचंद्र न ह्यन्यद्गंधोत्कटं शुभम्। संघृष्य जिनपादाब्जौ लेपनीयौ मनोहरौ। ९४ ॥

वे तो चतुर्थकालमें ही मोक्षमें जा विराजे हैं। इसलिये तीर्थंकर प्रभुकी प्रत्यक्ष पूजा इस समय नहीं होती है। किन्तु उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिये परोक्ष पूजा इस समयकी जाती है। भगवान्‌का स्वरूप चिंतवन करनेके लिये तदाकार धातु, पाषाण आदिकी सुन्दर, शुभ हाथोंसे घड़ाई गई मूर्ति निर्माण कर और आगमकी विधिसे उसकी प्रतिष्ठा करा कर पूजा की जाती है ॥ ८५-८९ ॥

अर्थ—भगवान्‌की मूर्तिकी परोक्ष पूजा प्रत्यक्ष पूजासे भिन्न होती है। इसलिये परोक्षपूजा उस मूर्तिकी जल, इक्षुरस, घी, दूध, दही, सर्वौषधि आदि उत्तम और पवित्र द्रव्योंसे की जाती है। यह सनातन विधि श्रीजिनेन्द्रदेवने प्रतिपादन की है और इन्द्रादिक देव इसी विधिसे नंदीश्वरादि द्वीपमें अकृत्रिम जिनबिंबोंका अभिषेक करते हैं ॥ ९०-९१ ॥

अर्थ—फिर भगवान्‌की उस दिव्य मूर्तिको एक उत्तम सिंहासनपर विराजमान कर मूर्तिके जलकणोंको वस्त्रसे पोंछ देते ॥ ९२ ॥

अर्थ—जो भगवान् अरहन्त प्रभुके सामने भृंगार नालसे तीन धाराको छोड़ते हैं वे जन्म, जरा और मरण तीनोंका नाश करते हैं ॥ ९३ ॥

अर्थ—केशर, कपूर, अगर, तगर आदि सुगंधित द्रव्योंको उत्तम प्रकारसे घिसकर श्रीजिनदेवके पवित्र

भवातापविनाशार्थं केवलज्ञानधारिभिः । कथित बिंबपूजाया चंदनस्य प्रलेपनम् ॥ ९५ ॥
जिनपादारविंदाग्रे कर्तव्या भो बुधोत्तमाः । पुजाश्चाक्षतवारस्य चाक्षयपुरप्राप्तये ॥ ९६ ॥
कुदाब्जमालतीपुष्पस्रजाश्च मारहानये । जिनपादोपरि भव्या धर्तव्या. कोटवर्जिताः ॥ ९७ ॥
शाल्यन्न मोदक भक्ष्य सर्वं च व्यजनोत्कर । क्षुधातकविनाशार्थं स्थापनीय प्रभोः पुर ॥ ९८ ॥
आरार्तिका प्रकर्तव्या जिनेन्द्रपदपद्मयोः । मोहभूपविघातार्थं दीपव्यूहैर्घृतोद्भवैः ॥ ९९ ॥
पावके धूपवृन्दस्य कर्तव्यो दहनो बुधैः । जिनपादाब्जभूम्यग्रे कर्मेन्धनविनाशक ॥ १०० ॥
नारिंगाम्र कपित्थाद्यै पूजनीयो जिनेश्वरः । मोक्षफलस्य प्राप्त्यर्थं शर्मसततिदायकम् ॥ १०१ ॥

चरण कमलोंका प्रलेपन करना चाहिये। जिससे संसार तापका नाश हो। यह जिनबिम्बपूजाकी विधि संसार ताप विनाश करनेके लिये केवलज्ञान धारक श्री जिनदेवने बतलाई है ॥ ९४-९५ ॥

अर्थ—अरहन्तप्रभुके समक्ष उत्तम अक्षतोके मनोहर पुंज बनाकर चढ़ाना चाहिये। जिससे अक्षयपुर (मोक्ष स्थान) की प्राप्ति हो ॥ ९६ ॥

अर्थ—मोगरा, कमल, मालती आदि उत्तम और सुवासित शुद्ध निर्जीव फूलोंको प्रभुके चरण कमलोंपर चढ़ाना चाहिए ॥ ९७ ॥

अर्थ—क्षुधारूपी रोगके विनाशके लिए अरहन्तप्रभुके समक्ष भात, लाडू आदि व्यञ्जन बड़ी भक्तिसे शुद्धतापूर्वक चढ़ाना चाहिये ॥ ९८ ॥

अर्थ—अरहन्तप्रभुके चरणकमलोंके सामने शुद्ध सुगंधित घीके सुन्दर दीपक जलाकर आरती करनी चाहिये ॥ ९९ ॥

अर्थ—प्रभु के सामने उत्तम सुगधित धूप अष्टकर्मोंके नाश करनेके लिये अग्निमें प्रक्षेपण करना चाहिये ॥ १०० ॥

अर्थ—प्रभुके चरणकमलोकी पूजा नारंगी, आम, कपित्थ आदि उत्तम फलोसे विधिपूर्वक करनी चाहिये जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो ॥ १०१ ॥

भो भव्या विंबपूजाया विधिरेव प्रकीर्तित.। जिनागमे यतीन्द्रौघै. यूयं सर्वत्र पश्यथ ॥ १०२ ॥
प्रत्यक्षं केवली नास्ति अतस्तत्स्थापना मता । स्थापनाया मता सर्वा. क्रियाः वै स्नपनादिकाः ॥ १०३ ॥
पश्यथ सर्वग्रंथेपु विम्वपूजाविधिं पृथक् । केवलज्ञानपूजाया मुरेन्द्राद्यैश्च निर्मित ॥ १०४ ॥
व्यवहारनयापेक्षो गृहस्थाना जिनेश्वरे । विम्वपूजाविधिश्चैव कथित. केवलेक्षणै ॥ १०५ ॥
निश्चयनयतो भव्या चिद्रूपाणा मता खलु । इज्या च सारसिद्धाते प्रोक्ता सकलदर्शिभिः ॥ १०६ ॥
अत माक्षात् जिना पूज्याः सुराधीशैश्च तारका । नो सति सत्सभायुक्ता किं विदध्मो वदथ वै ॥ १०७ ॥
अस्मिन् काले महाभीमे तदृते कथिता क्रिया । मुनीश्वरैश्च विंबेपु स्नानाद्या भो बुधोत्तमाः ॥ १०८ ॥
दिव्यध्वनिमयी वाणी वीतरागमुखोद्भवा । साप्यस्मिन् नास्ति भो भव्या सर्वद्वापरखण्डका ॥ १०९ ॥

अर्थ—हे भव्य अरहंत भगवान्के जिनप्रतिमाकी परोक्ष पूजाकी विधि संक्षेपसे ऊपर कही है वह जिनागममें सर्व ग्रन्थोंमें मुनीश्वरोंने बतलाई है ॥ १०२ ॥

अर्थ—इस पञ्चमकालमें साक्षात् केवली भगवान् विराजमान नहीं हैं किन्तु केवली भगवान् तीर्थङ्कर प्रभुकी प्रतिकृति (स्थापनाबद्ध जिनमूर्तिको ही साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् मानकर) में ही समस्त क्रियायें की जाती हैं। यह स्नपनादि विधि समस्त ग्रथोंमें कही है। परोक्ष पूजाकी विधि यही परमागममें मानी है। देवेन्द्रोंने जिनमूर्तिकी पूजा विधि इसी प्रकार की है। यह विधि व्यवहार नयकी अपेक्षासे आचार्योंने बतलाई है। और जिनेश्वर देवने प्रतिपादित की है। निश्चयनयसे एक चिद्रूपमें ही लवलीन हो जाना यही पूजा विधि है। ऐसा ही अभिप्राय सारसिद्धात नामके ग्रन्थमें कहा है। इसलिए जिन भव्यजीवोंने जिनप्रतिमाकी पूजाकी उनने साक्षात् जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की। देवगणोंमें शक्ति होनेसे वे साक्षात् पूजा करते हैं और संसारसमुद्रसे पार होते हैं ऐसी ही अचिन्त्य शक्ति अरहन्त भगवान्में है। यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। परन्तु इस समय साक्षात् अरहन्त नहीं है। फिर हम लोग सिवाय उनकी परोक्ष पूजाके और क्या कर सकते हैं ॥ १०३-१०७ ॥

अर्थ—इस पञ्चमकालमें साक्षात् अरहन्त केवलीका अभाव होनेसे जिनबिंबमें ही स्नानादि विधि कर यह आवश्यक क्रिया करनी चाहिए। ऐसा आचार्योंने कहा है ॥ १०८ ॥

अर्थ—साक्षात् तीर्थंकर केवलीका अभाव होनेसे साक्षात् दिव्यध्वनिका भी अभाव है जिससे सर्व सन्देह

पर्णेषु जिनसेनाद्यैर्योगीन्द्रै सधृता खलु । पारपर्यात्समायाता सा च सर्वत्र विश्रुता ॥ ११० ॥
तदा सर्वे गृहस्थाश्च क्रियाकर्मरता परम् । शास्त्राद्धि सर्वप्रत्यक्ष पश्यति सकला- क्रिया ॥ १११ ॥
अहो श्राद्धानिका यूय कुरुध्व सकला क्रिया: । साधुभिर्वरयोगीन्द्रै- ग्रन्थेषु स्थापिता ननु ॥ ११२ ॥
कालेऽस्मिचलचित्तकरे मिथ्यात्वपूरिते । नैव दृश्यते योगीन्द्रा महाव्रतधरा वरा. ॥ ११३ ॥
मतिज्ञानयुता केचित् श्रुतबोधविमण्डिताः । अवधिज्ञानान्विताहि तुर्यबोधान्विता खलु ॥ ११४ ॥
सत्यस्मिन् नैव ते धीरा मुनय- सूरपूजिताः । ईदृशा ज्ञाननेत्राढ्या दिशावासोधरा वरा' ॥ ११५ ॥

दूर होता था । परंतु पंचमकालमे जिनागम ग्रन्थोमें वह दिव्य-ध्वनि आचार्योंकी परंपरासे ग्रथित की है । जिनागम ग्रंथोमें केवली भगवान्‌की दिव्य-ध्वनिके सिवाय एक अक्षर मात्र भी स्वकल्पित नही है । न रागद्वेष या प्रतिष्ठा कीर्त्ति आदिके गौरवसे वीतराग योगियोंने उस दिव्य-ध्वनिमें व्यतिक्रम किया है । इसलिये परमागमके शास्त्र सब दिव्य-ध्वनि रूप ही है । जो प्रामाणिकता, सत्यता और निर्दोषता दिव्यध्वनि की है वही प्रामाणिकता, सत्यता, निर्दोषता और अबाधता ग्रंथों की है ॥ १०९ ॥

अर्थ—वही दिव्यध्वनि जिनसेनादि आचार्योंके द्वारा सम्यक् प्रकारेण धारण कर ग्रन्थ रूप लिखी है तथा सर्वत्र वही सुनी जाती है ॥ ११० ॥

अर्थ—इसलिये सद्‌गृहस्थोंको चाहिये कि शास्त्रोक्त स्तवन आदि क्रियाओको करें । क्योंकि वे सब बातें शास्त्रमे प्रत्यक्ष है ॥ १११ ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! साधुओं और श्रेष्ठ योगिन्द्रोंके द्वारा ग्रन्थोंमे लिखित समस्त क्रियाओंका तुम श्रद्धान करो ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस पंचमकालमें मनुष्योंके मन स्वभावसे ही चपल हो रहे है । मिथ्यात्वसे पूरित हो रहे है । ऐसे समयमे महाव्रतके धारण करनेवाले विरले ही मिलते है । कोई मतिज्ञान श्रुतज्ञान धारक है । अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान है ऐसे महामना मुनीश्वरोंका तो प्रायः अभाव है जिनसे संसारका कल्याण होता था । वे मुनीश्वर कुमार्गपर चलनेवालोंको सुमार्गपर लाते थे । जिनराजकी आज्ञाभंग करनेवालोंको सन्मार्गपर लाते थे और मनमानी करनेवालोको योग्य व्यवस्था कर सन्मार्गपर लाते थे । संघमें बिना दण्डके कभी भी व्यवस्था

[1]कालेऽस्मिन् किं करिष्याम गुरूणा तदृते नराः। लोप वदथ ग्रथेषु कथित यदि क्वापि च ॥ ११६ ॥
ईदृश न श्रुत क्वापि गुरुलोप च पचमे। कुरुध्व मानयध्व च द्वयो. श्रीजिनशास्त्रयोः ॥ ११७ ॥
त्रिकालसर्ववस्तूना वर्णना च कृता जिनैः। भो मर्त्या न श्रुत चैव गुरुलोपं च तत्र वै ॥ ११८ ॥

नहीं होती है। राजदण्डसे जैसे अन्याय रुक जाता है इसी प्रकार पंचायती दण्डसे धर्मविरुद्ध चलनेवालोंकी अनीति मिट जाती है ॥ ११३-११५ ॥

अर्थ—यह हुंडक पंचमकाल है। इसमें श्रेष्ठ गुरुओंको नहीं मानने वाले मनुष्य तथा जैन कहलाने वाले न जाने कैसे-कैसे पापी भी उत्पन्न होंगे जो स्वयं धर्मवहिर्भूत होंगे और समस्त प्रजाको ग्रन्थोंका लोप कर धर्मवहिर्भूत बनायेंगे। कुमार्ग, अन्याय और अत्याचार बढ़ायेंगे। यद्यपि ग्रन्थोमें सदाचारका विधान होगा तो भी वे पापी उनको नही मानेंगे और लोगोंमें मिथ्या प्रसिद्धि कर सन्मार्गका लोप करेंगे। ऐसे मनुष्योसे सन्मार्ग प्रकाशक ग्रन्थोंकी रचना नहीं होगी किंतु व्यभिचार, अन्याय फैलाने वाले ग्रन्थोंकी रचना होगी। इसके सिवाय वे लोग गुरुओंका भी लोप करेंगे, गुरुओंको भी नही मानेंगे ॥ ११६ ॥

अर्थ—पंचम कालमें मुनिधर्मका लोप होगा ऐसा किसी भी शास्त्रमें नही है फिर भी ऐसा कहने वाले मायावी हैं क्योंकि पंचम कालके अंततक शुद्ध मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रहेंगे ऐसा जिनागम स्पष्ट रूपसे बतलाता है। इसलिये शास्त्र और गुरु दोनोंका श्रद्धान करना चाहिये, दोनोंको मानना चाहिये ॥ ११७ ॥

अर्थ—त्रिकालज्ञानी सर्वज्ञ भगवानने समस्त पदार्थोंका वर्णन किया है उसमें यह भी बतलाया है कि पंचमकालके [illegible] निर्वाण होगा, परन्तु ऐसा कहीं भी नहीं सुना, न जिनागममें कहा है कि पंचमकालमें [illegible] मुनीश्वरोंका अभाव होगा। परन्तु मनचले कितने ही पापी मनुष्य गुरुओंका लोप करते हैं। [illegible] वे पापी निर्ग्रन्थ गुरुओंको भी नहीं मानते ॥ ११८ ॥

[1] [illegible]

श्रद्धास्माकमपि चैषा जानीध्व हृदि भो नरा.। निश्चयस्य नयस्यैव लक्षण तच्च निश्चयात् ॥ ११९ ॥
अर्हतो नापरो देवो निर्ग्रंथान्नापरो गुरुः। दयातो नापरो धर्मो ह्येतच्छ्रद्धानलक्षणम् ॥ १२० ॥
भो मूढा भवता नैव शुद्धसम्यक्त्वकारका। दुर्लभा सापि विज्ञेया कर्मवान् विभजका ॥ १२१ ॥
निश्चयव्यवहारस्य नयस्य यस्य स्यात् खलु। श्रद्धा तस्यैव चोत्पत्ति' सम्यक्त्वस्य न सशयः ॥ १२२ ॥
स्याद्यदि भवता श्रद्धा निश्चयस्यैव निश्चयात्। तर्हि नमथ पर्णस्थान् किमर्थं वचनापहा ॥ १२३ ॥

अर्थ---जो सर्वज्ञ कथित आगम और निर्ग्रंथ गुरुका प्रलोप कर केवल मनोक्त कल्पनासे शुद्ध सम्यग्दृष्टी बनते है उनके लिये विचार किया जाता है कि देव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धान बिना केवल स्वानुभवसे सम्यग्दर्शन होता है या नहीं ? व्यवहार नयको अतिक्रम कर जो मनुष्य निश्चयनयका अवलंबन लेता है और व्यवहार नयको सर्वथा मानता ही नहीं है उसके निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है किंतु तीव्र मिथ्यात्व है, क्योंकि अरहंतके सिवाय अन्य कोई देव नही। निग्रंथ दिगम्बर गुरु सिवाय अन्य कोई गुरु नहीं, और अहिंसाधर्म सिवाय अन्य कोई धर्म नही है, ऐसे दृढ़ श्रद्धानको सम्यग्दर्शनका लक्षण परमागममें बतलाया है। जिसके इस प्रकार श्रद्धान नहीं है वह सम्यग्दृष्टी नहीं है, मिथ्यादृष्टी है। क्योंकि यह परमागमका सुदृढ नियम है कि जिसके देव, शास्त्र, गुरुका दृढ़ श्रद्धान होता है उसीके निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। व्यवहार सम्यग्दर्शनके बिना निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है। जो मनुष्य देव, शास्त्र, गुरुकी श्रद्धा करे नही, आगमको सर्वांग माने नहीं, आगमोक्त आचरण और क्रियाओंको स्वीकार करे नहीं, आगमप्रतिपादित धार्मिक विवाहादि क्रियाओको धर्मक्रिया नहीं माने और धर्ममें सशंक वृत्ति रखे वह अपनेको भले ही निश्चय सम्यग्दृष्टी कहे परंतु वह घोर पापी और अनंतसंसारी मिथ्यादृष्टी है ॥ ११९-१२२ ॥

अर्थ---जो तुम्हारे एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान है और उसीका पूर्ण निश्चय है तो फिर मुनि दीक्षा लेकर वनमें रहो। व्यर्थ ही भगवान् अरहन्त देवके कहे हुए वचनोंका लोप क्यो करते हो। तथा फिर ग्रन्थोंको नमस्कार, पूजन और भक्ति करते हो ? जो ग्रन्थोंकी उपासना है तो फिर एक निश्चय सम्यग्दर्शन कहाँ रहा ? और एक आत्मीय श्रद्धान कहाँ रहा ? जब ग्रन्थोकी उपासना है तब ग्रन्थोंमें प्रतिपादित मूर्तिपूजा, स्नपन,

पूजयथ किमर्थं च मूर्ति पाषाणनिर्मिताम् । निश्चयपालका यूयं व्यवहारपरान्मुखाः ॥ १२४ ॥
सिद्धांते जिननाथेन भाषित चैव लक्षणम् । निश्चयव्यवहारस्य केवलज्ञानिना खलु ॥ १२५ ॥
नयेन व्यवहारेण कार्यसिद्धिर्भवेदहो । मुनीना च गृहस्थाना यूयं सर्वत्र पश्यथ ॥ १२६ ॥
व्यवहारनयेनैव मानुजा भो इमे मता. । गुरव. शृणुथ यूय वक्ष्यमाण मया खलु ॥ १२७ ॥
एकवर्णप्रदातापि श्लोकदाता पदस्य वा । ग्रन्थस्य मन्त्रदाता च ज्ञानोपदेशकश्च वा ॥ १२८ ॥

अष्टद्रव्यसे पूजन आदि विधान भी मानना पड़ेगा । अन्यथा ग्रन्थोकी उपासना भी नही बनेगी । और जो एक आत्माका ही निश्चय श्रद्धान सारभूत है । व्यवहार क्रियाओसे क्या प्रयोजन ? इस विचारसे व्यवहारनयका उत्थापन करते हो तो फिर पाषाण निर्मित अरहंत भगवान्की मूर्तिका क्यो पूजन करते हो ? मूर्तिकी पूजन करनेसे आत्माकी पूजन नहीं होती है । निश्चय अनुभवको माननेवालोको मूर्ति पूजनकी जरूरत क्या ? परंतु मूर्तिपूजा परमागममें सर्वत्र बतलाई है । बिना मूर्ति पूजाके आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नही होती है । इसलिए केवल आत्माके श्रद्धानको मान कर देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान नही करना सो मिथ्यात्व है ॥ १२३-१२४ ॥

अर्थ——जिनेन्द्र देवने सिद्धांत ग्रन्थोंमें सम्यग्दृष्टिका उपर्युक्त लक्षण कहा है । व्यवहारनयके बिना निश्चयनय भी कार्यकारी नही है । शास्त्रकारोने यही बतलाया है कि व्यवहारनयसे ही कार्यसिद्धि होती है । गृहस्थधर्म और मुनिधर्मका स्वरूप इसी नयसे प्रकट होता है । व्यवहारनयसे मनुष्य गुरु होते हैं और गुणस्थानो का आरोहण कर मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ १२५-१२७ ॥

अर्थ——जो एक अक्षर, एक श्लोक, एक पद और एक ग्रन्थका पढानेवाला है वह भी गुरु होता है ।

[illegible] व्यवहार आचरणको पुद्गलका धर्म मान कर परित्याग कर देते [illegible] गुरुकी उपासना करते है, न [illegible] मानते है । उनके देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान [illegible] भी [illegible] होते है । [illegible] जैन [illegible] भी जैनमार्गानु- [illegible] होता है । देव, शास्त्र, गुरुको श्रद्धाके बिना कोई भी सम्य- [illegible] परमागममें मिथ्यादृष्टि [illegible]

यज्ञोपवीतदाता च इत्याद्याः श्रीजिनागमे। इमे सर्वे मताः शास्त्रे गुरवो गुणदानतः ॥ १२९ ॥
येऽधमा नैव मन्यते गुरु ज्ञानस्य दायकम्। ते यास्यति न सदेहः सप्तमे श्वभ्रकूपके ॥ १३० ॥
यथा वै जिनराजस्य यथा दिव्यध्वने बुधाः। स्थापना दृश्यते लोके गुरुणा च तथा मता ॥ १३१ ॥
जैनात्तपुरुषा ह्येते जिनधर्मप्रभावका. । धर्मोपदेशनादौ च पश्यथ च तदोपमा. ॥ १३२ ॥
अहो मूढा च प्रत्यक्ष कुलोन्नतविराजिता । वुद्धयादिगुणसपन्ना मिथ्यात्वपथनाशकाः ॥ १३३ ॥
कलौ च जैनधर्मस्योद्धारणेऽतीव चातुरा. । अस्माद्धि जैनमार्गीय प्रत्यक्ष दृश्यते खलु ॥ १३४ ॥

मन्त्रका प्रदान करनेवाला भी गुरु है। ज्ञान (देशना) का उपदेश देनेवाला गुरु माना है। यज्ञोपवीत विधि, विवाह विधि, प्रतिष्ठाविधि, आदि विधि और संस्कारोंको करानेवाला गुरु होता है। जिनयज्ञ, जिनपूजन आदि विधियोको करानेवाला गुरु है। जैन परमागममे गुरुसंज्ञा गुणोका प्रदान करनेसे अनेक प्रकारसे मानी है॥ १२८-१२९॥

अर्थ---जो अधम मनुष्य गुरुको ज्ञानदायक नहीं मानते है वे निःसदेह नरकके पात्र हैं। गुरु बिना ज्ञान नही होता है यह कहावत भी सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥ १३० ॥

अर्थ---जैसे जिनराजकी स्थापना मूर्तिमे होती है। जैसे दिव्यध्वनिकी स्थापना ग्रन्थोंमे होती है। वैसे ही पूर्वकालके निर्ग्रन्थ मुनीश्वरोकी स्थापना भी वर्तमान कालके मुनियोमें होती है ॥ १३१ ॥

अर्थ---ये वर्तमानकालके मुनि भी जैनधर्मके प्रभावक होते है। और इनके द्वारा धर्मोपदेश प्रत्यक्ष सबको मिलता है ॥ १३२ ॥

अर्थ---इन वर्तमानकालके गुरुओंसे ही जैनधर्मकी रक्षा कितने ही बार हुई है। बुद्धि, तप, शक्ति आदि गुणोमें प्रवोण मिथ्या मार्गके खण्डन करनेवाले ओर जैनधर्मका उद्धार करनेवाले ये गुरु होते है। इन लोगोके कारण ही अब भो धर्मकी स्थिति प्रत्यक्ष दीख रही है ॥ १३३-१३४ ॥

१ धर्मगुरु, विद्यागुरु, मातापितागुरु, राजगुरु, सस्कारकर्ता गुरु आदि भेदसे गुरुओके अनेक भेद माने है। धर्मगुरु सर्वथा निर्ग्रन्थ और परम दिगम्वर ही होते है। ससार समुद्रमे तारक और आत्महितके करनेवाले धर्मगुरु है। बाकी व्यवहार आचरणोके द्वारा क्रम से आत्महित करनेवाले है।

एषा वै नैव सामर्थ्यमस्माक कालदोषत. । एतेषामपि सा न स्यात् प्रत्यक्ष पश्यथ खलु ॥ १३५ ॥
जिनात्तपुरुषा ह्येते जिनधर्मोपदेशका: । अत सर्वे प्रमान्या: स्यु: जिनात्त कोन मानयेत् ॥ १३६ ॥
यथा पाषाणबिम्बाना योग्यो वै पूजनादिक । कार्यं तथैव भो मर्त्या एतेषा नमनादिकम् ॥ १३७ ॥
मा कुरुध्व गुरुघ्ना वै एतेषु विनय खलु । यूय स्यु धर्ममार्गस्य घातका: नात्र सशय. ॥ १३८ ॥
ह्येतत् सिद्धान्तवाक्य स्यात् य. कुधी: मार्गघातक: । लोपयति जिनात्त वै स च धर्मात्पराङ्मुख ॥ १३९ ॥
युष्मा न्मिति भद्रार्थं ह्युपदेश प्रजल्पित । अस्माभि: ग्रन्थबाधेन अहकारमदान्न च ॥ १४० ॥
नागेंद्राश्च सुरेश्वरा त्रिपु खलु सन्मानयन्ति सदा । योगीन्द्रा खचरेश्वरा गुणप्रभज्ञानेन सशोभिता ॥१४१॥
वेदज्ञानविमण्डिता गुरनुता विद्यादिसपद्युता । कुर्वंत्येव प्रलोपन नरवरा नैव भवतापह ॥ १४२ ॥

अर्थ--कदाचित् यह कहो कि कालदोषसे हम लोगोमें शक्ति कम हो गई है । तो यह भी मानना चाहिये कि उनम भी शक्ति कम हो गई है तथापि उनमें शक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देती है ॥ १३५ ॥

अर्थ--ये वर्तमानकालके धर्मगुरु जेनधर्मके उपदेशक हैं इसलिए सवको ही मान्य हैं । जिनने जिनेन्द्र शरण ग्रहण की है उनको कौन नही मानेगा ? सब ही मानेंगे ॥ १३६ ॥

अर्थ--जिस प्रकार अरहन्त भगवान्की मूर्तिको पूजा करते हैं वैसे ही इनका भी सन्मान नमस्कार आदि करना चाहिये ॥ १३७ ॥

अर्थ--गुरुघ्नता प्रकट करना ठीक नही है । इसलिए उनका भी विनय करना चाहिये । जो मनुष्य मार्गका घात करता है वह धर्मसे पराङ्मुख है । यह बात हमने ग्रन्थोमें लिखी है । न कि किसी दूसरे अभिप्राय-से ॥ १३८-१३९ ॥

अर्थ--ससारमें सबसे भयकर पाप ग्रन्थोका प्रलोपन करनेका है । जो मनुष्य ग्रन्थोकी आज्ञाका भग करता है उस आगममें (परमागममें) बतलाये हुए मार्गको स्वीकार नही करता है, परमागमका अनुयायी अपनेको प्रगट करता हुआ भी उसको नहीं मानता या पूर्ण श्रद्धा नहीं रखता अथवा कुछ भागको मानता है और कुछ भागका नहीं मानता और उसमें संदेह करता है वह ग्रन्थका प्रलोपन करता है। अथवा उत्तम सदाचारके ग्रन्थो-को न मानकर कुछ भागम ग्रन्थोको ही आगम समझता है यह भी ग्रन्थका प्रलोपन है ।

वचनाडम्बरै किं च अतो भोः सज्जनाः खलु । यदुक्त जिनग्रथेषु तत् लोप मा विधीयता ॥ १४३ ॥
ये कुर्वंति प्रलोपन च ह्यधमा ग्रथस्य भो- सद्बुधाः । ते यास्यति निकोतिषु सुवचनोपाच्च ससारदं ॥ १४४ ॥
याता याति तथा च दु खनिकर सप्तावनिषु सदा । यास्यत्येव कदापि भो बुधजना लोप कुरुध्व च मा ॥१४५॥

अथ ढूंढक मतोत्पत्ति

अथापर शृणुध्व भो श्वेतवासोमते खलु । लुकाभिधः कुधीरासीत् सर्वधर्मविनाशक ॥ १४६ ॥
रिपुरन्ध्रनीन्दुसंयुक्तसमेऽभूत्श्वेतवाससाम् । द्वापरेषु प्रमग्नाना यतो हि कालदोषत ॥ १४७ ॥
मुनिहस्ते तथा पचसोमयुक्ते ह्यभूत्समे । गते लुंका क्रियाहीनो नाम्नाहि सर्वलोपकृत् ॥ १४८ ॥

इसप्रकार जो ग्रन्थोका प्रलोपन करेगा वह अवश्य नरककुण्डमे गिरेगा । और अनंत संसारको प्राप्त होगा । अथवा निगोद आदि कुयोनियोमे अनंत दुःखको प्राप्त होगा । इसलिये ग्रन्थोंका प्रलोप नही करना चाहिये ।

इंद्र, नागेंद्र, मुनि, अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, विद्वान् आदि किसीने भी आगमोंका लोप नहीं किया है इसलिये तुम भी ग्रन्थोका लोप कभी मत करो । जिन ग्रन्थोंमें जो क्रियाएँ कहीं हैं उनका लोप कभी मत करो । जो पुरुष ग्रन्थोंमे कहे कुछ वचनोंका लोप करता है वह अवश्य ही नरक निगोदमें पड़ता है इसलिये हे बुद्धिमानों ग्रन्थोंका लोप कभी नहीं करो ॥ १४०-१४५ ॥

अर्थ——श्वेतांबरोंमेसे लुंका नामक मत धर्मका नाश करनेवाला प्रकट हुआ है अब आगे उसकी उत्पत्ति आदिका खुलासा बतलाते है वह श्रवण करना चाहिये ॥ १४६ ॥

अर्थ——संशय मिथ्यात्वको धारण करनेवाले (इंदोविय ससइयो ऐसा गोमटसारमें श्वेतांबर मतको संशय मिथ्यात्वी जैनाभास माना है) श्वेतांबर (भगवान् भद्रबाहुके समयमें) सं० १३६ में उत्पन्न हुए । ये सब संदेह मे निमग्न रहनेवाले तीव्र मिथ्यात्वी हैं । इस प्रकार मिथ्यात्वको धारण करनेवाले और अपनेको जैन माननेवाले जैनाभास भी कालदोषसे पंचमकालमें उत्पन्न होते हैं ॥ १४७ ॥

अर्थ——हे राजन् ! लुंक मत सं० १५२७ में उत्पन्न हुआ । यह मत समस्त पवित्र आचरणों का लोप करनेवाला प्रसिद्ध हुआ ॥ १४८ ॥

तन्मते च घना जाता भेदा. स्वपथपोपकाः। निर्विचाराः क्रियाहीना धर्मलोपकरा खला॑ ॥ १४९ ॥
जिनेज्यानिंदका केचित् जिनविंबपरान्मुखाः। निंदका तीर्थयात्राणा म्लेच्छाचारप्रपालकाः ॥ १५० ॥
जैनमंदिरप्रतिष्ठावारका. कुकुलान्विताः। इत्याद्या जिनमार्गस्य वभूवुर्नाशकाः खलु ॥ १५१ ॥
नाम्ना ढूढ्याश्च विख्याताः क्रियाकर्मविवर्जिता । सर्वत्र विसृताः ते च ह्यधुना भो बुधोत्तमाः ॥ १५२ ॥
तस्यापि नैव दोपोऽस्ति कालदोपप्रभावत.। सर्वे मतातरा ह्यस्मिन् भवति नात्र सशय. ॥ १५३ ॥
युष्माक सर्वग्रथेपु भो लुकमतधारका.। किं न स्यात् कथन मूढा पूजायाः श्रीप्रभोः खलु ॥ १५४ ॥
ग्रथमाश्रमह वच्मि शृणुत मतिवर्जिता । यदि ग्रथाः प्रमत्याः स्यु युष्माक शर्मप्राप्तये ॥ १५५ ॥

अर्थ——उस लुंक मतमेंसे भी अनेक मत प्रकट हुए। जो उसी मार्गको पुष्टि करनेवाले थे। जिनमें विचार नहो था, जिनके आचरण पवित्र नही थे और जो पवित्र धर्मका लोप करनेवाले थे ॥ १४९ ॥

अर्थ——ये लुंक मतके अनुयायी जैनाभास अरहत भगवान्की मूर्तिसे परान्मुख रहेगे, श्रीजिनेन्द्र भगवान्की मूर्तिको निन्दा करेंगे। तीर्थ यात्रा आदि धार्मिक आचरणो को रोकेंगे। प्रतिष्ठा, जैनमदिर आदि प्रवृत्तिको रोकेंगे। म्लेच्छाचारको फेलायेंगे और नीच कुलके मनुष्योको साधु बनाकर सबको भ्रष्ट करेंगे ॥ १५०-१५१ ॥

अर्थ——लुंक मतको ढूढिया कहते है। और वे ढूढियाके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन लोगोमें सदाचारकी एक भी उत्तम क्रिया नही है (इनको स्थानकवासी भी कहते है) ॥ १५२ ॥

अर्थ——इसमें किसीका कुछ भी दोष नही है क्योकि कालदोषसे ये सब बातें स्वयमेव बन जाती हैं। इस समयमें मतातरोंकी वृद्धि होगी यह निःसदेह है ॥ १५३ ॥

अर्थ——हे लुंक मतवालो श्रीजिनदेवको पूजाका विधान तुम्हारे मतके ग्रन्थोमें क्या नही है सो तो कहो ॥ १५४ ॥

अर्थ——आचार्य महाराज कहते हैं कि तुम्हारे मतके मुख्य-मुख्य ग्रन्थो (जो सर्वमान्य हैं) में जिनेन्द्र-पूजा [illegible] लिखी है। यदि तुम्हारे मतके ग्रन्थ [illegible] प्रामाणीक आप मानते हो तो जिनेन्द्र पूजाका [illegible] क्योंकि ग्रन्थोमें विधान स्पष्ट रूपसे है। जो ग्रन्थ अमान्य हैं तो फिर तुम्हारा [illegible] ॥ १५४-१५५ ॥

पेतालीसामिधे ग्रन्थे प्रतिमाया बहु विस्तारत पूजनस्य वर्णना कृता वा किं न कृता। भो लुंकमतधारका तस्मिन् प्रत्यक्ष पश्यतु भवन्त । प्रभोः पूजन कथमुत्थापित। यदि युष्माक ग्रन्थोय सत्य स्यात् तर्हि ता जिनपूजा किं न कुर्यु.। यदि भवतामेष पूजाविधिः नैव रोचते तदा ग्रन्थस्य लोपन कुरुध्व। अत कारणात् यूयमपि स्वमतघ्नाः च आगमघ्ना स्युः नात्र सदेह ।

भो लुंकमतपालका. पुन शृणुध्व जीवाभिगमग्रन्थे पूजाया विधिः बहुविस्तारत वर्णितः। ब्रवीध्व, तत्सत्य किमसत्य स्यात् ? भो लुंका.। ज्ञाताभिधकथाया सतीनामध्ये शिरोमण्या द्रौपद्या जिनेन्द्रस्य इज्या कृता पुन. उपासकदशाभिधग्रथे यूय पश्यत। जिनेन्द्रसिद्धयात्राकरण जिनबिम्बस्य पूजाकरण बहुविस्तारेण अनयोः द्वयो कथन कृत। पुनः सूत्रकृतागमे श्रेणिक भूपस्य अभय-

अर्थ—हे लुंकमत धारको तुम्हारे पैतालीसा नामके मुख्य आगम ग्रन्थोमे अतिशय विस्तार पूर्वक भी जिनेन्द्रदेवकी पूजाका विधान बतलाया है या नही ? एकबार तुमने अपने आगम ग्रन्थोको खोलकर देखा है या नहीं ? प्रथम तो अपने ग्रन्थोको देखकर निषेध करना चाहिये। उन ग्रन्थोंमे जब खुलासा वर्णन है तब तुम्हारा निषेध मनोक्त कल्पनासे पक्षपात पूर्ण ही समझा जायगा। कदाचित् तुमको पूजन करना अच्छा नही मालूम होता तो तुम सबसे प्रथम अपने आगम ग्रन्थोको मत मानो। जो ऐसा करोगे तो आगमलोपी कहलाओगे। इसमें कुछ भी सदेह नही।

अर्थ—हे ढूंढियो ! जरा तो सुनो। जीवाभिगम नामक ग्रन्थमें भगवान्‌की मूर्तिकी पूजाका वर्णन खूब विस्तारसे किया है। अब बतलाइये कि उस ग्रन्थका लिखना सत्य है या असत्य ? यदि ग्रन्थका लिखना सत्य है तो पूजा करना तुम्हारे मतमे सबको मान्य है फिर तुम लोग अपना घर (ग्रंथ) देखे बिना ही किस सबूत (प्रमाण) पर निषेध करते हो। यदि उस ग्रन्थका लिखना असत्य है तो जीवाभिगम ग्रंथको मानना छोड़ देना चाहिये। क्यो मानते हो ?

ज्ञाताभिध नामक सूत्रमें सती शिरोमणो द्रोपदी आदि बहुत-सी सतिओके द्वारा श्री जिनेन्द्र भगवान्‌की मूर्तिकी पूजा करना बतलाया है। सो सत्य है या असत्य ? उपासकाध्ययन नामक ग्रंथमें देखो—जिनेन्द्र भगवान्‌की मूर्तिकी पूजा, सिद्ध भगवान्‌की पूजा यात्रा करनेकी आज्ञा है और जिनबिंबकी पूजा बहुत ही विस्तारसे स्पष्ट बतलाई है। वह सत्य है तो स्वीकार करना चाहिये और असत्य है तो उस ग्रंथमें क्यों लिखा है ? इससे तो वह ग्रंथ ही मान्य नहीं समझें ?

कुमाराभिधकुमारेण जिनबिंबस्य बहुभक्त्या च वसुद्रव्यविधिना पूजा कृता। तदैव पूजाप्रभावात् सोपि सम्यग्ज्ञानमाप्तवान्। पुनः सूत्रभगवत्यभिधे ग्रन्थे जिनबिंबस्य च तन्मंदिरस्य तत्पूजाविधेः बहुविस्तारतो वर्णना कृता। नो चेत्तर्हि भवदागमस्य लोप कुरुध्व। [illegible] ये ये ग्रथा भवता सति सर्वेषा तेषा मध्ये यूय पश्यत युष्माक केषु ग्रन्थेषु जिनमंदिरस्य जिनबिंबस्य जिनपूजायाः जिनक्षेत्र-स्पर्शनादिकार्यस्य यदि निषेधन न स्यात् तर्हि कुर्वीध्व। कुपक्ष त्यजत। एतदेव निकोत् कारण तन दुःखान्निर्भया मा भवत [illegible] मा व्रजध्व। हृदि विवेक भजध्व।

सूत्रकृतांग नामक ग्रंथमें श्रेणिक महाराजके पुत्र राजकुँवर अभयकुमारने श्रीजिनेन्द्र भगवान्की मूर्ति की अष्टद्रव्यसे पूजा की और उससे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हुई ऐसा लिखा है सो यह लिखना असत्य है? तुम लोग सूत्रकृताग ग्रन्थको मानते हो या नही? जो मानते हो तो मूर्तिपूजा करना स्वीकार करना चाहिये। जो नहीं मानते तो ग्रन्थ अप्रमाण ठहरा।

भगवती सूत्रमें—जिनबिम्ब और जिनमदिरकी पूजा करना लिखा है। वह भी अतिशय विस्तारके साथ बतलाया है सो क्या मान्य है या नहीं? यदि मान्य नही है तो भगवती सूत्र अप्रमाण ठहरेगा? या तो [illegible] अमान्य करो या मूर्ति पूजा करना स्वीकार करो।

तुम्हारे मतके आगमग्रन्थोमें सर्वत्र जिनबिम्ब पूजा करनेका विधान लिखा है। सो तुमको करना चाहिये। [illegible] ग्रन्थोंको देखकर निषेध करना चाहिये।

आपके कौन-कौनसे ग्रन्थोंमें जिनबिम्ब और जिनमदिर तीर्थयात्रा आदिका निषेध है? या मनकल्पना [illegible] निषेध कर रहे हो। जिनागमादिके निषेध करना अज्ञान है। इसलिये पक्षपातको छोडो और [illegible]।

[illegible] करना मूर्ख लोगोंका कार्य है? इसलिए कुपक्षको छोड देना चाहिये। [illegible] मिथ्या प्रचार होगा। मनकी कल्पनासे देव, जिनमदिर आदि-[illegible] अपार भवमें होना है। सो यह ठीक नहीं है।

भो लुंकमतधारका जिनपूजादानमर्म गृहस्थानामपरो धर्मः त्रिकालेऽपि नास्ति। ये जिनबिम्बस्य निंदका. ते जिनघ्ना: जिनागमघ्ना जिनवाक्यजिनमंत्रराजघ्ना: बहुभाषणेनाल ते सर्वघ्ना. स्यु.।

भो ढूढ्याः नामस्थापनाद्रव्यभावतश्चतुर्धा जिनेन्द्रस्य स्मरण च पूजन स्यात् यूय महामूढा. सर्वत्र पश्यत। पुनः यूयमपि नामद्रव्यभावेन जिनेन्द्रचिद्रूप सदा हृदि स्मरथ किं न भो मतिहीना. स्यु । प्रभो. स्थापना कथमुत्थापिता भवद्भि. तत्कारण कथयत कस्य ग्रथानुसारत.।

अर्थ--अरे ! ढूंढिया हो ! गृहस्थोका धर्म जिनपूजन, दानके सिवाय अन्य दूसरा त्रिकालमें भी श्रेष्ठ नहीं है। मुख्य धर्म तो जिनपूजन और दान देना ही है। इसपर भी आप जिनबिम्बकी पूजा करनेका निषेध कर जो सत्य धर्मका निन्हव करते हो वह जिनबिम्बका निन्हव नहीं है किंतु श्रीजिनेन्द्र देवका ही निन्हव है इसलिए आप अवश्य जिनघ्न हो। और अपने आगमको नही माननेसे आगमघ्न हो, जब आपके आगममे जिनबिम्बपूजन, जिनमदिरपूजन, सिद्धयात्रागमन आदि विधान खुले रूपमे लिखा है तब उसको नही मानना यही आगमघ्नता है। और जिनवाक्य तथा मंत्रराज (णमोकार) को भी नहीं माननेवाले हो। अधिक क्या ? आप सब शास्त्रोंकी सत्यताका लोप करनेवाले मिथ्या कदाग्रही हो।

अर्थ--अरे ढूंढिया हो ! नाम, स्थापना, द्रव्य, भावसे जिनेन्द्रदेवका आराधन पूजन, स्मरण आदि चार प्रकार किया जाता है। प्रत्येक वस्तुमें यह चारों निक्षेप नियमसे होते हैं। परंतु आप लोगोंने तीन निक्षेप (नाम, द्रव्य, भाव) तो स्वीकार किये और बीचमें स्थापना छोड़ दिया सो क्यों ? स्थापना निक्षेप प्रत्यक्ष रूपसे प्रत्येकको मानना हो पड़ता है। प्रतिनिधि बिना एक क्षण निर्वाह होना अशक्य है। सेठ मुनीमको अपना प्रतिनिधि (स्थापना) बनाता है। वकील बेरिष्टर भी सब कोई अपना प्रतिनिधि बनाता है। वाईसरायको राजाने अपना प्रतिनिधि बना हो रखा है। फिर प्रतिनिधिरूप स्थापनाका निषेध किस प्रकार किया जा सकता है। स्थापनाके माने बिना अन्य तीन निक्षेपसे वस्तुस्थितिका कार्य सर्वथा नही हो सकेगा। इसलिये स्थापना की उत्थापना करना बहुत भारी अज्ञान है। फिर भी हे ढूंढिया हो, आपने यह स्थापना उत्थापन की सो किस ग्रन्थसे ? और चार निक्षेपको न मानकर तीन निक्षेप माने सो किस ग्रन्थसे ? जिस स्थापना निक्षेपके बिना

भो लुकाः पुनः शृणुथ कृत्रिमाकृत्रिमप्रभेदेन द्वेधा श्रीजिनेन्द्रस्य सर्वत्र क्षेत्रेषु सर्वत्र भूधरेषु स्थापना स्यात् कृत्रिम जैनेन्द्र-विम्ब मनुजाः पूजयति । अकृत्रिमजिनेश्वरविम्ब सुरेश्वरा अभ्यर्चयति तत्पदप्राप्त्यर्थं । जिनविम्बस्य पूजनात् सहस्रकवलिना सादृश्य पुण्यमुत्पद्यते अतः सर्वागमेषु जिनविम्बपूजा कथिता ।

ढूंढ्या इत्युत्तर श्रुत्वापि स्वपक्षपालनार्थमित्यूचुः । भो सज्जना भवद्भि यत्कथितं तत्सत्यमपि तथापि अस्माक वाक् श्रूयता । वय निरारभाः स्यु अत अस्माभिः आरभदोषेण प्रतिमायाः पूजन उत्थापितं । आरभात् सकलजपतप सयमज्ञानादिसद्गुणा नश्यन्ति । यत्रारभ तत्र किमपि धर्मोत्पत्तिर्नास्त्येव । निरारभेण शिवस्थानप्राप्तिरजसा भवति । आरभेण अनतश जोवराशयो म्रियते । तत्पापात् श्वभ्राब्धौ अय प्राणी दुःखौघ भुजति वा निगोदादिषु वचनागोचर ह्यनतकालपर्यंत दुःख भुजत्येव । इत्येव कल्पोक्त श्रुत्वा लुकमतेभराननै केसरितुल्य जैनागम मार्गवर्धनैक दिवाकर असत्यपक्ष विभजक भव्याब्जमार्तंडोपम श्रीवीतरागप्रतिपालकः सिद्धातादि गद्यवाचने सामर्थ्यधारकः पूर्वाचार्य वाक्य प्रतिपालक तन्मतोत्थापनार्थमित्याह भो लुकाः—आरभनिराकरण यूय शृणुथ

भगवान्का स्मरण मत्रराजका जप और स्वरूप चितवन भी नही हो सकेगा । इसलिए सत्य बातको नही मानना अज्ञान है ।

अर्थ—अरे ढूढिया हो तुम्हारे शास्त्रोमें कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमा भेद बतलाया है । पर्वत, नदी-तीर, सिद्धक्षेत्र और जिनालयमें कृत्रिम जिनविम्बोंकी पूजा मनुष्य करते हैं । जिनपूजा करनेसे सहस्रकवलव्रतके समान महान् फल प्राप्त होता है इसलिए जिनपूजन समस्त आगमोमें बतलाई है ।

अर्थ—ढूंढिया मतके समस्त शास्त्रोमें जिनविम्बकी पूजाका पूर्ण विधान सप्रमाण होनेसे यह तो कहनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये कि हमारे (लुक) मतमें पूजा विधान नही है । जो शास्त्रोंमें पूजा विधान लिखा है ऐसा कहने हैं तो सब अप्रमाण ठहरते हैं । इसलिए सब प्रकारसे लाचार होकर ढूंढिया लोग बोले—यद्यपि हमारे शास्त्रोमें जिनपूजन विधान लिखा है ये सब ग्रंथ भी मान्य हैं परंतु पूजा करनेमें बहुत-सा आरभ होता है । धार्मिक कार्योंमें आरंभ करनेसे बड़ा भारी दोष होता है । आरम्भमें अनन्त जीवराशि मर जाती है । जिससे प्राणी नरकादि दुर्गतिका पात्र होता है । आरम्भमे जप, तप, सयम, ज्ञान आदि उत्तम सद्गुण नष्ट हो जाते हैं । इसलिए हम जिनबिम्बका पूजन आरम्भ दोषके भयसे निषेध करते हैं । ऐसा श्रवण कर लुंकमतरूपी गजोंको त्रास करनेके लिए सिंह समान, जिनागम मार्गको प्रदीपन करनेके लिए एक ही दिव्य सूर्य समान, श्रीवीतराग मार्ग प्रतिपालक, सिद्धांतादि ग्रन्थोंके वेत्ता, पूर्वाचार्य मार्गका अनुसरण करनेवाले दिगम्बराचार्यने कहा कि

चित्तसमाधिना करोम्यहं । जिनेन्द्रगर्भसमये प्राक् वृद्धश्रवाज्ञया कुवेर पुष्पवृष्ट्यादिभि पचाश्चर्यमकरोत् । दिक्कुमार्यः तस्य मातुः गर्भशोधनामकुर्वन् । दीपज्वालनादि अनेकधा परिचर्यां च । पुनः गर्भस्थाने आगते सति तदैव समये चतुर्निकायदेवनिकराः आगत्य तत्पितरौ हरिविष्टरे सस्थाप्य क्षीरोदकेन सस्नाप्य गर्भगत प्रभु नत्वा त्रि-प्रदक्षिणा दत्वा वस्त्राभरणमालौघं. तौ प्रपूज्य तत्पुरो जयनदादिशब्दोत्करान् घोषयित्वा पश्चात्स्वस्वस्थान ययु. तथाहि गर्भजातवालकजिन स्वावधिनेत्रेण ज्ञात्वा सर्वे सुरेश्वराः मह-ताडबरेण सह तत्पुर आगत्य जिन नीत्वा स्वर्णाचले गत्वा सिंहविष्टरे स्थापयित्वा सहस्रकलशैः दुग्धसमुद्रादागतैः वा असख्यैः प्रभोरभिषेक कृत्वा पश्चात्तत्पुरे जिन स्थापयित्वा महदानदेन स्वस्थान जग्मुः पुन. तप.कल्याणेऽपि ते सुरेन्द्रा. आगत्य तपःकल्याणं कृत्वा वव्रजु. । तद्वदेव केवलज्ञानोत्पत्तिसमयेऽपि समवशरणरचनाकुर्वन्नेव । तद्वदेव निर्वाणकल्याणसमये ते निर्जरेन्द्राः आगत्य प्रभोः

हे ढूंढिया हो पूजा करनेमें आरम्भका दोष बतलाते हो सो सुनो । यह दोष तुम्हारे ग्रन्थोमें श्री जिनेन्द्र देवके पञ्चकल्याणके अवसर लिखा है सो सत्य है या असत्य । जो सत्य है तो फिर आरम्भका दोष देना सर्वथा अनु-चित है । तथाहि जिनेन्द्र भगवान्के गर्भकल्याण समय इन्द्रकी आज्ञासे कुवेरने बड़े समूह और उत्साहसे पुष्प वृष्टि आदि पञ्चाश्चर्य वृष्टि की । दिक्कुमारी देवियोंने भगवान्की माताकी गर्भशोधना की । अगणित दीप जलाये । अनेक प्रकारकी परिचर्या की । और गर्भ समय देवेन्द्रोने श्रीजिनेन्द्रदेवके मातापिताओको सुवर्ण सिंहा-सनपर विराजमान करके क्षीरोदधिके कलशोसे अभिषेक कराया ; फिर नमस्कार किया और प्रदक्षिणा दी, वस्त्राभरण माला पहनाये और पूजा की । पश्चात् नृत्य किया, जय नन्द आदि शब्दोकी घोषणा की । फिर अपने स्थान गये ।

जन्म कल्याणमें—श्रीजिनेन्द्रभगवान्का जन्म अवधिज्ञानसे जानकर देवेन्द्रोने वड़े ही ठाठबाटके साथ और अपार सभारंभके साथ तत्काल बालकको ऐरावत हाथी पर विराजमान कर मेरु पर्वतपर एक हजार आठ क्षीर समुद्रके दुग्धसे भरे हुए कलशोसे अभिषेक किया । पूजाकी, गीत, नृत्य, वादित्र आदिके द्वारा महान् महो-त्सव किया और भगवान्को नगरमें लाकर माता पिताको सोपकर आनन्द माना ।

तप कल्याणमें—देवगणोने भगवान्का अभिषेक कराकर शिविकामें प्रभुको विराजमान कर वनमें दीक्षा कल्याण महान् उत्सव अपूर्व सभारंभसे किया ।

ज्ञान कल्याणमें—समवशरणकी रचना कर जगत्में महान् सभारभका ठाठ सबको आश्चर्यकारी अल-लाया और भगवान्की पूजा आठ द्रव्यसे की ।

शरीरदहनक्रिया काश्मीरागुरुकर्पूरगधसारादिभिः द्रव्योघं कृत्वा स्वस्यौक उखुः। भो लुका वदध्व हृयेतत्सत्यं किमसत्यं स्यात् ? पञ्चस्वपि कल्याणेषु महदारंभोत्पत्तिः ?

इति श्रुत्वापि पुन लुकमतधारका ढूढ्या इत्याहु भो वुधोत्तमाः सुरेन्द्राणामारभे पापोत्पत्तिर्नास्त्येव । पापारभोत्पत्तिः पुरुषाणां भवेत् नात्र संशय । इति कल्पोक्त श्रुत्वा जिनागमार्थज्ञायक आह भो लुका. अस्योत्तरं यूय शृणुथ । भरतेश्वर सदा [illegible] भगवदादिनाथवदनार्थमानर्चवान् तत्कारण किं स्यात्। प्रत्यक्ष प्रभो दर्शनात् तस्य देशावधे प्राप्तिरासीत्। भो लुकाः आरभफल प्रत्यक्ष पश्यत अस्माभिः नासत्य कथितम् ॥

पुनरारंभफल शृणुथ--श्रीवर्द्धमानवदनार्थं श्रेणिकाभिधो भूपेन्द्र. सकलसेनया सह किमगमत् ? वा एक एवागमत् तत्कथ-

निर्वाण कल्याणमें—देवोने भगवान्‌के दिव्य शरीरको दहन किया जिसमें काश्मीर, अगर, तगर, चदन, कपूर आदि सुगंधित पदार्थोंके द्वारा अपूर्व ठाठवाटसे उत्सव मनाया।

हे ढूंढिया हो यह आरंभ (महदारभ) भगवान्‌की पूजा और पंचकल्याणक निमित्त किया जो तुम्हारे शास्त्रोंमें लिखी है यह सत्य है या मिथ्या ? सो कहो। जो सत्य है तो पूजा करनेमें आरंभका दोष वतलाना व्यर्थ है। क्योंकि जिनेन्द्र पचकल्याणोमे देवोने पूजा की है।

अर्थ—उपर्युक्त पचकल्याणोमें देवोंके द्वारा महान् समारभ भगवान्‌की पूजाका श्रवण कर ढूंढियाने कहा कि भगवान्‌के पचकल्याणोमें देवाने आरंभ किया है। वह विक्रियाजन्य होनेसे हिंसारूप नही है। मनुष्योके आरम्भमें ही पापोत्पत्ति होती है। देवोंके आरम्भमें पापोत्पत्ति नहीं है। इसलिये मनुष्योको पूजा करनेका निषेध हम लोग करते हैं। यह सुनकर जिनागमके ज्ञाता आचार्य महाराजने कहा कि हे ढढिया हो ! भरत महाराजने भी आदिनाथ भगवान्‌की यात्रा और पूजा ससैन्य, सकुटुम्ब, सपरिवार महा विभूतिके साथ की और उस पूजाके फलसे अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई। आपके शास्त्रोंमें ऐसा लिखा है सो सत्य है या असत्य ? जो सत्य है तो फिर मनुष्यके आरम्भसे पूजाका निषेध नहीं होता है बल्कि उत्तम गुणोकी प्राप्ति होती है। जैसे कि भरत महाराजको अवधिज्ञानकी प्राप्ति हुई। इसलिये आरम्भके दोषसे पूजाका निषेध करना केवल कपोल-कल्पित है। शास्त्रोंमें निषेध नहीं हुआ। सो यह केवल अज्ञानसे कदाग्रह ही है।

अर्थ—भगवान्‌की पूजामें आरम्भका दोष नहीं होता है, फिर भी ऐसा बतलाते हैं—देखो श्रेणिक महा-

यत भो मतिवर्जिता. । प्रभो दर्शनात् नमस्कारकरणात्तद्गुणोत्करकथनादेव तेन श्रेणिकभूपालेन पूर्वोपार्जित सकलाह. तदेव नाशयित्वा भाविकाले महापद्माभिधतीर्थंकरस्य गोत्र बबधे । ह्येतत् आरम्भफल पश्यथ । पुनरपि ह्यनेकवार बह्वारम्भेण सह श्रेणिको भूपालो महावीरप्रभो दर्शनार्थ पूजनार्थं गत ॥

भो लुका· प्रभो· पूजने सिद्धक्षेत्रयात्राकरणे जिनमन्दिरनिर्मापणे जैनमन्दिरस्य जोर्णोद्धरणे जिनस्य स्नपने इत्याद्यन्यशुभे कार्ये हि महदारम्भस्योत्पत्तिः स्यात् तथापि तदारम्भ कृतोपि सख्यातगुणपुण्योत्पत्तिकृद्भवति । गृहस्थाना पुण्यारम्भे महत्पुण्योत्पत्ति कथिता जिनागमे जिनेश्वरै सर्वत्रैव युष्माक ग्रन्थेपु यूय पश्यथ । गृहमेधिना पुण्यारम्भे धर्मोत्पत्तिः मुनीश्वराणा निरारम्भेण धर्मोत्पत्ति । नात्र सदेह. । किं च श्रूयताम् ॥

राजने ससैन्य, सपरिवार महान् आरम्भ और पूर्ण वैभवके साथ वर्द्धमान भगवान्की पूजा की और उससे समस्त पापकर्मोंका नाश कर तीर्थङ्कर गोत्रका बंध किया ।

अर्थात्—महापद्म नामके भविष्य तीर्थंकरका गोत्रबंध किया । यह सब आरम्भसहित पूजा करनेका ही महान् फल है । फिर भी श्रेणिक महाराजने राजगृहीसे ससैन्य विपुलाचल पर्वतपर वीर प्रभुके दर्शन बार-बार किये । सो यह लिखना सत्य है कि मिथ्या ? महाराज श्रेणिकने महान् आरम्भसे भगवान्की पूजा की और तीर्थंकर गोत्र बाँधा तो अन्य मनुष्य भावभक्तिसे महान् उत्सवके साथ पूजा करें तो क्यों नही अनन्त पुण्यको सम्पादन करेंगे, अवश्य हो करेंगे । इसलिए हे ढूंढिया हो, भगवान्की पूजा करनेमें आरम्भका दोष प्राप्त होता है, ऐसा कहना व्यर्थ और स्वकपोल कल्पित है ।

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! श्रीजिनेन्द्र भगवान्की पूजा, सिद्धक्षेत्रकी यात्रा, जिनमंदिरका जीर्णोद्धार करना, जिनस्नपन करना आदि कार्योंमे महान् पुण्यकी उत्पत्ति होती है । यद्यपि इन कार्योंमे महान् आरम्भ है तो आरम्भ की अपेक्षा महान् पुण्य असंख्यात गुण उत्पन्न होता है । गृहस्थोंको पुण्यकी उत्पत्ति आरंभके बिना नहीं होती है, इसीलिए गृहस्थोंका धर्म आरम्भ सहित ही होता है । और मुनीश्वरोंका धर्म निरारम्भ है । ऐसा जिनागममें जिनदेवने बतलाया है । इसमें कोई सदेह नही ।

पूजाकार्ये ह्यहो मूढा जिनस्नाने जिनगृहे। निर्मापणे महत्पुण्य कीर्तितं च जिनेश्वरैः॥ १॥

किंच श्रूयताम्—

सन्निधे भवता सर्वे लोकाश्च याः स्त्रियोऽपि च। आयात्येव प्रतिघस्त्र पादत्राणेन सयुता. ॥ २॥
यस्मान्मार्गे मृतानन्ता जीवा भो मूढमानसाः। तत्पाप भवता लग्न किं न वदथ मेति च (?) ॥ ३॥
प्रात मध्याह्नकालेवा चातुर्मासे दिवात्यये। सदा आयात्यहो लोका तत्पाप भवता भवेत् ॥ ४॥
ह्यहो मूर्खाश्च प्राप्ति स्यात् भवता दर्शने खलु। पुण्यस्य जिनबिंबस्य तन्नास्त्येव विजातिना ॥ ५॥
ब्रवीध्व पूजनारम्भे पुण्य किं पापसभव । पुण्य स्याद्यदि यूय हि कुर्वीध्व जिनपूजनम् ॥ ६॥
पाप स्याद्यदि युष्माक ग्रथाना भो मदोद्धता। कुरुध्व लोपन यूय कथयिष्याम किं पुन. ॥ ७॥

अर्थ—हे मूर्खो! पूजा कार्यमें, जिनाभिषेकमें, जिनमन्दिर-निर्माणमें जिनेन्द्र द्वारा महान् पुण्य कहा गया है॥ १॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो! तुम्हारे (साधु लोगोंके) दर्शन और पूजन करनेके लिए बहुतसे मनुष्य और स्त्रियां नित्य जूता पहन कर आती हैं सो उनसे मार्गमें जूताके आरम्भसे अनन्त जीव मर जाते हे, उसका पाप भी तुमको लगेगा। और दर्शनार्थ आये हुए पुरुष स्त्रियोंको आरम्भ जनित दोष लगेगा। सो तुम ऐसा आरम्भ क्यों कराते हो। और लोगोंका क्यों उपदेश देते हो? क्या तुमको पापका कुछ भी भय नहीं है? या आरम्भ करनेमें पाप नहीं है॥ २-३॥

अर्थ—प्रात:काल, मध्याह्नकाल, चातुर्मास, रात्रि और अन्धेरेमें बहुतसे मनुष्य तुम्हारे (साधुलोगोंके) दर्शनको जूता पहन कर आते हैं और उनको पुण्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा तुम लोग बतलाते हो तो जिनपूजनके [illegible] आरम्भसे पुण्यकी उत्पत्ति क्यों नहीं होगी? तुम्हारे दर्शनमें पापारम्भ करनेपर भी पुण्यलाभ और भगवान्‌के [illegible] आरम्भसे पुण्य लाभ न हो यह कैसी बात? अपने मतलबके लिये तो पापारंभमें पुण्य [illegible] ॥ ४-५॥

अर्थ—हे [illegible] हो! भगवान्‌की पूजा करनेमें पुण्य होता है या पाप? जो पुण्य उत्पन्न होता है तो [illegible] करो। यदि भगवान्‌की पूजा करनेमें पाप होता है तो तुम्हारे ग्रंथोंमें पूजन करने- [illegible] लिखा है वह मिथ्या ठहरेगी। जिससे तुम्हारे ग्रन्थ तो झूठे हैं ऐसा मानना पड़ेगा॥ ६-७॥

पुनर्वच्मि शृणुध्व भो युष्माक च मते खलु । आरभाज्जायते पाप एतस्य कथन ननु ॥ ८ ॥
भवद्भिश्च गृहस्थाना पूजाया श्रीजिनस्य वै । त्याग च कारिता किंवा अन्यारभमपि खला ॥ ९ ॥
गृहस्था- प्रतिघस्तहि कामसेवा गृहोद्भव । कुर्वंत्येवापर कार्यं धानस्य विक्रय तथा ॥ १० ॥
वैवाह प्रतिनर्पे वा ह्यनेककपटक्रियाम् । अगालितजले स्वस्य वस्त्राणा धोवन सदा ॥ ११ ॥
भो मूर्खा सर्वकार्येषु आरभो जायते खलु । भवता सेवकाना च तदारभस्य किं कृतम् ॥ १२ ॥
कारयध्व च तत्त्याग भो ढूढ्या तूर्णमेव हि । वय नै जानयिष्याम निरारभा इमे तदा ॥ १३ ॥
यद्यारभस्य त्याग स्यात् त्यजध्व सर्वमेव हि । आरभः सर्वकार्येषु क्रयविक्रयकेषु च ॥ १४ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुम्हारे मतसे गृहस्थोंको आरंभ करनेमें पाप लगता है ऐसा मानते हो और इसीलिये (आरंभके भयसे) भगवान्‌की पूजा करनेका निषेध करते हो तो यह बतलाओ कि आरभके पापके भयसे भगवान्‌की पूजाका आरभका त्याग करना चाहिये या गृहस्थोंकी अनेक पाप प्रवृत्तिके द्वारा होनेवाला अशुभ आरभ उसका भी त्याग करना चाहिये ? फिर भी तुम्हारे मतके प्रतिपालक गृहस्थ प्रतिदिवस कामसेवन करते है । धरके महान् कार्य करते है । धान्य खरीदते और बेचते है, विवाह करते हैं, अनेक कपट क्रिया और मलिनाचार का आरंभ करते है । बिना छाने (अगालित) पानीमे अपने कपड़े धोते है । अपना मकान बनवाते है । और तुम्हारे (साधुलोगोंके रहनेकेलिये) रहनेके पोसारा उपाश्रय (धर्मशाला या मन्दिर) बनवाते है । आदि अनेक प्रकारका महान् आरंभ करते है । हे ढूंढिया हो ! गृहस्थोंको प्रत्येक कार्यमे आरंभ तो होगा ही । बिना आरभके गृहस्थ अपना जीवन एक क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रख सके तो तुम्हारे सेवकोंको उपर्युक्त पापजन्य क्रियाओंके महान् आरंभ का पाप लगता है या नहीं । जो पाप लगता है तो सबसे प्रथम अपने सेवकोंसे गृहस्थसंबंधी आरंभका त्याग कराना चाहिये । जो तुम गृहस्थोंके समस्त प्रकारका प्रारंभका त्याग करा सको तो अवश्य ही यह माना जा सकता है कि आरंभसे पाप होता है । परतु वह आरंभ तो गृहस्थोंसे छुड़ाया जा नहीं सकता । और न गृहस्थ अपने गृहस्थसंबंधी आरंभको त्यागही कर सकता है । तो फिर भगवान्‌की पूजामें होनेवाला स्वल्पारंभ जो महान् पुण्यका प्रदान करनेवाला है उसका त्याग करना या आरंभभयसे भगवान्‌की पूजाका निषेध करना कितने अन्याय और पक्षपात की अज्ञान भरी हुई बात है ? जो आरंभ ही छोड़ना है तो सर्व

पूजने जिनविम्बस्य दर्शने मन्दिरस्य वै । करणे च गृहस्थानां महत्पुण्यफलं भवेत् ॥ १५ ॥
सिद्धक्षेत्रस्य यात्राया जिनविम्बस्य पूजने । जिनमन्दिरसत्कार्य प्रतिष्ठाया च ये बुधाः ॥ १६ ॥
पापारम्भस्य उत्पत्ति ब्रुवते तेऽधमा मता । तदघात्ते निकोतेपु यास्यति नात्र संशय. ॥ १७ ॥
ते ढूंढ्या पुन इत्याहु त्रयो दोषा बुधोत्तमा. । जिनविम्वे ह्यतो नैव स्यादस्माकं रुचिः खलु ॥ १८ ॥
आद्यमचेतनत्व च द्वितोयत्व च कृत्रिमम् । तृतीयमेकेन्द्रियत्वं एभिर्दोपैश्च वर्जिता ॥ १९ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रविम्वे हि भो लुकमतधारका. । अचेतनत्वाभिध दोपं भवद्भि गदित खलु ॥ २० ॥
तद्दोषस्य निराकरण ग्रथवोधेन भो खला । करोम्यहं समासेन यूय शृणुथ निश्चयात् ॥ २१ ॥
भो लुका श्रीजिनेन्द्रस्य प्रत्यक्ष द्वापरापहा । वाण्यपि पुद्गलाकारा अचेतना च विश्रुता ॥ २२ ॥

प्रकारका आरम्भ छोड देना चाहिए—यह नही कि गृहस्थ अपने गृहसंबंधी समस्त प्रकारका पापारंभ तो करें और पुण्योत्पादक भगवान्‌की पूजाका आरम्भका परित्याग करें ॥ ८-१४ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजन करनेमें, जिनमन्दिर बनवानेमें गृहस्थोको महान् पुण्य लाभ होता है । इसी प्रकार सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करनेमें, जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिष्ठा करनेमें, रथोत्सव निकलवानेमें महान् पुण्य है । जो इन पुण्यकर्ममें पापका आरम्भ बतलाते हैं वे नीच हैं । वे अवश्य ही निगोद आदि दुर्गतिमें जायेंगे इसमें सन्देह नहीं है ॥ १५-१७ ॥

अर्थ—यह सुनकर ढूंढियोंने कहा कि भगवान्‌की पूजन करनेमें हमें तीन दोष मालूम देते हैं । इसलिए हम निषेध करते हैं । प्रथम तो प्रतिमा अचेतन है । दूसरे जिन प्रतिमा कृत्रिम है । तीसरे जिन प्रतिमा एकेन्द्रिय है । इन तीन दोषोंके कारण ही निषेध है ॥ १८-१९ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुमने भगवान्‌की पूजा करनेमें जो अचेतनत्व नामका दूषण बतलाया, श्री जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा अचेतन है, अचेतनकी पूजा क्यों करना, उससे क्या लाभ होता है ? इस दोषका निराकरण मैं संक्षेपसे ग्रंथोंके द्वारा करता हूँ, तुम निश्चयसे सुनो ॥ २०-२१ ॥

हे ढूंढिया हो ! जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रत्यक्ष ही पाप समूहको हरता हुआ दीखता है । फिर भी निषेध करना यह क्या न्याय है । क्योंकि जिस वाणीको तुम (ढूंढिया) पूजा करते हो, वह वाणी भी पुद्गलमयी है, अचेतन

दृश्यथ नास्ति चैतन्य तस्या यूय न स्पृशथ । स्यादहो सर्वपापस्य नाशका सर्वदर्शिका ॥ २३ ॥
मानयथ कथ मूढाः वाणीमचेतना च ता । पुनर्वै मन्त्रराज च किमर्थं जपथ सदा ॥ २४ ॥
आख्यापयथ भो लुका· अचेतनस्य मान्यता । भवता तर्हि नास्ति चेत् मानयथ कथ च ता ॥ २५ ॥
यन्त्रा मन्त्रा भेषजा सकलास्तथा । चिंतामण्यादिरत्नानि सर्वे ते लोकविश्रुताः ॥ २६ ॥
चेतनाकर्महीनाः स्युः पश्यथ मतिर्वजिता । सर्वकार्यस्य कर्तारि तत्किच कारण खलु ॥ २७ ॥
मन्त्रोऽय परमेष्ठिना चेतनाकर्मवर्जित । कथं ददाति सर्वेषा शिवसौख्य सदास्थिरम् ॥ २८ ॥
स्वस्यातिशययोगेन ददति शर्मण खलु । सर्वे ते मन्त्ररत्नाद्या यूय पश्यथ निश्चयात् ॥ २९ ॥
तद्वदेव जिनेन्द्रस्य प्रतिमादर्शनात् खलु । तद्दर्शकाना भो मूढा· प्राप्ति· स्यात्पुण्यसंततेः ॥ ३० ॥
सौम्याकार विकारेण वर्जिताग सुशोभनम् । पद्मासनेन सपन्न नासाग्रन्यस्तलोचनम् ॥ ३१ ॥
भास्वर वास निर्मुक्त तदप्यावकनंददम् । तदाकारस्य सादृश्य पूज्य च निर्जराधिपैः ॥ ३२ ॥

है । प्रत्यक्ष लाभ हो रहा है तो फिर अचेतनसे लाभ नहीं होता, ऐसा मिथ्या क्यों कहते हो । तुम अचेतन वाणीको नहीं मानते क्या ? और अचेतन मंत्रराज (णमोकार मंत्र) नहीं जपते हो ? या उस मंत्रराजकी पूजा नही करते हो ? हे ढूंढिया हो ! जो तुम अचेतन भगवान्‌की मूर्तिसे लाभ नही समझते तो अचेतन वाणीसे लाभ क्यों समझते हो ? और अचेतन, मंत्र, तंत्र, यंत्र, औषधि आदिका सेवन क्यों करते हो । तथा चिंतामणि रत्न आदि अचेतन पदार्थोंमें क्यों अचिंत्य शक्ति मानते हो । चेतना रहित चिंतामणि रत्न आदि प्रत्यक्ष फलप्रद दीख रहे हैं और आप लोग मानते ही हो तो फिर भगवान्‌की पूजा करनेमें अचेतनत्व दूषण कैसे देते हो?॥२२-२७॥

अर्थ––हे ढूंढिया हो ! पञ्च परमेष्ठीका णमोकार मंत्र भी अचेतन है परंतु सर्व प्रकारके सुखोंको करने-वाला है । यह अतिशय णमोकार मंत्रमें स्वभाव रूपसे है । इसी प्रकार कामधेनु चिंतामणि रत्न आदि में सर्व प्रकारके सुख देनेकी शक्ति स्वभावरूप है । ठीक इसीप्रकार श्रीजिनेंद्र भगवान्‌की प्रतिमामें भी स्वभाव रूपसे वह अचिंत्य शक्ति है कि प्रतिमाका दर्शन करने मात्रसे ही समस्त प्रकारके पुण्यका लाभ स्वयमेव हो जाता है॥२८-३०॥

अर्थ––श्रीजिनदेवकी प्रतिमा सौम्य, निर्विकार, शुभ, परमसुन्दर, पद्मासन, विराजमान, नासाग्रदृष्टि-रूप परमशांत, देदीप्यमान, दिगंबर समस्त प्रकारके दूषणोंसे रहित, देवोंसे पूजित और महिमा सहित होती है।

ईदृग जिनबिंब य पश्यति निजभावत.। स एवाप्नोति निर्वाणमन्यत्सौख्यस्य का कथा ॥ ३३ ॥
दर्शनाज्जिनबिंबस्य जायते तस्य चिंतनं । प्राणिना नात्र संदेह सर्वांहसो विनाशकम् ॥ ३४ ॥
श्रवणाद्धि यथा वाण्याः ज्ञानोत्पत्तिश्च जायते । तथाहि जिनबिंबस्य दर्शनात् व्रजनक्षय.॥ ३५ ॥
पश्यति नैव ये मूढाः जिनबिंब जगन्नुतम् । कदापि तन्मुखो नैव दर्शनीयो बुधोत्तमैः ॥ ३६ ॥
येऽधमा जिनबिंबस्य निंदा कुर्वंति ते खलु। निकोतेपु प्रयास्यति जिनघ्नाः नैव सशय.॥ ३७ ॥
कृत्रिमस्य निराकरण भो लुका शृणुथ खलु । करोमि शास्त्रबोधेन ह्यहकारवशान्न च ॥ ३८ ॥
जिनेन्द्रप्रतिमायाश्च भवद्भि. मूढमानमैः। दत्तो हि कृत्रिमो दोप· सर्वपापस्य कारकः ॥ ३९ ॥
स्तवन वदन गानविद्या सामयिक तथा । पठथ भो किमर्थं च पूत्काररवत सदा ॥ ४० ॥
यथा तेषां हि पठनात् उत्पत्तिः जायते सदा। शुद्धभावस्य भो लुका. तथा हि तस्य दर्शनात् ॥ ४१ ॥
कृत्रिमा स्तवनाद्याश्च प्रत्यक्ष नैव सशय । इमे यथा हि मान्याः स्यु. तथा तेपि बुधैर्मताः ॥ ४२ ॥
कृत्रिमस्य तहो मूर्त्ता जिनबिंबस्य सेवनात् । जीवोय लभते सौख्यं शिवपुरमकृत्रिमम् ॥ ४३ ॥

जो भव्य जीव अपने भावोंकी विशुद्धिसे भक्तिपूर्वक भगवान्‌की प्रतिमाकी पूजा करता है वह मोक्ष सुखको प्राप्त करता है। तो अन्य सुख प्राप्त होनेमें क्या आश्चर्य है ? भगवान्‌की प्रतिमा समस्त प्रकारके पापोंका नाश करती है यह प्रत्यक्ष सबको अनुभव है ॥ ३१-३४ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! जैसे वाणीके सुननेसे ज्ञानोत्पत्ति होती है वैसे प्रतिमाके पूजनसे भी पापोंका नाश होता है। जो मनुष्य भगवान्‌की प्रतिमाका दर्शन नहीं करते हैं उनका मुँह भी कभी ज्ञानियोंके लिये दर्शनीय नहीं हो सकता है। जो मनुष्य भगवान्‌की मूर्तिकी निंदा करते हैं वे निगोद आदि दुर्गतिके पात्र हैं॥३५-३७॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! भगवान्‌की प्रतिमा कृत्रिम है इसलिये नहीं पूजना चाहिये। ऐसा कृत्रिमपनेका दोष देते हो सो यह दोष देना ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार स्तवन, वंदन, पाठ, सामायिक, गानविद्या और शास्त्र पाठ आदि जितने कार्य हैं वे भी सब किसी न किसी मनुष्यके बनाये हुए होनेसे कृत्रिम ही हैं। फिर कृत्रिम स्तोत्रादि पाठोंको पढ़ो तो उससे तुमको लाभ होता है या नहीं ? कृत्रिम पाठादिकोंके पढ़नेसे लाभ मानकर भी कृत्रिम जिन प्रतिमासे लाभ नहीं मानना कदाग्रह है। स्तोत्रादिक प्रत्यक्ष ही कृत्रिम हैं। ये सब मनुष्य गीत, भजन, पद बनाते हुए देखे जाते हैं। जब कृत्रिम स्तोत्रोंके पढ़नेमें लाभ है तो कृत्रिम

इत्थं ज्ञात्वा बुधा ये हि जिनबिंबस्य दर्शनम् । कुर्वंति तेहि तत्तुल्यं लभते शाश्वतं पदम् ॥ ४४॥
भो लुकाः कृत्रिम पाठ किमर्थं पठथ खलु । त्यजध्व तदपि मूर्खा दोषस्तत्रैव स्याच्च किम् ॥ ४५॥
गच्छध्व दुर्गतिं या च जिनबिम्बस्य निन्दनात् । अस्माक मानयध्वं च वाक्य यूय हितार्थदम् ॥ ४६ ॥

इति कृत्रिम दोष निराकरणं।

एकेन्द्रियाभिधो दोषो भवद्भिः स्थापितः प्रभो । बिम्बे तस्य निराकरण श्रृणुध्वं भो करोम्यह ॥ ४७ ॥
भो ढूढ्याः काष्टलेखन्या वनस्पतिसमुद्भवे । पत्रे च मसिनाऽशुद्धे रदितान् वै विभो खला ॥ ४८ ॥
जिनाज्ञा विमुखाशुद्धा सुबोधलववर्जिता. । नमथ तान् कथ ग्रन्थान् खलु एकेन्द्रियोपमान् ॥ ४९ ॥
वदथ सकलाश्चेमे ग्रथा एकेन्द्रिया' स्फुट । किं स्युः पचेन्द्रिया मूढा यूय मे तूर्णतो ननु ॥ ५० ॥

जिन प्रतिमा भी भव्य जीवोंको अकृत्रिम मोक्षसुख प्रदान करे तो क्या आश्चर्य ? इसलिये जो भव्य जिन प्रतिमा के दर्शन करते हैं वे अवश्य ही शाश्वत सुख प्राप्त करते है ॥ ३८-४४ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! जो तुम कृत्रिम पाठोंका पढ़नेका त्याग करो तो जिनबिंबके पूजन और उपासनाका त्याग करो । अन्यथा मिथ्या दूषण लगाकर अज्ञानी क्यो बनते हो और दुर्गतिके पात्र बनते हो । इसलिये कदाग्रहका परित्याग करो और सद्बुद्धि धारण कर जिनपूजन करो, जिससे लाभ हो ॥ ४५-४६ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमा एकेन्द्रिय है क्योकि पत्थर एकेन्द्रिय होता है और उस पत्थरकी प्रतिमा बनाई जाती है सो प्रतिमा भी एकेन्द्रिय कहलायी । एकेन्द्रियकी पूजा करना अयोग्य है । इस प्रकार जो एकेन्द्रियदूषण जिनप्रतिमा पूजन करनेमें दिया जाता है वह मिथ्या है । ठीक नही है । क्योकि जिस प्रकार जिन प्रतिमा पत्थर आदि की होनेसे एकेन्द्रिय है, उसी प्रकार शास्त्र भी एकेन्द्रिय हैं । शास्त्रके लिखनेकी कलम वनस्पतिसे बनती है इसलिये एकेन्द्रिय हे । कागज या ताडपत्र भी एकेन्द्रिय हे । वनस्पतिको कूट कर कागज बनाये जाते है इसलिये एकेन्द्रिय है । और ताड़पत्र तो प्रत्यक्ष ही एकेन्द्रिय हे । उसपर सर्व लेख अशुद्ध स्याहीसे लिखे हुए हैं । फिर उन ग्रंथोंको क्यो माना जाता है, पूजा की जाती हे, नमस्कार किया जाता है । हे ढूंढिया हो ! तुम तो पंचेन्द्रिय हो और एकेन्द्रिय शास्त्रको क्यो पूजते हो । शास्त्रसे तो तुम्हारेमें इन्द्रियाँ अधिक हैं । यदि तुम शास्त्रोंको एकेन्द्रिय नही मानते हो तो श्रीजिनप्रतिमाको एकेन्द्रिय किस प्रकार

निश्चयाद्यदि युष्माकं नास्त्येव भो कुमार्गगा. । एकेन्द्रियाणां मान्यत्वं पत्रे च रदितान् खलु ॥ ५१ ॥
सर्वानपि त्यजध्वं च ग्रन्थान् यूयं सनातनान् । वयं हि ज्ञापयिष्यामः इमे सत्या न संशयः ॥ ५२ ॥
एकेन्द्रियं न प्रत्यक्षं शास्त्रं भो मूढमानसा । यूयं नमथ भावेन जिनबिम्बं कथं नहि ॥ ५३ ॥
क्वचित्त्वं भवता ग्रन्थे जिनबिम्बनिषेधनम् । कस्मिन् कृते ह्यहो मूर्खा तच्च मा भो खला. स्फुट ॥ ५४ ॥
ग्रन्थेषु वाहि सर्वेषु जिनबिम्बस्य पूजनात् । सम्प्राप्ता. बहवो भूता शर्मसततिमञ्जसा ॥ ५५ ॥
पश्यत नात्र सन्देहो भो लुंकमतधारका. । स्याद्यदि कथनं यत्र कुर्वीध्वं जिनपूजनम् ॥ ५६ ॥
युष्माकं सर्वग्रन्थाना भवद्भिः खलु लोपनम् । कुरुध्वं यद्यसत्या. स्यु कुरुध्वं न विलम्बनम् ॥ ५७ ॥
इति श्रुत्वाह ते ढुंढका गये च लिखितं ननु । अतोऽस्माकं च मान्यत्वं ग्रन्थाना नात्र संशयः ॥ ५८ ॥
जिनबिम्बमपि सर्वा. नहि घटति सुंदरं । यद्दर्शनात् क्षयं याति पापभूद्रा. कुढुं खदाः ॥ ५९ ॥

मानते हो। क्योंकि शास्त्रोंमें एकेन्द्रियपना ताड़पत्रपर कलमसे लिखे होनेसे प्रत्यक्ष दीख रहा है। जो एकेंद्रिय होनेसे समस्त शास्त्रोंकी मान्यताको छोड देते हो तो हम समझेंगे कि आप बराबर एकेन्द्रियको जानते हो और आपका कहना सत्य है। जो एकेन्द्रिय शास्त्रोंको छोड नही सकते तो समझना चाहिये कि तुम एकेन्द्रियकी पूजा करते हो ॥ ४७-५२ ॥

अर्थ—शास्त्र एकेन्द्रिय प्रत्यक्ष है। जो तुम एकेन्द्रिय शास्त्रको पूजते हो तो जिनप्रतिमाकी क्यों नही पूजा करते? तुम्हारे कौन-कौनसे शास्त्रमें प्रतिमाकी पूजाका निषेध किया है। तुम्हारे बहुतसे ग्रंथोंमें जिन प्रतिमा पूजना लिखा है। जिनपूजन करनेसे बहुतसे लोगोंने अपना आत्मकल्याण किया है। फिर भी तुम निषेध करते हो। यह क्यों? यदि ग्रन्थोंमें जिन पूजन करना लिखा हो और तुम उस ग्रन्थको मान्य करते हो तो फिर जिन पूजन भी मान्य करो अन्यथा सब ग्रन्थका लोप करो ॥ ५३-५७ ॥

अर्थ—यह सुनकर ढुंढा (ढूंढिया) ने कहा कि हमें ग्रन्थ मान्य है जो ग्रंथोंमें लिखा है सो भी मान्य है ॥ ५८ ॥

अर्थ—हे ढुंढिया! जिन प्रतिमा यद्यपि सुन्दरता नहीं देती है तो भी जिनेन्द्र भगवान्‌की मूर्तिमें वह अतिशय है कि जिसके दर्शनसे भयंकर पाप दर्शनमात्रसे तत्काल ही पलायमान हो जाते हैं ॥ ५९ ॥

इत्याहु ंपुन. ग्रथ च पठति बोधधारक । जायते पठनात्तच्च सुबोधश्च ततः शिवः ॥ ६० ॥
जिनबिंबस्य भो लुका यो व्रती शुद्धधीर्वशी । करोत्येव प्रपूजा स लभते परमं पदम् ॥ ६१ ॥
भो लुका जिनबिंबस्य पूजनात् वदनात् खलु । आर्तरौद्रकुध्यानस्य नाशो यात्येव तस्य वै ॥ ६२ ॥
रक्ताक्षा क्रोधपूर्णांगा यथा काकोदरोत्कराः । चातिरतद्दूर याति वैनतेयस्य दर्शनात् ॥ ६३ ॥
तद्वदेव जिनेन्द्रस्य दर्शनात्पापपन्नगा । नराणा च प्रयात्येव ह्यनुक्रमाद्भवेत् शिवः ॥ ६४ ॥
भवद्भि जिनबिंबस्य कृता च यदि भो खला । निंदा किमर्थं त चैव मानयथ जिनेश्वरम् ॥ ६५ ॥
जपथ त हि भो लुका. प्रतिचस्त्र जगत्पतिम् । तमेव निंदयथोच्चै. अस्योत्तर वदथ मे ॥ ६६ ॥
एवं वदथ मा मूढाः मेऽबा वध्यापि स्यात् खलु । मदोन्मता ब्रुवत्येव सुधियो नो क्वचिदपि ॥ ६७ ॥
अधोलोके च सर्वत्र कृत्रिमाकृत्रिमा अपि । जिनबिंबाः सुरै. पूज्या सति वै शिवदायका. ॥ ६८ ॥
ऊर्ध्वलोके च सर्वत्र विमानेषु पृथक् पृथक् । जिनबिंबाः विभातिस्म निलिंपाधिप वदिताः ॥ ६९ ॥

अर्थ—ढूंढ़ियाने यह सुनकर कहा कि देखो ग्रन्थोंके पढ़नेसे तत्काल ही बोध होता है और उससे मोक्ष होती है तो उसी प्रकार हे ढूंढिया हो ! जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजासे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति और ज्ञानकी विशुद्धि होती है । जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ६०-६१ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया ! जिनेन्द्र भगवान्‌की परमशांत दिव्य मूर्तिको देखनेसे आर्त्त-रौद्र ध्यान नष्ट हो जाते हैं। और परम शांतता प्राप्त होती है । जिनके नेत्र लाल हैं क्रोधसे शरीर कंपित हो रहा है ऐसी अवस्था शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जैसे गरुड़को देखकर सर्प भाग जाते हैं । उसी प्रकार जिन भगवान्‌के दर्शन करनेसे पाप रूपी नाग भी तत्काल विलीन हो जाते हैं । और क्रमसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ ६२-६४ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! आप जिनेश्वर देवकी मूर्तिकी तो निन्दा करते हो फिर भी जिनेश्वर देवको ही पूजते हो, मान्य करते हो, स्तवन पढ़ते हो । यह आश्चर्य है । ऐसा क्यो? मुझे इसका उत्तर दो । यह बात तो अपनी माताको बॉंझ बतलानेके समान है । इस प्रकारकी क्रियाएँ मूर्ख तथा उन्मत्त पुरुष ही करते हैं॥ ६५-६७॥

अर्थ—अधोलोकमें कृत्रिम और अकृत्रिम जिन प्रतिमा देवोंसे पूजित मोक्षको प्रदान करनेवाली शाश्वती विराजमान है । इसी प्रकार ऊर्ध्व लोकमें भी अकृत्रिम जिन प्रतिमायें सदा विराजमान है । और

पृच्छामि भवता कस्य ग्रथानुसारत कृता। उत्थापना हि बिम्बस्य यूय वदथ तच्च मे ॥ ७० ॥
कुपक्ष च त्यजध्व भो मे वाच शिवकारणं। कुर्वीध्व शिववाछा चेत् मा स्युश्च जैनघातका ॥ ७१ ॥
भो ढूढ्या पुन एव च वय हि साधवो भुवि। ब्रूथ वै मूढलोकानामग्रे यूय खला: स्फुट ॥ ७२ ॥
साधूनामेकलक्ष्मापि भवता नैव दृश्यते। साधुजनस्य चिन्ह वै शृणुध्व कथयाम्यह ॥ ७३ ॥
बाह्याभ्यतरद्वद्वेन वर्जित. शीलभूषित.। सकलश्रुतवेत्ता च जिनमार्गप्रकाशक: ॥ ७४ ॥
परनिंदातिगो धीरो देहे निर्ममता वशी। ऋतुनिकायजीवाना रक्षको मन्युवर्जित: ॥ ७५ ॥
शुद्धाचारग्न सद्गी मायामानविखडक। मुनिश्रावकधर्मस्य देशक सयमी दमी ॥ ७६ ॥
आत्मज्ञो लोभनिर्मुक्त' सर्वजनप्रिय शुचि.। सस्कृतप्राकृतवेत्ता मनोक्तिपथवर्जित ॥ ७७ ॥

उनको विमानवासी देवगण पूजते हैं। फिर आपने जिन प्रतिमाकी पूजन नही करना ऐसा कौनसे ग्रन्थसे निषेध किया है। जब कोई भी ग्रन्थ जिन प्रतिमाको पूजन करनेके निषेधका नही मिलता है तब फिर पक्षपात क्यो करना चाहिये। यदि मोक्षकी इच्छा है तो कुपक्ष छोडकर भगवान्‌की पूजन करो व जैनधर्म घातक मत बनो ॥ ६८-७१ ॥

इस प्रकार सर्व दोष निराकरण किया। अब ढूंढकोंके दोष—

अरे—ओ ढूंढिया हो! एक बात तुमसे पूछते हैं। वह यह कि तुम अपनेको मूढ लोगोंमें साधुके नामसे प्रसिद्ध करते हो। तुम्हारा ऐसा करना ठीक नही है। साधुजनस्य चिन्ह मैं कहता हूं, सुनो ॥७२-७३॥

अरे—ओ ढूंढिया हो! तुममें साधुपनेका एक भी लक्षण नहीं है। न कोई ऐसा चिह्न तुम्हारेमें दीखता है कि जिससे यह माना जाय कि तुम साधु हो। साधुका लक्षण–जिसके बाह्य और आभ्यतर परिग्रहका परित्याग हो। शीलभूषण। सकल शास्त्रोंके पारगत, जिनमार्गके प्रकाशक, परनिंदासे रहित, धीर, वीर, शरीर और ममतासे निर्ममत्व, मन और इन्द्रियोंके विजय करनेवाले, शात, षट् कायके जीवोंकी दया पालनेवाले, क्रोधरहित, शुद्ध आचरणको पालनेवाले, मान, माया, लोभ और कामादि विकार रहित, मुनि व श्रावक, धर्मके उपदेशक, संयमवान्, आत्माको जाननेवाले, परम पवित्र, संस्कृत-प्राकृतके ज्ञाता, मनके अनुसार मार्ग

शुद्धदृग्ज्ञानवृत्तस्य धारको निर्मदो गुणी । कृती पूज्यो बुधौघैश्च मिथ्यात्वपथभजक ॥ ७८ ॥
अनेकातनयैर्युक्त ध्यानी मौनी सुवीर्यवान् । पचाक्षवारमातगनाशने हरिसदृश. ॥ ७९ ॥
जिनाज्ञापालक सौम्यो भयसप्तविवर्जित । अष्टाविंशतिमूलादिगुणाना पालने क्षम. ॥ ८० ॥
इत्याद्यन्यमनोज्ञैश्च गुणैर्युक्तो भवेत्खलु । य कश्चित्कथ्यते सहि साधु. साधुजनैश्च भो ॥ ८१ ॥
गुणाना चैव एतेषा मध्ये ह्येकोपि नास्ति वै । भवता मूढचित्ताना यूय पश्यथ निश्चयात् ॥ ८२ ॥
हसा हसा. हि भो मूर्खा बका बकाश्च सुदरा । यूय च बकतुल्यापि नो सति ध्यानमानसा ॥ ८३ ॥
क्रियालेशोऽपि नास्त्येव भवता च खलात्मनाम् । यत्र नास्ति क्रियाशुद्धिः धर्मोऽपि तत्र नास्ति वै ॥ ८४ ॥

से रहित, समस्त तत्त्वके वेत्ता, शुद्ध ज्ञान-दर्शन और चारित्रको धारण करनेवाले, निर्मद, गुणी, मिथ्यामार्गका नाश करनेवाले, परम ध्यानी, तपस्वी, समस्त प्रकारके भयोसे रहित, परम सौम्य, जिनाज्ञा प्रतिपालक और अट्ठाबीस मूल गुणको पालनेमे समर्थ गुणी पुरुषको साधु कहते है । इत्यादि अन्य भी सुन्दर गुणोसे युक्त जो कोई है वे साधुजनोके द्वारा साधु कहे गये है ॥ ७४-८१ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुम्हारेमें उपर्युक्त गुणोंमेंसे एक भी गुण नही है । अतएव तुम किसी प्रकार भी प्रकार साधु कहलाने योग्य नहीं हो । जो गुण सहित होता है वही साधु है । जिसमें गुण नही हैं वह साधू भी नहीं है ॥ ८२ ॥

अर्थ—ढूंढिया हो ! हंस हंस ही होते है । बगुला बगुला ही है । यद्यपि बगुला भी देखनेमें सुन्दर है तथापि बगुला हंस नहीं हो सकते । और तुममें तो बगुलाके समान भी ध्यान नही है ॥ ८३ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुम्हारे चारित्रका लवलेश मात्र भी पालन नही है, न तुम्हारेमें पवित्र क्रियायें है । जहांपर क्रियाशुद्धि नहीं है वहांपर धर्म कैसे रह सकता है ? अर्थात् क्रिया शुद्धि जहां नही वहां धर्म भी नहीं ॥ ८४ ॥

भावार्थ—क्रियाकी शुद्धि पालन करनेपर ही धर्मका पालन करना समझा जाता है । जो क्रियाओंका पालन नहीं करता है धर्मकर्म विहीन है ।

प्रत्यक्ष भवता मूढाः म्लेच्छाचारो हि दृश्यते । अतः स्यु तत्समा यूय भ्रष्टाचारस्य पालनात् ॥ ८५ ॥
जिह्वास्वादेन युष्माभि सर्वाचारः सुशोभनः । त्यक्त्वात सर्वधर्मोपि मुनिगृहस्थगोचरः ॥ ८६ ॥
प्रामुक प्रामुक कृत्वा सर्ववस्तुकदम्बक । भवद्भिश्च क्रियाहीनै सर्वं ह्यगोकृतं ननु ॥ ८७ ॥
भक्ष्याभक्ष्यविवेकोपि युष्माक नास्ति किंचन । दृश्यते श्वपचो यद्वत् तद्वद् यूय न संशय. ॥ ८८ ॥
जातिहीना क्रियाहीना, जिनबिम्बस्य निंदका । यूय च सर्वहीना स्युर्यथा म्लेच्छाः तथा खलु ॥ ८९ ॥
खाद्याखाद्यस्य भेदो न म्लेच्छाना च खलात्मना । यथा स्यात्किचनो लुका युष्माकमपि सो नहि ॥ ९० ॥
स्वस्वधर्म रता सर्वे स्वस्वदेवस्य पूजकाः । यूय हि जिनधर्मस्य नाशका. स्युः न सशयः ॥ ९१ ॥
पुन पृच्छामि युष्माकं किमर्थं मुखबंधन । अकुरुतेति सश्रुत्वा आहुश्च मावरीयुताः ॥ ९२ ॥
सूक्ष्मना जीवरक्षार्थं वाससा वक्त्रबंधन । कृत च सर्वजीवस्य पालकाश्च वय खलु ॥ ९३ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुम लोग प्रत्यक्षमें ही गन्दे हो, म्लेक्षाचार सम्पन्न हो । तुम्हारे आचरण एकदम गन्दे और मलीन है इसलिये म्लेक्षोंके समान ही भ्रष्टाचारी हो ॥ ८५ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुमने जिह्वाके स्वादसे समस्त उत्तम आचरणको छोड़ दिया । और जो शुद्धाशुद्ध मिला सबको प्रासुक है, प्रासुक है ऐसा कह कर सेवन किया । क्रियाहीन होनेके कारण तुम लोगोने मलिन वस्तुके सेवन करनेमें भी विचार नही किया, इसलिये तुम प्रत्यक्ष ही म्लेक्षके समान हो ॥ ८६-८७ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुम्हारेमें भक्षाभक्ष खानेका जरा भी विवेक नही है । जैसे चाडालके आचरण है वैसे ही तुम्हारे हैं। तुम्हारी न जाति है, न क्रिया है । जिनप्रतिमाकी निंदा करनेसे तुम और भी पापी हो रहे हो । तब तुमको भी खुद्धे खाद्याखाद्यका विचार नहीं रहनेसे तुमको क्या कहे सो समझमें नही आता है॥८८-८९॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! प्रत्येक मनुष्य जिस धर्मको पालन करता है वह अपने देवकी पूजन अवश्य करता है । परन्तु तुम तो उलटे आप ही अपने ही धर्मका नाश करते हो ॥ ९१ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! तुम मुखपर पाटी क्यो बाधते हो । उत्तर—जीवोंकी रक्षाके लिये मुखपर पाटी बांधते हैं । हम सब समस्त जीवोंकी रक्षाके करनेवाले हैं । मुखसे जीव नहीं मरे इसलिये मुख [illegible] हे ढूंढिया हो ! तुम्हारे शरीरमें पसीनेके द्वारा निरन्तर जीव हिंसा होती है तो तुम अपने

तनो' हि नवद्वारा' स्यु' भो लुका. तान् कथ खला' । बधयथ सुचेलेन जीवाना रक्षणाय नो ॥ ९४ ॥
बधयथ नवद्वारान् लुका त्यजथ भो खला । बकस्य बधन नून यूयं सत्या यदि खलु ॥ ९५ ॥
वासोयोगात्समीरस्य कीलालस्य च निश्चयात् । जीवोत्कराश्च आस्ये वै उत्पद्यंते खलाशया ॥ ९६ ॥
तत्रैव ते च म्रियये सदा कालेत्र संशय । नो यूय पश्यथ लुंका ग्रथेपु सकलेपु च ॥ ९७ ॥
अतो यूयं च प्रत्यक्ष निशाचरसमा खला । जीवाना भक्षणात् स्यु हि ते हि जीवस्य भक्षका ॥ ९८ ॥
रक्षथ नैव रात्रो च प्रासुक चोदक खलु । यदि स्यान्मलमूत्रादेरुत्पत्तिः मा खला. स्फुट ॥ ९९ ॥
वदथ कुरुथ किं च तत्र तत्शुद्धये तदा । किं न कुरुथ भो लुका यदि श्वपचसोपमाः ॥१००॥
कथ जपथ नोकार सामायिक पठथ च । अशुद्धे सर्वं व्यर्थं स्यात् शुचि' सर्वत्र समता ॥ १०१ ॥

नव द्वारोंको क्यों नहीं बाँधते हो ? सच्चे जीवरक्षक तब ही तो हो सकते हो जबकि तुम अपने शरीरके नव द्वारोंको बाँधकर सब प्रकारको वायुओंका संरोध करो। अन्यथा एक मुखपर पाटी बाँधकर विशेष म्लेक्षाचार क्यों फैलाते हो और जेनधर्मको घृणापूर्ण बनाकर निन्दाके पात्र होते हो ॥ ९२-९५ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! मुखपर पाटी बाँधनेसे पाटीमें थूकके संयोगसे और वायुके वेगसे अगणित जीव निरंतर मुखमें उत्पन्न होते है तथा पाटीमें उत्पन्न होते हैं। वे वहाँपर ही मरते हैं। यह बात प्रत्यक्ष दीखती है। मुखपर पाटी रात्रि दिवस निरंतर बँधी रहनेसे रात्रिमें भी जीवभक्षणका पाप उत्पन्न होता हे। दूसरे जीवोंका भक्षण करनेसे तुमको निशाचर क्यों नहीं कहा जाय ? ॥ ९६-९८ ॥

अर्थ—हे ढूंढिया हो ! रात्रिमें जिस समय तुमको मल-मूत्र होता है तब क्या करते हो ? क्योंकि तुम लोग रात्रिमें प्राशुक (गर्म) पानी भी अपने पास नहीं रखते हो। और बिना पानीके मलमूत्रकी शुद्धि किस प्रकार करते हो ? ॥ ९९ ॥

अर्थ—रात्रिमें मलमूत्रकी शुद्धि करते हो या नहीं ? जो करते हो तो पानी बिना किससे ? (क्या मूत्रसे मलविष्टाकी शुद्धि करते हो ?) यदि मलमूत्रकी शुद्धि करते हो तो अशुद्ध मल-मूत्र सहित शरीरसे सामायिक किस प्रकार करते हो ? जप किस प्रकार करते हो ? अशुद्ध शरीरसे जप, तप, सामायिक आदि क्रियायें की जाँय तो सब व्यर्थ हैं। अरे ! चांडाल भी तो अपने मूत्रसे अपनी शरीरकी शुद्धि (मल त्यागकी शुद्धि) नहीं

ईदृश निंद्यकर्म च नो कुर्वंति खलाः स्फुट । मातंगापि क्रियाहीना व्रतकर्मविवर्जिता ॥ १०२ ॥
जनगमोपमा यूयं किं स्यु. भो जिननिंदकाः । नो सति तत्समाप्येव तद्धीनान्नात्र सशय ॥ १०३ ॥
भो म्लेच्छा ईदृश किं स्यात् साधुजनस्य लक्षण । वय हि साधवो लोके इत्यसत्यं वदथ मा ॥ १०४ ॥
अतो भो कुक्रिया त्यक्त्वा क्रिया शुद्धा सुखास्पदा । पालयत प्रयत्नेन जिनवक्त्रसमुद्भवाम् ॥ १०५ ॥
यायाथ कुगतिं मूढा यूयमाचारवर्जनात् । मा भजथा विवेक च धर्ममार्गस्य नाशका ॥ १०६ ॥
जिनबिंब जिनागार जिनसिद्धांतपुस्तकम् । जिनमतस्थ दयाभाव जिनयात्रा जिनोत्सव ॥ १०७ ॥
जिनधर्मं प्रभोर्वाचिं धर्मांश्चिमोमसदृशम् । इत्याद्यान् येच लोकाश्च निंदयत्येव ते मताः ॥ १०८ ॥
म्लेच्छाश्च जिनधर्मस्य नाशकाश्च जिनागमे । इति ज्ञात्वा न कर्तव्या निंदा बिंबस्य भो खलाः ॥१०९॥
उपदेशमस्माभिर्यद्दत्तो भवता खलु । अहंकारमदान्नैव तद्धि भद्रार्थमेव च ॥ ११० ॥
निगोदे यदि वाञ्छा चेत् युष्माकं स्यात् खलाः स्फुट । तदा कुरुथ बिंबस्य निंदा धर्मस्य नाशिनी ॥ १११ ॥

करता है तो फिर तुम किस प्रकार करते हो ? यह तो प्रत्यक्षमें चांडालकर्मसे भी निंद्य कर्म है । ऐसे कर्मको करनेवालेको साधु किस प्रकार मानना ? भला यही साधुके लक्षण हैं ? सत्य-सत्य कहना । इसलिये कुत्सित आचरणोंको छोड़कर सत्य और पवित्र आचरणोंका पालन करना सीखो ॥ १००-१०५ ॥

अर्थ—हे ढुंढिया हो ! मायाचार कषायसे दुर्गतिके पात्र क्यों बन रहे हो ? विवेकका परित्याग कर म्लेच्छोंके समान धर्ममार्गका लोप कर अपने जीवनको पतित क्यों बनाते हो ? ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे ढुंढिया हो ! जिनबिंब (जिनप्रतिमा) जिनमंदिर, जिनवाणी, जिनधर्म, जिनयात्रा, जिनमहोत्सव, जिनरथ महोत्सव, जिनप्रतिष्ठा इत्यादि श्री जिनधर्मके अंग उपांगोंकी जो निन्दा करते हैं वे नीच हैं । जिनागममें कहा गया है कि जिनधर्मके नाशक म्लेच्छ होंगे । परन्तु तुम लोग तो म्लेच्छजन्मा नहीं होकर भी ऐसे नीच कार्य करते हो, इसलिये जो तुमको अपनी भलाई करनेकी इच्छा है तो निन्दा करना छोड़ देना चाहिये और विवेक पूर्वक धर्माचरणका पालन करना चाहिये । यह उपदेश आपके हितके लिये लिखा है । अहंकार या किसी स्वार्थसे नहीं दिया है । यदि आपको निगोद पर्यायमें नहीं जाना है, तो जिनधर्मकी निंदा करना सर्वथा छोड़ दो ॥ १०७-१११ ॥

जिनबिंब नरा येहि दृष्ट्वा कुर्वंति भोजनम् । ते मता ह्यागमे मर्त्या पशुतुल्याश्च तदृते ॥ ११२ ॥
दर्शन जिनबिंबस्य सर्वांहस्यैव नाशदम् । दर्शनाज्जायते मोक्षो तदृते सर्वं नि फलम् ॥ ११३ ॥
सर्वातंकविनाशो वै जानते जिनदर्शनात् । सर्वे शोका प्रयात्येव नाशता च तदीक्षणात् ॥ ११४ ॥
जिनेक्षणसम धर्मं लोके नास्त्येव चापर । अत. पूर्वं कुरुध्व वै जिनबिंबस्य दर्शनम् ॥ ११५ ॥
लोकेऽस्मिन् जिनदर्शनोपमफल नैवावर सज्जना., जीवा ये तरिता. तरन्ति तथा वाहि तरिष्यति भो ।
ते सर्वे जिनदर्शनेन सुखद सर्वार्तिसहारिणा, ज्ञात्वेत्थ मनुजोत्तमा प्रतिदिन त हि कुरुध्व मुदा ॥ ११६ ॥
प्राप्नोत्येव बुधोत्तमाः जिनपते सद्दर्शनात् मानवो, मोक्ष शर्मनिकेतन मुनिवरैर्वंद्य सदास्थ वरम् ।
भव्योऽय शुभध्यानधर्मनिरतः पापालिसन्नाशनात्, कुर्वीध्वं प्रतिवासर सुखकर तद्दर्शन भो ह्यतः ॥११७॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! जो मनुष्य श्रीजिनदेवके दर्शन क्रिया कर भोजन करते है वे आगमानुसार मनुष्य है । तथा जो बिना दर्शन भोजन करते हैं वे पशुके समान है ॥ ११२ ॥

अर्थ—श्रीजिनराजके पवित्र दर्शन करनेसे समस्त पापोका नाश हो जाता है । और क्रमसे मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। भगवान्‌के दर्शनके बिना समस्त व्रतपालन जप-तप व्यर्थ है ॥ ११३ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शन करनेसे सर्व प्रकारके रोग नष्ट हो जाते हैं । समस्त प्रकारके शोक नष्ट हो जाते है । प्रभुके दर्शन सिवाय अन्य कोई धर्म ही नहीं है । इसलिये नित्य प्रति भगवान्‌का दर्शन कर अपने जन्मको पवित्र और पुण्यरूप बनाओ ॥ ११४-११५ ॥

अर्थ—संसारमें श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के पवित्र दर्शनके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु उत्तम नहीं है, दुर्लभ नहीं है सुखद नहीं है, हितकर नहीं है । इसलिये जिनेन्द्र भगवान्‌के दर्शनसे भव्य जीव संसार समुद्रसे पार होते है, हो गये हैं और होंगे । भगवान्‌के दर्शन सिवाय संसारसे पार होनेका दूसरा मार्ग ही नही है । समस्त प्रकार की पीड़ाको नाश करनेवाला यह प्रभुका दर्शन समस्त जीवोंको सुखकारी है ऐसा जानकर हे भव्यजीवो ! नित्य प्रति भगवान्‌का दर्शन-पूजन-ध्यान और अभिषेकादि विधान करो ॥ ११६ ॥

अर्थ—जो भव्य जीव भगवान्‌के दर्शन करते है उनको मोक्षके सुख शीघ्र ही प्राप्त होते है। वह समस्त पापोंसे मुक्त होकर मुनियोसे वंदनीय होता है । इसलिये भगवान्‌का दर्शन नित्य प्रतिदिन करना चाहिये ॥११७

ये कुर्वंत्यधमाः सुराधिपगणै पूजस्थ बिंबस्य वै, याता याति निकोतिपु खलु सदा यास्यंति भो सज्जनाः।
निंदा दुःखप्रदायिका मुनिवरैर्हेया न कुमानजैः, कुर्वीध्व च ह्यतः सदा सुखकरं भक्तिं च सद्वीक्षणं ॥११८॥
इत्थं वै परपक्षस्य भव्याः किंचित् धिया मया। निराकरणं कृतं चैव जिनागमानुसारतः ॥ ११९ ॥
यत्प्रोक्ता वीरनाथेन श्रेणिकं प्रति भो बुधाः। भाविकालभवा वार्ता तथैव पश्यथाशुभा ॥ १२० ॥
ईदृशा धर्ममार्गस्य नाशकाश्च खलाशयाः। ज्ञानलेशोज्झिता क्रूरा भविष्यति न संशय ॥ १२१ ॥
भव्यभावयुताः स्वल्पसंख्याढ्या मगधेश्वर। विसंख्याढ्या नराः तस्मिन् भविष्यत्येव नेतराः ॥ १२२ ॥

अथ व्रतप्रकरणम्

पुनराह शृणु भूप तेषां भाविसुखाप्तये। दर्शयामि शुभं मार्गं शिवो यस्माद्विजायते ॥ १२३ ॥
अष्टाह्निकाविधिं चैव संपत्तिं जिननामजाम्। शिवदा मेघमालाख्या सद्व्रतं पल्यसंज्ञकम् ॥ १२४ ॥
ज्ञातदं पार्श्वनाथाकमादित्याख्यं च सद्व्रतम्। सर्वपापेभसिंहाभं सर्वांतकविनाशकम् ॥ १२५ ॥
ज्येष्ठजिनवरनामानं दशलक्षणसंज्ञकम्। षोडशकारणाख्यं च जिनगोत्रप्रदायकम् ॥ १२६ ॥
मेरुपंक्तिं क्रियाव्रतं सर्वतोभद्रसंज्ञकम्। विमानपंक्तिसन्नाम शातकुम्भं द्विकावली ॥ १२७ ॥

अर्थ—देवोंसे पूजित ऐसी जिनराजकी प्रतिमाकी निन्दा करनेसे जीव निगोदमें जाते हैं, जायेंगे और जाते हैं। इसलिये निन्दाको छोड़कर भगवान्की भक्ति करो जिससे सर्व सुखकी प्राप्ति हो ॥ ११८ ॥

अर्थ—इस प्रकार ढूंढिया मतका निराकरण जिनागमके अनुसार किया ॥ ११९ ॥

अर्थ—वीर भगवान्ने श्रेणिक महाराजसे कहा कि पंचमकालमें धर्मको नष्ट करनेवाले बहुतसे मनुष्य उत्पन्न होंगे। परन्तु भव्य भावोंको धारण करनेवाले कम होंगे। यह कालका माहात्म्य है ॥ १२०-१२२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक! भव्य जीवोंके हितके लिये शुभ मार्ग बतलाते हैं। जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो। उन व्रतोंके कुछ नाम बतलाते हैं जिनके पालन करनेसे भव्य जीवोंको स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥ १२३ ॥

अष्टाह्निकाव्रत १ जिनगुणसंपत्तिव्रत २ मेघमालाव्रत ३ पल्यविधानव्रत ४ रविव्रत ५ ज्येष्ठजिनवरव्रत ६ दशलक्षणव्रत ७ षोडशकारणव्रत ८ मेरुपंक्ति ९ त्रिपनाशन् क्रियाव्रत १० सर्वतोभद्रव्रत ११ विमान-

सिंहादिविक्रम वृत्त त्रय ससारनाशकम् । नक्षत्रमालावृत्त च रत्नावली सुशातदाम् ॥ १२८ ॥
वृत्त कनकावली चैव मोक्षपदस्य दायकम् । उल्लीनोल्लीनसद्व्रत जिनैक प्रतिप्रोपधम् ॥ १२९ ॥
पचकल्याणवृत्त च कर्मदावाग्निवारिद । शिवकुमारवृत्त च पुष्पाजलिव्रतोत्तमम् ॥ १३० ॥
रत्नत्रयाभिध वृत्त सर्वकर्मारिनाशकम् । यस्यैव पालनाद्राजा मल्लिनाथोभवज्जिन ॥ १३१ ॥
इत्याद्या बहव सति जिनागमे जिनेश्वरै । प्रोक्ताश्च चेलनाकात ह्येतच्च शिवदायका. ॥ १३२ ॥
शास्त्रोक्तविधिना भूप ये करिष्यति मानवाः । द्वित्रिभवे हि यास्यति शिवेत्यया दिवर्जिते ॥ १३३ ॥
एषा मध्येस्ति राजेन्द्र कर्मादिदहनाभिध । व्रत्तो हि सर्वकर्माग्नेः दाहने पावकोपम ॥ १३४ ॥
तत्कथ चास्य सर्वं हि विधिमाह जिनश्च सः । समाधिना शृणु त्व च सर्वभव्यहितासये ॥ १३५ ॥
कर्माण्यष्टौ महादु खदायकानि खलानि च । अष्टाविधचद्रसंख्याढ्या ज्ञेया प्रकृतयः खलु ॥ १३६ ॥
सर्वे पिंडीकृता ह्येते सर्वशर्मप्रदायकाः । ऋतुपचेदुसख्याढ्याः सजाता मगधेश्वर ॥ १३७ ॥
एषा कर्मप्रकृतोनामेकैकोपरिप्रोपधाः । शतैकपचपट्सख्याप्रमाः कार्या. शिवाप्तये ॥ १३८ ॥
एते सर्वे मयाख्याताः प्रोपधा कर्मनाशकाः । एकातरेण कर्तव्या मनोमलविभजका. ॥ १३९ ॥

पंक्तिव्रत १२ शातकुम्भव्रत १३ द्विकावलीव्रत १४ सिंहविक्रमक्रीडनव्रत १५ रत्नत्रयव्रत १६ कनकावली १७ नक्षत्रमालाव्रत १८ रत्नावली १९ बृहतकनकावली २० उल्लीनोल्लीनव्रत २१ जिनप्रोषधव्रत । पंचकल्याणव्रत २२ पुष्पांजलिव्रत २३ और सर्वकर्मोंका नाशक रत्नत्रयव्रत है। जिस व्रतको करनेसे राजाका जीव तीर्थंकर मल्लिनाथ हुआ। इत्यादि अन्य भी बहुतसे उत्तमोत्तम व्रत श्री जिनदेवने भव्य जीवोंके कल्याणके लिये बतलाये हैं, इन व्रतोंमेंसे कितने ही ऐसे उत्कृष्ट व्रत हैं कि जिनका सेवन करनेसे दो तीन भवमें ही मोक्षका सुख प्राप्त होता है ॥ १२४-१३३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त व्रतोंमें एक कर्मदहन नामका सर्वोत्तम व्रत है। जो भव्य जीवोंको सर्व प्रकारकी संपत्तिका प्रदान करनेवाला और मोक्षके सुखको देनेवाला है। कर्मदहन व्रत कर्मोंका समूल नाश करनेवाला होनेसे शीघ्र ही सिद्धपदको प्रदान करता है। मनोमलका नाशक यह व्रत भव्यजनोको एकान्तर से करना चाहिये।

कर्मोंको समस्त उत्तर प्रकृति १४८ है। उनमें आठ कर्मकी मूलप्रकृति मिला देनेसे कुल १५६

प्रोषधाना विधिं वक्ष्ये त्वं शृणु शर्मदायकं । विधिना क्रियमाणोय शिवशर्मप्रदायकः ॥ १४० ॥
पूर्वस्मिञ्च दिने सैव व्रती चोत्थाय शुद्धधीः । तत्पात् सामायिकं कृत्वा मंत्र जप्त्वा जगन्नुतम् ॥ १४१ ॥
पश्चाच्छुद्धोदकेनैव स्नात्वा यत्नेन सिद्धये । धौतवस्त्रानि शुक्लानि सधार्य जिनमंदिरे ॥ १४२ ॥
गत्वा दत्वा जिनेन्द्रस्य त्रिप्रमाहि प्रदक्षिणा । नत्वा चाष्टांगविधिना तत्पादाब्जौ मुहुर्मुहुः ॥ १४३ ॥
ततो जिनेन्द्रबिंब च स्थापयित्वा वरासने । छत्रचामरसच्छोभा कर्तव्या तत्पुरो मुदा ॥ १४४ ॥
शुद्धोदकेक्षुमदाज्यदुग्धदधिरसोत्करैः । स्नपनीयं च त पश्चात्सर्वौषधिरसैर्वरैः ॥ १४५ ॥

एकसौ छप्पन भेद हो जाते हैं। बस जितने भेद कर्मोंके होते है उतने ही भेद इस कर्मदहन व्रतके होते हैं ॥ १३४-१३९ ॥

भावार्थ—१५६ प्रोषधोपवास इस व्रतमें किये जाते है। एक-एक कर्मप्रकृतिके नाश करनेके लिये एक-एक प्रोषधोपवास करना चाहिये।

१५६ प्रोषधोपवास इस व्रतमें किये जाते हैं। ओर इसीलिये इस व्रतका सार्थक नाम कर्मदहन व्रत है। ये प्रोषधोपवास एकांतर (धारणा-पारणा) से करना चाहिये। प्रोषधोपवासकी विधि तुमको कहता हूं उसे सुनो। विधिसे किया गया यह व्रत अनंत सुखको देनेवाला है।

अर्थ—कर्मदहनव्रतकी विधि-व्रतके धारणाके दिवससे ही मनकी सब प्रकारकी शल्यको निकालकर गुरुके समीप व्रतको ग्रहण करे। धारणाके दिवस एकाशन करे। परिणामोंको शांत रखकर यथासाध्य विषय कषायों का त्याग करे। [illegible] धारण करे। शुद्ध आहार निरंतराय ग्रहण करे ॥ १४० ॥

[illegible]—[illegible] दिवस प्रात काल उठकर सामायिक करे। पश्चात् शौच क्रियासे निवृत्त होकर शुद्ध [illegible] स्नान करे। [illegible] सफेद वस्त्रोंको धारण करे। और अपने घरमें उत्तमोत्तम भगवान्‌के पूजन-की [illegible] सामग्री (इक्षुरस, दूध, दही, घृत, सर्वौषधि, शर्करा, फल, फूल, केशर, कपूर, [illegible] भगवानके चैत्यालयकी पूजा [illegible] कर पश्चात् श्री जिनराजके [illegible] प्रदक्षिणा दे। पश्चात् स्तोत्र पढ़कर प्रभुका गुणानुवाद कर नमस्कार [illegible]। आसन देकर [illegible] विराजमान करे। पश्चात् [illegible]

जललग्नान् कणान् सर्वान् दूरीकृत्य प्रयत्नत । स्निग्धेन शुभ्रवस्त्रेण प्रभोर्गात्रस्य वा तत ॥ १४६ ॥
जन्मात्ययजराणा च नाशार्थं श्रीपते पुर । दातव्याश्च त्रयो धारा. स्वर्णभृंगारनालकात् ॥ १४७ ॥
ससारातपघातार्थं काश्मीरागुरुजे रसै । लेपनीय जिनेन्द्रस्य पादगोर्लेखपूज्ययो. ॥ १४८ ॥
जिनपादारविंदाग्रे करणीया मनोहरा. । पु जाश्चाक्षतसदोहैरखडस्थानलब्धये ॥ १४९ ॥
पद्ममदारसत्कुन्दवकुलाद्याश्च सुन्दरा । पुष्पोत्करा जिनेन्द्रस्य पादोपरि सुमोदका ॥ १५० ॥
सवरारिविनाशाय धर्त्तव्या जीववर्जिता । अस्पृश्य श्च कुमर्त्यैश्च निश्छिद्रा पतिता न की ॥ १५१ ॥
व्यजनैर्मोदकै खज्जे रसैर्नानाविधैर्वरै । शाल्यन्नैर्जिनपादाब्ज ढौकनीय सुखाप्तये ॥ १५२ ॥
दीपैर्धूपै फलौघैश्च पूजनीयो जिनेश्वर । महार्घेण ततस्त च अनर्घ्यपदप्राप्तये ॥ १५३ ॥
कृत्वैवं जिनसत्पूजा पश्चात्पुष्पांजलिर्मुदा । दातव्या शांतिपाठ च करणीय प्रभोः पुर. ॥ १५४ ॥

भगवान्‌को विराजमान कर चमर-छत्र आदिसे दिव्य शोभा करे। पश्चात् इक्षुरस, घृत, दूध, दही, सर्वौषधि रससे मंत्रपूर्वक अभिषेक करे। पश्चात् पूर्ण कलश (कुम्भकलशों से) अभिषेक करे। प्रलेपन कर पुष्पवृष्टि करें। भगवान्‌की आरती करें। फिर गंधोदकसे शांतिधारा समर्पण करे ॥ १४१-१४५ ॥

अर्थ---अभिषेक हो जानेके पश्चात् उत्तम वस्त्रसे प्रभुके शरीरको पोंछ लेवे। फिर मंत्रपूर्वक आठ द्रव्योंसे पूजन करे। पूजनमें भी आह्वानादि विधिको भूल न जावे ॥ १४६ ॥

अर्थ---जलपूजा--जन्म-मृत्यु-जराके नाशके लिये भगवान्‌के आगे भृंगारकी नालीसे तीन धारा चढ़ानेसे ही होती है। चंदनपूजा--अनामिका अंगुलीके द्वारा सुगंधित केशर प्रभुके चरण कमलके अंगुष्ठोंपर चढ़ानेसे होती है। अक्षतपूजा--अक्षय स्थानकी प्राप्त्यर्थं पुंज चढ़ानेसे होती है। पुष्पपूजा--सुगंधित पुष्प प्रभुके चरणकमलों पर चढ़ानेसे होती है। नैवेद्य पूजा--सुन्दर नैवेद्य भात, पूडी, पकवान थालमें चढ़ाकर उतारनेसे होती है। दीपपूजा--दीपकको जलाकर आरती रूप करनेसे होती है। धूपपूजा--धूपको अग्निमें खेनेसे होती है। फलपूजा--केला, बदाम आदि फलोंकी भेंट प्रभुके समक्ष चढ़ानेसे होती है। जल-फलादि, अष्ट द्रव्य, स्वस्तिक, सरसों आदि मंगलीक द्रव्योंके साथ अर्घको उतारना चाहिये। फिर पुष्पांजलि चढ़ाकर शांति धारा करनी चाहिये। यह पूजाविधिका क्रम है ॥ १४७-१५४ ॥

शक्त्यनुसारत पश्चात् जिनेन्द्राग्रे सुमोदत.। कायोत्सर्गं च अतेहि कर्तव्यं मोक्षप्राप्तये ॥ १५५ ॥
पश्चात्स्तोत्रं जिनेन्द्रस्य पठनीयं तत. खलु। कर्तव्यं मन्त्रराजस्य जाप्यं ध्यानं च सिद्धये ॥ १५६ ॥
कर्तव्यं शास्त्रस्वाध्याय मनोरोधाय केवल। स्वाध्यायसमं धर्मं हि न परं गृहमेधिनाम् ॥ १५७ ॥
इत्यादिशुभकर्माणि कर्तव्यानि जिनास्पदे। नदन्नातोद्यसयुक्ते भव्यनरालिसभृते ॥ १५८ ॥
गृहे गत्वा च पश्चाद्धि मध्याह्ने समये वरे। कर्तव्यं भोजनं शुद्धं त्रिशुद्धया दोषवर्जितम् ॥ १५९ ॥
शूद्रस्पृष्टं जलं चूर्णं घृतं ग्राह्यं व्रताप्तये। नैव गृह्णन्ति ये मूर्खास्तत्समास्ते बुधैर्मताः ॥ १६० ॥
कृत्वैव शोभनं स्यादमतरायविवर्जितम्। एकवारं च तत्रैव स्थाने मोक्षपदाप्तये ॥ १६१ ॥
प्रत्याख्यानस्य विधिना वेदाहारस्य तत्र हि। प्रत्याख्यानं च कर्तव्यं कर्मसंतानहानये ॥ १६२ ॥

अर्थ—फिर शक्तिके अनुसार प्रमोद भाव सहित हो, जिनेन्द्रदेवके आगे कायोत्सर्ग करना चाहिये क्योंकि कायोत्सर्ग ही आत्माके ध्यानका और मोक्षका साधन है ॥ १५५ ॥

अर्थ—फिर सिद्धपद प्राप्तिके लिये श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंका स्तोत्रपाठ करना चाहिये और मन्त्रराजकी जाप व ध्यान करना चाहिये ॥ १५६ ॥

अर्थ—पीछे पूजा करनेके बाद शास्त्रोंका स्वाध्याय मनको निरोध करनेके लिये व आत्मकल्याणके लिये करना चाहिये। स्वाध्याय से मनका निरोध होता है, इसलिये स्वाध्याय के समान अन्य कोई उत्तम धर्म नहीं है ॥ १५७ ॥

अर्थ—इत्यादिक शुभ क्रियाओंको जिनमंदिरजीमें भव्य मनुष्योंकी पंक्तियुक्त हो, बाजे-गाजेके साथ करे ॥ १५८ ॥

अर्थ—फिर घर पर जाकर पात्रको भोजन करा कर मध्याह्न समयमें शुद्ध भोजन एकबार ही (ठाम [illegible]) मन, वचन, कायकी शुद्धिसे करना चाहिये ॥ १५९ ॥

अर्थ—[illegible] भोजन [illegible] हो। स्नानादि पवित्र विधिसे समस्त द्रव्योंकी शुद्धतासे [illegible] और [illegible] मर्यादा आगम विधिसे की हो। शूद्रके हाथका जल [illegible] और [illegible] शूद्र संस्कार और क्रिया विहीन होनेसे उसके हाथका जलादिक [illegible] समझना चाहिये। या यह स्वयं शूद्रके समान

निरारम्भ प्रकर्तव्य प्रोषध मदवर्जितम् । एवं च क्रियमाणेहि प्रोषध: कर्मनाशक: ।। १६३ ।।
अनेन विधिना कार्या प्रोषधा कर्मघातना. । एवं सर्वेषु कर्तव्य पूजनादिविधि खलु ।। १६४ ।।
सर्वे च प्रोषधा भूप शतैकपचपट्प्रभा: । अस्य स्युः कर्मनाशार्थं कर्तव्या: शुद्धितस्त्रिधा ।। १६५ ।।
प्रोषधैक प्रति जाप्य तत्कर्मैव नामत खलु । करणीय तद्विनाशार्थं चाष्टोत्तरशतप्रमम् ।। १६६ ।।
दत्वा ह्येकाय पात्राय न्याद च धर्मिणे शुभम् । पूर्व पश्चाद्धि कर्तव्य सर्वेष्त्रेव विधि: खलु ।। १६७ ।।
विकथा च गृहारभ वामात्याग स्वमडनम् । तल्पे च शयन शोक वृथाटन मदाष्टकम् ।। १६८ ।।
पैशून्य परनिंदां च परवामेक्षण तथा । रागोद्रेकाच्च हास्य वा रतिं चैवारतिं तथा ।। १६९ ।।
कुभाव चैव दुर्ध्यान भोगाभिलापमेव च । पत्र शाकमशुद्ध च दधिदुग्ध च वा घृतम् ।। १७० ।।
व्रतिभिर्मोचनीयाश्च व्रते चास्मिन् व्रताप्तये । इत्याद्या दोषनिकरा ससारदु खदायका. ।। १७१ ।।

ही है । भोजन अन्तराय रहित करना चाहिये । भोजन होनेके पश्चात् चार प्रकारके आहारका परित्याग करे । इस प्रकार भोजनका प्रत्याख्यान कर्मोंका नाश करनेवाला है ।। १६०-१६२ ।।

अर्थ——प्रोषधके दिवस आरंभ नहीं करना चाहिये । आठ प्रकारके अभिमानोंका त्याग करना चाहिये । इस प्रकारकी विधि जो भव्यजीव प्रत्येक प्रोषधोपवासमें करता है, उसके कर्मोंका नाश होता है । प्रत्येक प्रोषधोपवासके दिवस (जिस कर्म प्रकृतिका प्रोषधोपवास हो, उस प्रकृतिके नाशके लिये) प्रकृतिके अनुसार जाप जैसे देवे ॐ ह्लीं मतिज्ञानावरण कर्मनाशाय नमः, ॐ ह्लीं श्रुतज्ञानावरण कर्मनाशाय नमः इत्यादि प्रकारसे जाप देवे । एक पात्रको आहार देकर फिर आप आहार करे । विकथा और आरंभका परित्याग करे । स्त्रीसेवनका परित्याग करे, शरीर संस्कारका परित्याग करे, खाटपर शयनका परित्याग करे, शोक, अभिमान और व्यर्थका पर्यटनका परित्याग करे । दूसरोंकी निन्दा करना, हँसना, दूसरोंकी स्त्रीके मनोहर अंगोंको देखना, दुर्भाव, मात्सर्य, द्वेष आदि दुःपरिणामोंका त्याग करना । अशुद्ध दूध, दही, घृत आदि पदार्थका त्याग करना । इत्यादि उत्तम आचरणोंके साथ इस व्रतका पालन करे ।। १६३-१७० ।।

अर्थ——व्रती पुरुषोंको व्रतकी शुद्धिके लिये संसारके दुखोंको करनेवाले इन दोषोंका परित्याग करना चाहिये ।। १७१ ।।

केशरिभयतो यद्वत् गजवृन्दा महोन्नताः । पलायत्येव तद्वद्धि कर्मेभा व्रतसिंहतः ॥ १७२ ॥
कर्मदहनव्रतो भो मत सकलव्रतेषु मुख्योयं । जिनसिद्धाते ह्यत स्यात् सार्थनामत ॥ १७३ ॥
पूर्वंघस्रस्य मध्यान्हे कर्तव्य भोजनं सदा । द्वितीये वासरे चैवानशनं करणोयकम् ॥ १७४ ॥
तृतीयस्य दिनस्यैव मध्यान्हसमये वरे । पारण करणोय च कर्मसतानहानये ॥ १७५ ॥
सर्वोत्कृष्टविधिश्चाय सर्वकर्मारिघातकः । कथितश्चागमे शुद्धे भूप नैवात्र संशय. ॥ १७६ ॥
सर्वोत्कृष्टफल वक्ष्ये भाविज चेलनाप्रिय । करिष्यति व्रत शुद्ध प्राप्स्यति स शिव ॥ १७७ ॥
कर्मदहनव्रतस्य फल शृणु समाधिना । श्रवणाच्च यत्सर्वांहा. प्रलय याति देहिनाम् ॥ १७८ ॥
अनेन विधिना कृत्वा य. कश्चिदिह जन्मनि । समाधिना पुन. स्वस्य मरण शल्यवर्जितम् ॥ १७९ ॥
प्राप्स्यति या गतिं सैव तत्सर्वं कथयाम्यह । द्वादशाना गणाना तु दृढश्रद्धाय केवलम् ॥ १८० ॥
विदेहे शाश्वते क्षेत्रे तुर्यकालेन भूषिते । ह्रासवृद्धिविनिर्मुक्ते ईतिभीत्यादिवर्जिते ॥ १८१ ॥
वैदेहा मुनयो यत्र भवन्त्यनेकशोनिशं । रत्नत्रयतपोध्यानै. स सार्थनामभृत् ह्यतः ॥ १८२ ॥

अर्थ---जिस प्रकार सिंहको देखते गज पलायमान हो जाते हैं वैसे ही इस व्रतसे कर्मरूपी गज पलायमान हो जाते हैं। यह व्रत समस्त व्रतोंमें मुख्य है। जिन सिद्धातमें इसको मुख्य व्रत बतलाया है। इसीलिये इसका नाम भी सार्थक है ॥ १७२-१७३ ॥

अर्थ---व्रतके धारणा पारणाके दिवस एकवार भोजन करे। वह भी मध्याह्न समयमें ही करे। यह व्रतकी सर्वोत्कृष्ट विधि बतलाई। मध्यम और जघन्यविधिसे भी यह व्रत किया जाता है। हे श्रेणिक! इस व्रतका सर्वोत्कृष्ट फल मोक्षकी प्राप्ति है। जो मनुष्य इस व्रतको विधिपूर्वक पालन कर समाधिमरण पूर्वक देहका [illegible] करे तो उत्तम सुखको प्राप्त होता है। इस व्रतका ऐसा ही माहात्म्य है। जो विधिपूर्वक व्रतका पालन करता है [illegible] समाधिपूर्वक निःशल्य मरण करता है। उस व्रतको पालन करके कौन किस गतिको प्राप्त [illegible] श्रोताओंके दृढ श्रद्धानके लिये कहता हूं ॥ १७४-१८० ॥

[illegible] उत्पन्न होते हैं। विदेह क्षेत्रमें सदैव [illegible] नहीं होता है। विदेहमें ईति-भीति इत्यादि किसी प्रकारका उपद्रव [illegible] निरन्तर दर्शन होता है। वहां तीर्थंकर प्रभु सदैव [illegible] हैं

जिनेन्द्रा जितमार्तंडा· चक्राका· पुरुषोत्तमाः । पट्खडपालने दक्षा· कामरूपधरा वराः ॥ १८३ ॥
विष्णवो बलदेवाद्याः तद्द्विप· शर्ममंडिताः । इत्याद्या यत्र भातिस्म सदा सर्वत्र विश्रुता· ॥ १८४ ॥
प्रवर्तते सदा यत्र धर्मो जैनेति नामत· । त्रयो वर्णाश्च विद्यते मिथ्यामार्गपराङमुखाः ॥ १८५ ॥
सदा यात्येत्र मोक्षेहि तस्माद्भव्या नरेश्वरा । रत्नत्रयतपोयोगात् शर्मवृंदांकितेऽक्षये ॥ १८६ ॥
पाखडा· तत्र नो सति कुदेवा दोषमडिताः । तन्मदिरा हि नो सति तेषा च सेवकास्तथा ॥ १८७ ॥
नो सति द्रव्यतस्तत्र मिथ्यादृग्धारका नृप । भावत· केचन सति नरा तद्धारकाः खलु ॥ १८८ ॥
यत्र नराश्च शोभते रवितेजःसमाः शुभा· । शीलरत्नधरा वृद्धा कलाकलापमडिताः ॥ १८९ ॥
चद्रकोटिप्रमायुष्काः चापपचशतोन्नता·, पुत्रपौत्रादिसपन्ना धनवृदभरा - वरा· ॥ १९० ॥

व शाश्वत बने रहते है। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्य पुरुष भी सदैव होते रहते हैं॥१८१-१८४॥

अर्थ—विदेहमें जैनधर्म सिवाय अन्य धर्म सर्वथा नहीं है। जैन मत सिवाय अन्य कोई भी मत किसी कालमें कभी भी वहाँपर उदय नहीं होता है। न अन्यमतके धारक मनुष्य ही वहाँपर उत्पन्न होते है। और वहाँ तीन ही वर्ण होते हैं, मिथ्यामार्गसे विमुख होते हैं। वहाँपर सबको व्यवहार रत्नत्रयकी प्राप्ति स्वभावरूप से होती है। इसीलिये सर्वत्र जिनायतन, जिनचैत्य, जिन चैत्यालय और जिनरूप धारक गुरु सर्वत्र सर्वदा मिलते है। यहाँसे भव्यजीव सदा ही मोक्ष जाते रहते हैं॥ १८५-१८६ ॥

अर्थ—वहाँपर मिथ्यामतके मन्दिर, चैत्य और पाखंडी गुरु भी नहीं हैं, न कुशास्त्रोका सद्भाव वहाँ पर है। कोई भी मनुष्य कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र और कुधर्मको नही जानता हे। न षट् अनायतन वहाँपर हैं। उसी प्रकार मिथ्यामार्गरूप गंगादि नदी प्रवाहमें स्नान कर लोग धर्म नही मानते हैं। तथा अग्निमें जलकर सती वहाँपर नहीं होती हैं। वहाँ पर कुतीर्थ नहीं हैं। वहाँ पर द्रव्य मिथ्यात्वका सर्वथा अभाव है। इसीलिए वहाँ पर ब्राह्मण नहीं होते हे। हाँ भाव मिथ्यात्वके धारक कितने ही जीव उत्पन्न होते हैं। जहाँ सूर्यके समान तेजके धारक शुभ क्रियाकलापसे मंडित शीलरत्नके धारी वृद्ध श्रेष्ठ मनुष्य शोभाको प्राप्त होते हैं॥१८७-१८९॥

अर्थ—वहाँ पर मनुष्योंकी एक पूर्व कोटि आयु और पाँच सौ धनुषका शरीर होता है। सभी जीव

आमृत्यु शर्ममग्नाश्च दुखशोकविवर्जिताः। दानपूजादिकार्येषु सदा तत्परमानसाः ॥ १९१ ॥
ईदृशा यत्र राजते नार्योपि मगधेश्वर। शीलव्रतधराः शुभ्रा जिनेज्यारतमानसाः ॥ १९२ ॥
देशे देशे पुरे ग्रामे भद्रे द्रोणे च कर्वटे। पत्तने विपिने खेटे नद्याः कूले मनोहरे ॥ १९३ ॥
इत्याद्यन्यशुभे स्थाने सति सर्वत्र सुन्दराः। जिनालया ह्यनेकाश्च यत्र नेत्रमनोहराः ॥ १९४ ॥
श्मशानाद्रिगुहाया च दिशावासोविमंडिता। मुनीन्द्रा यत्र कुर्वंति स्वात्मध्यान शिवाप्तये ॥ १९५ ॥
यत्र ये श्रावकाः नार्यः स्वस्वगृहेषु भावतः। जिनबिंबस्य नित्य हि सर्वपापप्रशांतये ॥ १९६ ॥
पंचामृतरसैः शुद्धैरभिषेक ततः परम्। कुर्वंति पूजन द्रव्यैर्वैसुभैर्दैर्मनोहरैः ॥ १९७ ॥
नृत्य गान जिनाग्रे च रात्रौ जागरण तथा। वाद्यघोष प्रकुर्वन्ति तत्रत्या मगधेश्वर ॥ १९८ ॥
मध्याह्नसमये नित्यं द्वारस्थानेषु च पुनः। तिष्ठन्ति पात्रदानार्थं स्वव्रतपालने रताः ॥ १९९ ॥
मुनीन्द्रापि तदागत्य तेषा सद्मनि भोजन। कृत्वा सुविधिना पश्चात्तपोवने प्रयान्ति च ॥ २०० ॥
तत्प्रभावात्प्रकुर्वन्ति तेषां गेहे सुराधिपा। पञ्चाश्चर्यं सुदानस्य प्रभावात् किन्न जायते ॥ २०१ ॥

पुत्र-पौत्र आदिसे सम्पन्न, धनसे सम्पन्न हैं। सभी जीव जीवन पर्यन्त सुखमें मग्न व दुःख और शोकसे रहित हैं। दान पूजा आदि शुभ कार्योंमें उनका मन सदा तत्पर रहता है ॥ १९०-१९१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! वहां परस्त्रियां भी शीलमंडित, भगवान्‌की पूजामें लवलीन होती हैं। जहाँपर देश-देश, ग्राम-ग्राम, पर्वत-पर्वत, नदी तीर, खेट, द्रोण, शहर, जंगल आदि सभी प्रदेशोंमें सुन्दर जिनालय होते हैं ॥ १९२-१९४॥

अर्थ—जिस क्षेत्रमें दिगंबर जैन ऋषि-गुहा, कंदर, श्मशान भूमि और सर्वत्र अपने ध्यानमें लवलीन दृष्टिगत होते हैं ॥ १९५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! विदेहक्षेत्रमें सर्व स्त्री पुरुष (श्रावक-श्राविका) अपने-अपने घरमें (गृह चैत्यालयमें) नित्य [illegible] सब पापोंकी शांतिके लिए भावभक्तिसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के मनोहर बिंबका शुद्ध पंचामृत [illegible] अभिषेक करते हैं। फिर अष्ट-द्रव्यसे पूजन करते हैं, नृत्य, गान, वाद्यघोष आदि उत्तमोत्तम भक्ति-[illegible] रात्रिमें जागरण कर धर्म लाभ उत्पन्न करते हैं ॥ १९६-१९८ ॥

अर्थ—[illegible] ऐसे श्रावक मध्याह्न समयमें प्रतिदिन द्वाराप्रेक्षण करते हैं। मुनीगन भी [illegible] आकर विधिपूर्वक आहार लेकर पश्चात् तपोवनको जाते हैं। उस दानके प्रभावसे देव लोग गृहस्थो-

आहारदानतोऽजीवा भोगभूमौ व्रजत्यहो। द्वित्रिचन्द्रपल्याते भुजत्येव वर सुखम् ॥ २०२ ॥
यस्माद्यात्येवऽभो 'भृप तिर्यंचोऽपि सुखास्पदे । दानानुमोदनाद् भद्रा मनुष्याणा च का कथा ॥ २०३ ॥
अपर दानसदृश नो पुण्य गृहमेधिना । अत. पात्राय दातव्यो गृहस्थैर्जेमन खलु ॥ २०४ ॥
पात्रदान न कुर्वन्ति ये गृहस्था मताश्च ते । विपुच्छपशुना तुल्या स्वोदरभरणे रता ॥ २०५ ॥
पात्रार्थं न च पूजार्थं दानार्थं नार्पित खलु । स्वापतेयो गृहस्थाना तेपा तन्नि फल मतम् ॥ २०६ ॥
प्रातर्जिनेन्द्रदेवस्य पचभिश्चोत्तमै रसै. । कृत्वाभिपेक पश्चाद्धि करणीय च पूजन ॥ २०७ ॥
प्रात' जिनेन्द्रपूजा च पात्राय भोजन तथा । न करोति ददात्येव गृहस्थ. रान् स्वय पुनः ॥ २०८ ॥
भुञ्जत्येव मुनिश्वभ्रे सदा दु ख न सशय. । अतो द्वौ सर्वदा कार्यौ इज्यादानौ सुखाप्तये ॥ २०९ ॥

के घरमे पञ्चाश्चर्य वृष्टि करते हैं । सत्य है सुदानके प्रभावसे क्या-क्या प्राप्त नही होता है ॥ १९९-२०१ ॥

अर्थ—इस दानके फलसे जीव भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं । जहाँपर एक-दो-तीन पल्यके उत्तम सुखको प्राप्त करते है । यदि तिर्यंच भी पात्र दानकी अनुमोदना करे तो भोगभूमिके उत्तम सुखको प्राप्त होता है फिर मनुष्यकी क्या बात है ? वह तो प्राप्त होगा ही । गृहस्थोंको पात्रदानके समान अन्य पुण्य नही होता है । इसलिये पात्रमें आहार दान अवश्य ही देना चाहिये । जो गृहस्थ पात्रदान नही करते वे अपने पेट भरनेमें मस्त बिना पूछके पशु है ॥ २०२-२०५ ॥

अर्थ—श्रावक-श्राविका भी जघन्य पात्र हैं उनको भी आहार देना चाहिये । जो शक्तिशाली होकर पात्रमे आहार दान नही देते हैं वे मनुष्य जन्मको व्यर्थ खो देते हैं । जिन मनुष्योका धन पात्रदानमें, भगवान्को पूजामे और जिनायतनोकी रक्षा करनेमें व्यय नही होता है, उस धनका प्राप्त करना निःफल हे ॥२०६॥

अर्थ—प्रातःकाल पञ्चामृत रसोसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाका अभिषेक और पश्चात् अष्ट-द्रव्यसे पूजन करना चाहिये । मध्याह्न समयमें पात्रको आहार दान करना चाहिये । जो इस प्रकार पूजा और दान नही करता है, वह अधोगतिको जानेवाला है । पूजा और दान ये दोनो कर्म सुखकी प्राप्तिके लिये गृहस्थोंके मुख्य कर्म हैं ॥ २०७-२०९ ॥

यत्र वर्षे गृहस्थास्ते नित्य कुर्वन्ति पट्क्रिया । नित्याहस्य शात्यर्थं पुण्यवृन्दस्य प्राप्तये ॥ २१० ॥
मूलधर्मौ गृहस्थाना पूजादानौ जिनागमे । कथितौ वीतरागेण सर्वसम्पत्तिकारकौ ॥ २११ ॥
ईदृश शोभन क्षेत्र नानर्द्धिमण्डित च त । स व्रती व्रतपुण्येन लभत्येव नरेश्वर ॥ २१२ ॥
तीर्थनाथकुले तत्र चक्रनाथकुले तथा । विष्णोर्नानर्द्धिसयुक्ते सुरवृन्दनिषेविते ॥ २१३ ॥
तेषा मद्रूपशोभाढ्ये रत्नोग्त्ते च गुणोज्ज्वले । सम्यक्त्वेज्याव्रतोपेते स्वर्गोद्भवच्युतोपमे ॥ २१४ ॥
ईदृशे भूप तद्गर्भे अस्मान्मृत्वा च सो व्रती स्थास्यत्येव शुभे घस्रे सुमुहूर्ते शुभोदयात् ॥ २१५ ॥
सा वामा त च गर्भस्थ धरिष्यत्यपि पुण्यभा । नो भजिष्यति तत् दुःख गर्भस्यैव प्रभावतः ॥ २१६ ॥
दानाभिषेकपूजा च जीवानामभय तथा । इत्यादि शुभकर्म च तदान्हो वै करिष्यति ॥ २१७ ॥
सुखेन स्वप्रमासाते सुतरत्न मनोहरम् । जनिष्यत्येव सा नारो शुभयोगे शुभे दिने ॥ २१८ ॥
तदैव जन्मकाले च तस्य तात प्रमोदत । करिष्यत्येव आतोद्य जन्मोत्सव च मगलै ॥ २१९ ॥
निर्धनेभ्य स्वस्वर्णं च वस्त्राभूषणमेव च । दास्यति चाभय दान कारागारस्थदेहिनाम् ॥ २२० ॥
जिनेन्द्राणा निशानेषु पचामृतरसैर्वरै । अभिषेक जिनाना च करिष्यति वाचना ॥ २२१ ॥

अर्थ—जिस विदेह क्षेत्रमें गृहस्थ नित्य ही आवश्यक षट्क्रियाओंका पालन करते हैं। जिससे पापोंकी शांति होती है और पुण्यकी वृद्धि होती है। गृहस्थोंके दो धर्म मुख्य हैं। क्योंकि इनमें हो अभ्यन्तर षट्कर्मोंका समावेश हो जाता है। दान-पूजा ही ये दो मुख्य हे। अरहंत भगवान्‌ने इन दोनोंको हो धर्मका मूल बतलाया है। इस प्रकार समस्त क्रियाओंको पालनेवाले गृहस्थ विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं। जहाँपर अनेक ऋद्धियाँ सम्पत्ति प्राप्त होती है ॥ २१०-२११॥

अर्थ—विदेह क्षेत्रमें व्रती पुरुष तीर्थंकर कुलमें, चक्रवर्ती कुलमें उत्पन्न होते हैं। नारायण होते हैं। जिनके द्वारा अनेक कुलमें उत्पन्न होते हैं। वे पुण्यपुरुष उत्तम स्त्रियोंके गर्भमें शुभ मुहूर्तमें उत्पन्न होते हैं। [illegible] पीड़ा नहीं होती है। गर्भमें भी वे सुखसे रहते हैं ॥ २१२-२१५ ॥

[illegible]—गर्भमें प्राप्त होनेके समय माता जीवोंको अभयदान करायेंगी। नवमास सुखसे व्यतीत होनेपर [illegible] पुत्र [illegible] उत्पन्न करेगी। पुत्रके जन्मकालमें पिता याचक, दीन और दुःखी मनुष्योंको धन, वस्त्र, भूषण [illegible] सुखी बनावेंगे। कारागृहमें बन्दिजनोंको [illegible] जीवोंको संतोष देंगे। और पुत्रजन्म-[illegible] महोत्सवके साथ करा-

पश्चात्पुत्रमुखाब्ज च दृष्ट्वा स मोदमाप्स्यति । सोपि घस्र प्रति वालो वर्द्धिष्यत्येव सुन्दर ॥ २२२ ॥
कौमारकालमुल्लङ्घ्य पय पानै. सुभोजनै । क्रमेण यौवन रूप लप्स्यते च सुशोभनम् ॥ २२३ ॥
दीप्त्या तर्जितमार्तंड· क्रात्या निर्जितदीधिति· । गभीरेण महत्वेन निर्जितः सरितापति ॥ २२४ ॥
सिक्थेन निर्जितः श्रीद सारेण निर्जितो हरि. । रूपेण शवरारिश्च पुण्यनाम्ना विभूपित. ॥ २२५ ॥
इत्यादिगुणवार च नेष्यत्येव शुभोदयात् । यौवने मनदोद्दीप्ते विद्धि व्रतफल इदम् ॥ २२६ ॥
तत्पिता यौवनाढ्य च दृष्ट्वा सूनु गुणोज्ज्वल । गुणेन स्वात्मतुल्य या मुदप्स्यति भूमिराट् ॥ २२७ ॥
तदात्मजविवाहार्थं याचयित्वा नृपागजाः । महत्कुलोद्भवाः शुद्धा रूपात्तर्जितअप्सराः॥ २२८ ॥
ईदृशा. सुदराकारा. सुस्वनाश प्रदापते । सूनवे यौवनाढ्याय नेत्रानदकराय वै ॥ २२९ ॥
नेष्यति वाद्यघोषोघान् दानोत्करसुमगलान् । कुर्वन् वै मगलाप्त्यर्थं सज्जनानददायकान् ॥ १३० ॥
भोक्ष्यति सोपि पश्चाद्धि शर्मणा सतति सदा । धर्मकार्यं पुरस्कृत्य व्रतफलेन भो नृप ॥ २३१ ॥
तत्पिता स्वस्य पट्टे हि त पुत्र विधिपूर्वक । स्थापयिष्यति स्वप्रजापालनार्थं सुरोपम ॥ २३२ ॥

येंगे । पश्चात् बालक (पुण्यात्मा—क्योंकि उस जीवके कर्मदहन व्रत किया है ।) के पुण्य मुखका दर्शन कर पिता हर्षित होगा । बालक क्रमसे कुमार अवस्थाको प्राप्त होगा । समस्त प्रकारके सुखोंको प्राप्त होकर अपने तेजसे सूर्यको, क्रांतिसे चंद्रको, गंभीरतासे समुद्रको, लक्ष्मीसे कुबेरको, शक्तिसे सिंहको, रूपसे कामदेवको जीतनेवाला अनेक उत्तम गुणोंसे भूषित वह पुण्यात्मा बालक होगा । यह सब कर्मदहन व्रतका ही माहात्म्य है ॥२१६-२२६॥

अर्थ—उसका पिता बालकको यौवन अवस्थामें देखकर अपनी जातिकी उत्तम गुणवाली अपने समान ऋद्धिकी धारक राजाओकी कन्याओंकी याचना कर विधिपूर्वक विवाह (वाग्दान) स्वीकार करेगा । पश्चात् कुलाम्नाय और धर्मशास्त्रकी विधिसे विवाह करेगा । वह बालक सधर्मिणीको प्राप्त कर पूर्व व्रतका पुण्यफल भोगेगा । पिता-पुत्रको गृहका समस्त भार समर्पण कर भगवती दीक्षा धारण कर केवलज्ञानको प्राप्त कर मोक्षमें अव्यय सुखको प्राप्त करेगा । वह राजकुमार राजा होकर प्रजाका न्यायमार्गसे पालन करेगा । वह शुद्ध

१ इस प्रकरणमे विवाह विधि विदेहक्षेत्रमे भी आगमको मर्यादासे बतलाई हे। यह नही हे कि कन्या स्वय वरण करे या बालक अपने आप ही अपनी इच्छानुसार जिस-तिस (जाति कुजाति, योग्य-अयोग्य, नीच-ऊँच आदि सबको) को स्वीकार कर लेवें । ऐसा करना मर्यादाके बाहर हे ।

विवाह धर्मका अग हे उसकी पूर्ति गुरुजन ही योग्य रीतिसे सम्पादन करते है । इसमे बालक-बालिकाओको स्वतत्रता नही है

पुरो वाह्यवने गत्वा तत्र सोपि शिवाप्तये । गृहीत्वा सयम शुद्ध गुरोः पार्श्वे मुनेर्मतम् ॥ २३३ ॥
हत्वा सकलकर्मारीन् ध्यानाशुगेन सः मुनिः । सप्राप्य केवलज्ञान तदैवेज्या सुरैः कृता ॥ २३४ ॥
पश्चात् सबोध्य भव्यौघान् यास्यति चाव्यये पदे । सुखासुखविनिःक्रान्ते वृषान्तिक दुर्लभ नृणा ॥ २३५ ॥
सोपि तानपदे स्थित्वा न्यायमार्गेण धर्मधो । पालयन् स्वप्रजा सर्वा स्थास्यत्येव निरंकुशः ॥ २३६ ॥
शुद्धदृग्धारको वाग्मी दाता भोक्ता च सव्रतः । त्रिवर्गपालकः सैव पूर्वव्रतफलोदयात् ॥ २३७ ॥
करिष्यति जिनेन्द्रस्य स्नानेज्या शुद्धभावतः । पात्राय विधिना दान दास्यति वासर प्रति ॥ २३८ ॥
नित्यपापविघाताय निर्णयाय चिदात्मनः । सिद्धाताना शिवाप्त्यर्थं श्रवण मुनिवक्त्रतः ॥ २३९ ॥
धर्मकार्यं नृपः सोपि पूर्वं कृत्वाघहानये । अन्यत् कार्यं गृहोत्पन्न पश्चादेव करिष्यति ॥ २४० ॥
स्थिनेषु जिनधर्म च वात्सल्य धर्मसिद्धये । करिष्यत्येव भूपेन्द्रो नृपु न्यायादिभिः सदा ॥ २४१ ॥
जिनधर्मस्थितेषु ये यो नानेव प्रकुर्वते । वात्सल्य स मनः शास्ता जिनधर्मपरान्मुखः ॥ २४२ ॥

सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला त्रिवर्गको परस्पर अविरोधपूर्वक पालन करता हुआ, व्रतके पुण्य फलसे सर्वोत्तम सुखोंको, शांति और निराकुलताके साथ निर्विघ्न भोगेगा ॥२२७-२३२ ॥

अर्थ—वह पुण्यात्मा भव्यजीव विदेहमें भगवान्‌की पूजा, भक्ति, स्तवन, गुणस्मरण आदिके द्वारा धर्मके माहात्म्यको बढायेगा । अपने कर्तव्यको राजा होकर भी परम भक्तिभावनासे करेगा । नित्य सुपात्रमें दान देगा, जिनागमोका पठन-पाठन करेगा और गुरुके मुखसे शास्त्रोका श्रवण करेगा । शास्त्र गुरुके मुखसे ही श्रवण करना चाहिये । वह राजा सबसे प्रथम त्रिवर्गसम्बन्धी अपने धार्मिक कृत्योंको कर लेगा । पीछेसे राज्यकार्य और सब कार्य करेगा । यही धर्मकी महिमा है ।

भो बुधा सर्वदा श्रीमज्जिनधर्मस्थितेषु वै । कुर्वीध्वं सर्वजीवेषु वात्सल्य जेमनादिभि ॥ २४३ ॥
वात्सल्यात् बधयत्येव तीर्थङ्करस्य कायवान् । गोत्र शिवप्रद नून सर्वाधिपनमस्कृतम् ॥ २४४ ॥
सभामध्ये वरे सिंहपीठे स्थित्वा च स नृप । स्वस्याज्ञापालकान् भूपान् दास्यत्येव मदा खलु ॥ २४५ ॥
धर्मोपदेश भो भूपा· शृणुध्व कथयाम्यह । यस्येव श्रवणात्सर्वे यात्येव नाशता खलु ॥ २४६ ॥

धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थोमेसे सबसे प्रथम धर्म पुरुषार्थको निराकुल भावोसे निर्विघ्न करना चाहिये । पीछेसे काम और अर्थ पुरुषार्थको साध्य करना चाहिये । तो ही नोतिपूर्वक कर्तव्य पूर्ण होते है । जो मनुष्य अर्थ और काम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये धर्म पुरुषार्थको छोड़ देते हैं वे नीतिका परित्याग कर देते हैं ।

वह राजा साधर्मी भाइयोंको भोजन पानके द्वारा वात्सल्य अंगकी वृद्धि कर जिनधर्मके प्रतिपालक साधर्मी भाइयोंका भोजन-पान आदिके द्वारा सत्कार करेगा । जो भाई अपनी शक्तिको छिपाकर साधर्मी भाइयोंका आदर, सत्कार नहीं करता है, वह जिनधर्मके तत्त्वोंकी जानकारीसे बहिर्भूत है ।

जिनधर्मका एक मुख्य अंग यह भी है कि साधर्मी भाइयोंका भोजन पान आदि सब प्रकारसे आदर सत्कार करें । जो इस प्रकारका विशुद्ध वात्सल्य अंगका पालन करता है, वह निश्चयसे तीर्थङ्कर गोत्रका बंध करता है, सर्व राजाओंसे नमस्कृत होता है । उसके पुण्यकी महिमा अनन्त है ॥ २३३-२४४ ॥

अर्थ—वह राजा सभामें दिव्य सिंहासनपर विराजमान होकर अपनी आज्ञाके प्रतिपालक राजाओंको धर्मोपदेश करेगा । हे राजन् ! गृहस्थोका कर्तव्य और धर्माचरणका स्वरूप मैं जिनागमसे कहता हूँ सो उसको सावधान मनसे सुनिये । भगवान् केवलज्ञानी सकल चराचरको प्रत्यक्ष जाननेवाले अरहंत प्रभुने बतलाया है, जो बतलाया उसे मैं कहता हूँ तुम सुनो, जिसके सुननेसे सर्व पाप नाश हो जाते है ॥२४५-२४६॥

सुधारक ही जघन्य पात्रदानकी महिमाको नही जानते है । परन्तु आचार्योने मेला प्रतिष्ठादिमे आहारदान देनेसे तीर्थंकर गोत्रका पुण्य बतलाया हे ।

गृहस्थाना न सिद्धाते जिनेन्द्रैः केवलेक्षणैः । प्रथम शुद्धसम्यक्त्वो मतो हि नात्र सशयः ॥ २४७ ॥
सर्वदोषविनिर्मुक्तो देवो जिनेन्द्र निश्चयात् । सर्वद्वन्द्वविहीनो यः गुरु सैव जिनागमे ॥ २४८ ॥
जिनाननसमुद्भूता वाणी ससारतापहा । सा स्यात् गणेन्द्रलेखौघैः सदा वद्या च तारका ॥ २४९ ॥
एतेषा यत्र श्रद्धान भवेत्तत्रैव भूमिपा । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य प्राप्तिर्नास्त्यत्र सशयः ॥ २५० ॥
आत्मनो गुणव्यूहस्य निश्चयो यत्र सभवे । तत्रैवोत्पत्तिः भूपाला जायते तस्य निश्चयात् ॥ २५१ ॥
हृदि यस्यैव सर्वेषु भूतेषु स्वात्मतुल्यता । तस्य सजायते भूपाः शुद्धः स कर्मनाशदः ॥ २५२ ॥

अर्थ—उनको कहा कि गृहस्थोको सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनी चाहिये। निर्मल सम्यग्दर्शनके पालन करनेसे गृहस्थोका धर्माचरण सांगोपांग पालन होता है। समस्त प्रकारके दोष रहित परमवीतराग सर्वज्ञ अरहंत प्रभुको देव मानना, समस्त प्रकार परिग्रहसे रहित परम दिगम्बर और रागद्वेषसे विनिर्मुक्त गुरुओंको गुरु मानना, तथा श्री सर्वज्ञ अरहंत भगवान्‌के मुखकमलसे प्रकाशित जिनवाणीको तत्त्वका उपदेश करनेवाली, संसार समुद्रसे तारनेवाली व सदा वंदनीय मानना। इस प्रकार देव, गुरु और जिनवाणीका अविचल श्रद्धान करना। किसी प्रकार भय, आशा और लोभके वशसे भी अन्यथा नही मानना, सो सम्यग्दर्शन है ॥ २४७-२४९ ॥

अर्थ—जिन गृहस्थोंको ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है उनको ही सम्यग्दर्शनरूप शुद्ध धर्मकी प्राप्ति हो जाती है। अन्यके नहीं। सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिके विना धर्मरत्नकी प्राप्ति नहीं होती है ॥ २५० ॥

अर्थ—हे राजन्! अथवा आत्माके समस्त गुणोंका जिस भव्य जीवको दृढ निश्चय हो जाता है वहाँपर ही सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ॥ २५१ ॥

अर्थ—हे राजन्! जिस भव्यजीवके निष्कपट भावोंसे स्वार्थ, इच्छा और किसी प्रयोजनके विना स्वाभाविक आत्म परिणामोंकी विशुद्धिसे समस्त जीवोंमें अपनी आत्माके समान जीवात्माओंका श्रद्धान होता है उसके शुद्ध सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जो समस्त जीवोंमें समता भावको आत्मिक परिणाम द्वारा प्रकट करता है। [illegible] जीवोंका अनित्य परिणमन आदिका श्रद्धान कर अपने स्वरूपके समान [illegible] और [illegible] पापी और पुण्यात्मा जीवोंको मानता है उसके सम्यग्दर्शन प्रकट होता है ॥ २५२ ॥

सम्यक्त्वस्य हि चोत्पत्तिर्दशधा कथिता जिनैः । सिद्धांते दोषनिर्मुक्ते सर्वपापविवर्जिते ॥ २५३ ॥
इत्याद्या कथिता भेदा ये ते हि कर्मभजकाः । व्यवहारनयस्यैव लक्षणा नो जिनागमे ॥ २५४ ॥
ज्ञेया ह्येते भेदा, भो निश्चयस्यैव चागमात् । वच्म्यहं लक्षणान् तस्य व्यवहारनयस्य वै ॥ २५५ ॥
अष्टौ मदा भया- सप्तप्रमा नानार्थनाशकाः । शल्यानि व्यसनान्येव दोषाष्टौ मासजा सदा ॥ २५६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके आज्ञा मार्गसमुद्भवादि दश भेद समस्त प्रकारके दोष रहित जिनागममें बतलाये हैं। सम्यग्दर्शनके मुख्य दो भेद हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शन। आज्ञादिक दश भेद भी सम्यग्दर्शनके बतलाये हैं ॥ २५३ ॥

अर्थ—उपर्युक्त भेद-प्रभेद सब निश्चय सम्यग्दर्शनके हैं और वे निश्चयनयके अवलंबनसे बतलाये हैं। अब व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शनके लक्षण बतलाते हैं।

यद्यपि जीवोंको निश्चय सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाना ही मोक्षमार्गमे कार्यकारी है। जिन जीवोंके निश्चय सम्यग्दर्शन है उसके व्यवहार सम्यग्दर्शन है ही। परंतु व्यवहार सम्यग्दर्शनकी प्रतीति बिना बाह्यमे वात्सल्य, उपगूहन, स्थितिकरण आदि अंगोंका पालन नहीं हो सकता। इसलिये जिसके देव, शास्त्र, गुरुका दृढ़ श्रद्धान है और जिसके बाह्य आचरण जिनागमकी मर्यादाके अनुकूल है जिसके विचार जिनागमसे विरुद्ध नहीं है और जो जिनागमके अनुकूल तर्कको रखकर पदार्थोंका स्वरूप जानता है उसी भव्य जीवके निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। ऐसे भव्य जीव जिनागमविरुद्ध एक अक्षर भी सुननेको राजी नहीं होते हैं। और न जिनागमके विरुद्ध अपने ज्ञानवैभवका उपयोग करते है।

भव्यको जिनागममे न शंका है न जिनागमकी परीक्षा अपने मनोनीत भावोंसे कुत्सित तर्कके द्वारा वह करता है किन्तु पदार्थोंका निर्णय आगमको सत्य और प्रामाणिक समझ कर शुद्ध बुद्धिसे करता है ॥२५४-२५५॥

अर्थ—आठ मद (ज्ञानमद[१], पूज्यपनेका मद[२], कुलका मद[३], जातिका मद[४], बलका मद[५], ऐश्वर्यका मद[६], तपका[७] और शरीरकी सुन्दरताका मद[८]) का त्याग करना। अनेक प्रयोजनोंके नाशक सात भयोंका परित्याग करना।

सर्वदोषप्रदा हेया दोषहीनाष्ट नामतः । मूलभूता गृहस्थाना यतो मूलगुणा मताः ॥ २५७ ॥
सवेगाद्या गुणा ह्यष्टी अतीचाराश्च पच वै । त्रयो मूढाः सदा हेयाः कषाया वेदना मताः ॥ २५८ ॥
पचदग प्रमादाश्चानर्थदडाश्च पच वै । द्वादशाश्चाविरतय भवसततिदायकाः ॥ २५९ ॥
रागद्वेषादिमोहाश्च तथा निंदा परस्य च । मिथ्यात्वरक्तसेवा च तद्धनस्यैव भक्षणः ॥ २५९ ॥
भयेन स्नेहयोगेन विमार्गस्थाय सन्तति- । आशया वा तथा तेषा सगम दोषवर्द्धकः ॥ २६१ ॥
इमे दोषा सदा त्याज्याः सम्यग्दृग्धारिभिः खलु । व्यवहारनयस्यैव पालकैः तद्धिः प्राप्तये ॥ २६२ ॥

तीन प्रकारकी शल्य–(माया, मिथ्या, निदान) का परित्याग करना । सात व्यसनोका परित्याग करना (जुआ खेलना, मांसका भक्षण, मदिरापान, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना ये सात व्यसन हैं । इनका सेवन करनेसे सम्यग्दर्शन नष्ट होता है ।) और आठवाँ मांसके दोषोका त्याग करना ॥ २५६ ॥

अर्थ—इन समस्त दोषोको छोड देनेसे सम्यग्दर्शनका निर्मल प्रकारसे पालन होता है । सम्यग्दर्शनकी निवृत्तिके लिये पच्चीस दोषोका परित्याग करना चाहिये । क्योकि ये मूलगुण गृहस्थोके मूलभूत हैं ।

मद्य, मांस, मधु और पांच उदबर फलोका परित्याग करना सो श्रावकके आठ मूल गुण हैं । इन मूलगुणोका पालन नहीं करनेसे सम्यक्त्वमे घात होता है ॥ २५७ ॥

अर्थ—संवेगादि गुण, निःशंकितादि आठ गुण उपादेय हैं और सम्यक्त्वके शंकादि पाँच अतीचार तीन मूढता सदा त्यागने योग्य हैं। संवेग, अनुकंपा, प्रशम आदि गुणोका पालन करनेसे भी सम्यग्दर्शनकी व्यक्तता होती है । तीन मूढता, छह अनायतन, कषाय, वेदना, प्रमाद, अनर्थदंड, अविरति, रागद्वेषमोहका परित्याग करना चाहिये तथा [illegible] । दूसरोकी निंदा करना छोड़ देना चाहिये । मिथ्यात्वमार्ग तथा मिथ्यात्वके सेवन करनेवालोकी [illegible] त्याग करना भी उचित है । इस प्रकार दोषोका परित्याग कर देनेसे अतिशय [illegible] होता है ।

भय, [illegible] और आशासे कुमार्गका सेवन नहीं करना चाहिये । तथा कुमार्ग सेवन करनेवालोकी कभी [illegible] चाहिये । मिथ्यादृष्टि सेवन करनेसे आत्माका हित होता ऐसा नहीं मानना चाहिये ।

आगमे जिननाथेन स मतो व्यवहारतः । एतेषा सद्गुणाना च पालको यो न सशयः ॥ २६३ ॥
अस्यापि भो नृप भेदा· कथिताश्च जिनेश्वरै । शृणुथ ह्येकचित्तेन तान् भेदान् कथयाम्यह ॥ २६४ ॥
उक्तदोषान् त्यजेत् योवै स लभेत् व्यवहारतः। सम्यक्तोत्कृष्टसपत्ति तूर्यजन्मनि वै शिवम् ॥ २६५ ॥
अस्यैव पालको मर्त्यः चाप्नोति निश्चयाश्च स· । भवे च दशमे चापि द्वादशे वा त्रयोदशे ॥ २६६ ॥
सप्तैव व्यसनान्येव मदाष्टौ वा गुणा वराः । एतेषा त्यजनेनैव मध्यम· सोत्र कथ्यते ॥ २६७ ॥
अष्टो मूलगुणान् शुद्धान् पालयति तदाप्तये । मुचति व्यसनान्येव सप्तैव यो नरोत्तमः ॥ २६८ ॥
लभते सैव भो भव्याः कर्मसंताननाशकम् । जघन्याख्य च सम्यक्त्व ह्यनुक्रमात् शिवास्पदं ॥ २६९ ॥

मिथ्यामार्ग गामी पुरुषोको प्रणाम, विनय नहीं करना चाहिये ।

व्यवहार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले भव्य प्राणी उपर्युक्त विधिसे अपने कर्तव्योंकी पूर्ति करते हैं। जिनेन्द्र भगवान्के परमागममें इसको व्यवहार सम्यग्दर्शन माना है ॥ २५८-२६३ ॥

अर्थ—हे राजन्! व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदोंका और भी विशेष खुलासा कहता हूँ सो सुनो ॥२६४॥

अर्थ—जो भव्य उपर्युक्त दोषोका परित्याग करता है उसके व्यवहार नयसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है। परन्तु उस व्यवहार सम्यग्दर्शनसे चौथे ही भवमे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है। अथवा जैसे-जैसे व्यवहार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती जाती है और जैसे-जैसे उपर्युक्त दोषोंका परित्याग बढ़ता जाता है वैसे ही भवावलिका अन्त होता जाता है। अधिक से अधिक दश बारह तेरहवें भवमें वह जीव मोक्षपदको प्राप्त कर लेता है ॥ २६५-२६६ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेदसे मानी है। उत्कृष्ट विशुद्धिका स्वरूप ऊपर बतला दिया है।

मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्यजीव पच्चीस दोष रहित, आठ मूलगुण सहित, सप्त व्यसनोंका त्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके मध्यम सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है।

जघन्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि—जो भव्य जीव आठ मूल गुणोके साथ सप्त व्यसनोका परित्याग कर सम्यग्दर्शनका पालन करता है उसके जघन्य विशुद्धि होती है। इस प्रकार जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनका पालन

सम्यक्त्वेन विना सर्वे दानेज्याव्रतसत्क्रिया. । निःफलाः जिननाथेन कथिताः ह्यागमे बुधाः ॥ २७० ॥
सम्यक्त्वेन समं वासो श्वभ्रेऽपि भो बुधोत्तमाः । वरं मतं बुधैः किंच वक्ष्येह तस्य कारणं ॥ २७१ ॥
शुद्धदृग्धारका तेहि अत्रागत्यैव तत्रत । तीर्थंकरा. भवत्येव कल्याणैः पंचभिर्युता ॥ २७२ ॥
निःशिपाखिपसमेव्या. ह्यनंतसारमंडिता. । त्रिज्ञानान्वितसद्गात्रा अनोपमविराजिता. ॥ २७३ ॥
सदने नो वरं नाकवासोपि संपदायुत. । अनेकमहिमोपेतः सदा शर्मेण सभूत. ॥ २७४ ॥
तेऽमरा नश्वीना नस्मात् स्थावरादिकुयोनिषु । च्युत्वा भ्रमत्यहो नाकात् कालानंतप्रभ खलु ॥ २७५ ॥
निर्मलतार्थि सम्येन चित्तशुद्धिना । जायते तस्य प्राप्तिश्च तत्रैव सभवेत् बुधा ॥ २७६ ॥

करता है उसको मोक्षपद शीघ्र ही प्राप्त होता है । परंतु उत्कृष्ट सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिसे तद्भवमें ही मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है ॥ २६७-२६९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन विना दान, पूजा आदि समस्त क्रियाएँ व्यर्थ हैं । योग्य फलको प्रदान नहीं कर सकतीं । ऐसा जिनागममें परम भट्टारक अर्हत देवने कहा है ॥ २७० ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके सहित नरकमें रहना भी अच्छा है परन्तु सम्यग्दर्शनके विना स्वर्गमें वास भी अति- [illegible] । इसका कारण यह है सो सुनिये ॥ २७१

अर्थ—नरकसे निकलकर शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव पंच कल्याणकी महिमाको धारण करनेवाले तीर्थंकर [illegible] । इसलिये संसारका नाश विना सम्यग्दर्शनके नहीं होता है ॥ २७२ ॥

[illegible] पूजित अनंत गुणोसे विभूषित और जन्मसे तीन ज्ञानकर मंडित [illegible] । यह सम्यग्दर्शनका ही माहात्म्य है ॥ २७३ ॥

[illegible] विविध ऋद्धियोसे सुसंपन्न, अनेक महिमा सहित और सर्व प्रकारके सुखोंके [illegible] नहीं है । क्योंकि आयुके पूर्ण होनेपर यह जीव मिथ्यात्व [illegible] कारण [illegible] होता है । इसलिये सम्यग्दर्शनके विना जीवको [illegible] ॥ २७४-२७५ ॥

[illegible] परिणामोंकी विशुद्धि हो जाये तो उसी [illegible] ॥ २७६ ॥

मतिहीनाश्च ये मर्त्या शुद्धश्रद्धाप्रपालका । तेप्याशु प्राप्य सबोध गताश्च परम पदं ॥ २७७ ॥
तिर्यंचयोनिपु चैव कुदेवेपु कुभूमिपु । कुमर्त्येषु तथा नैवोत्पद्यते तस्य धारकः ॥ २७८ ॥
अधो भवति नो कुब्ज- क्लीवो दारिद्रमडित । विपुत्र- शोकसयुक्तो भोगोपभोगवर्जित. ॥ २७९ ॥
परसेवाकर क्रूरो निर्दय- शीलवर्जित- । दानेज्याव्रतसहीन परवचनचातुर ॥ २८० ॥
जानीथ भूमिपा भो वै सम्यक्त्वस्यैव शर्मदा । महिमा च इमा वंद्या गृहस्थैर्वा मुनीश्वरैः ॥ २८१ ॥
कुर्वीध्व धारण चित्ते आदौ सद्व्रतसिद्धये । सम्यक्त्वस्यैव शुद्धस्य विधिदावाग्नितोयद ॥ २८२ ॥
नित्याहस्यैव नाशार्थं षट्क्रिया वासरं प्रति । कुरुध्व शिवशर्माय अभिषेकादिनामतः ॥ २८३ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव यदि कुछ भी पढ़ा लिखा न होवे तो भी वह देव, शास्त्र और गुरुकी दृढ़ श्रद्धासे शीघ्र ही बोधको प्राप्त होकर परमपदको प्राप्त होता है ॥ २७७ ॥

भावार्थ—पढ़े लिखे मनुष्योंको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती हो ऐसा नहीं है । किन्तु जिन भव्य जीवोंके आचरण शुद्ध है, चित्तवृत्ति विशुद्ध है, जिनके परिणाम विशुद्ध है उनको ही सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होती है ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव तिर्यंच योनिमें, कुदेव कुभूमिमें, कुत्सित मनुष्य पर्यायमे उत्पन्न नहीं होते है । तथा सम्यग्दृष्टी जीव अंधे, कुब्जे, नपुंसक, दरिद्री, पुत्रविहीन, शोकसहित, भोगोपभोग रहित, दूसरोंकी सेवा करनेवाले, क्रूर, निर्दय, शीलरहित, दान, पूजा, व्रतविहीन, दूसरे जीवोंको ठगनेमे चतुर और निंद्य नहीं होते है । हे राजन् ! यह सब कुछ महिमा सम्यग्दर्शनकी है । जगत्में जितने सुखके साधन है वे सब सम्यग्दृष्टी जीवको स्वयमेव प्राप्त हो जाते है । यह सम्यक्त्व मुनियों व गृहस्थोंके द्वारा वन्दनीय है, इसकी अपार महिमा है ॥ २७८-२८१ ॥

अर्थ—हे भव्यजीवों ! उत्तम व्रतकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शनको सबसे प्रथम अपने चित्तमें धारण करिये । क्योंकि उससे ही उत्तम व्रतोंकी सिद्धि प्राप्त होगी । शुद्ध सम्यग्दर्शन कर्मरूपी दावाग्निको नाश करनेके लिये मेघके समान है ॥ २८२ ॥

अर्थ—दैनिक होनेवाले समस्त पापोंकी निवृत्तिके लिये षट् क्रियाओको नित-प्रतिदिन करना चाहिये । अभिषेक, पूजन आदि क्रियाओंसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है ॥ २८३ ॥

षट्क्रिया नैव कुर्वंति ये गृहस्था मता न ते । पशुतुल्या बुधैः भूपाश्चागमे पापकार्यतः ॥ २८४ ॥
अतो भो भूमिपा पूर्वं कृत्वा वै धर्मसाधनं । अन्यत् पश्चाद्धि कुर्वीध्व गृहकार्यं सुखाप्तये ॥ २८५ ॥
स्थापनेऽस्य भो भूपा. क्षेत्रेषु सप्तसु सदा । व्ययं कुरुत शर्माप्त्यै माऽन्यत्कार्ये कदाप्यहो ॥ २८६ ॥
गृहस्था धर्मकार्येषु व्ययं कुर्वंति नो हि ये । स्वस्य द्रव्यस्य ते नूनं दैवतो वंचिता खला ॥ २८७ ॥
धर्ममर्थं च कामं च त्रिवर्गं य पुमान् खलु । साधयत्येव स याति क्रमात् शिवपुरे वरे ॥ २८८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो गृहस्थ अपने षट् आवश्यक कर्मोंको (देव पूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप, दान) नित्य नहीं करते हैं वे अपने कर्तव्यसे रहित हैं । मनुष्य वही है जिसने अपने कर्तव्योंकी सिद्धि की है कर्तव्योंकी सिद्धिके बिना मनुष्य पशुके समान है । षट् आवश्यक कर्मोंसे पापोंका नाश होता है । और जिनके केवल पापकी ही निवृत्त है वे पशु ही हैं ॥ २८४ ॥

अर्थ—इसलिए हे नृपतिगण ! सबसे प्रथम अपने धर्म साधनोंको नियम पूर्वक साधन करना चाहिये । पीछे आजीविकादि सबको आरंभ करना चाहिये । जो अपनी षट् आवश्यक क्रियाओंको पालन कर अन्य कार्य करता है वही त्रिवर्गका साधन संपादन करता है ॥ २८५ ॥

अर्थ—हे राजागण हो ! अपना धन सात क्षेत्रोंमें लगाओ । क्योंकि पापकार्यसे उत्पन्न हुआ धन यदि सप्तक्षेत्रोंमें लगाया जाय तो वह धन पुण्योदयका कारण है । अन्य कार्यमें व्यय करनेसे केवल पापका ही कारण है । सात क्षेत्र—जिनबिंब, जिनागम, जिनसंघ, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय, जिनक्षेत्र, जिन आयतन ॥ २८६ ॥

अर्थ—जो गृहस्थ धर्मकार्यमें अपना धन नहीं खर्च करते हैं वे भविष्यके लिये ठगाये जाते हैं । उनको [illegible] और [illegible] है । और न उनको महान् पुण्य संपादन करनेका अवसर ही प्राप्त होता है ॥ २८७ ॥

अर्थ—जो मनुष्य धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थको परस्पर अविरुद्ध भावसे संपादन करता है वही [illegible] मनुष्य [illegible] है । [illegible] पुरुषार्थ या काम पुरुषार्थको [illegible] करनेसे मनुष्योंके कर्तव्य [illegible] । त्रिवर्गमें धर्मपुरुषार्थ मुख्य है । क्योंकि काम और अर्थ पुरुषार्थ [illegible] मोक्षकी [illegible] प्राप्ति नहीं होती है । इसलिये धर्मकी रक्षा कर [illegible] ॥ २८८ ॥

अविराध्य धर्मकार्यं कर्तव्या गृहमेधिभि· । सर्वे कार्या सदाकाले शर्मसततिदायकम् ।। २८९ ।।
दानेन दृश्यते पुण्य· दयाभावेन सत्तप । आत्मध्यानेन मोक्षस्य स्वरूपो नात्र सशयः ।। २९० ।।
मुनये विधिना भूपा मध्यान्हे समये वरे । दत्वा न्याद रसाढ्य च करणीयं ततश्च त ।। २९१ ।।
रोगग्रस्ताय सदेया भेषजा नित्यमेव हि । तस्यातकविनाशार्थं दयाव्रतविशुद्धये ।। २९२ ।।
भयकपितजीवाय दातव्यमभयाभिध । दान सम्यक्त्वशुद्ध्यर्थं सदैव भो नरेश्वराः ।। २९३ ।।
पाठकाय सुग्रथस्य कर्तव्य बहुमोदत । दान सत्ज्ञानप्राप्त्यर्थं अज्ञानध्वातसद्रवि ।। २९४ ।।

क्योंकि,

अर्थ—गृहस्थोंको अपने समस्त कार्य धर्मकी रक्षा करते हुए ही करने चाहिये । धर्मकी हानि कर नहीं करने चाहिये । जो मनुष्य धार्मिक क्रियाओंको भूलकर अन्य कार्य करता है वह सुखको प्राप्त नहीं होता है । सुखकी प्राप्ति धर्मक्रियाओंके करनेसे ही होती है ।। २८९ ।।

अर्थ—दान देनेसे ही पुण्यकी महिमा प्रकट होती है । दयाका कार्य करनेसे ही श्रेष्ठ तपका फल प्राप्त होता है । आत्मध्यानसे ही मोक्षका स्वरूप प्रकट होता है ।। २९० ।।

अर्थ—मुनिगण, आर्यिका आदि पात्रोंको मध्याह्न समय आहारदान देना चाहिये । अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार विधिपूर्वक प्राशुक आहार देना चाहिये । सरस, मनोहर और शुद्ध आहार देवे ।। २९१ ।।

अर्थ—चतुःसंघमे जो रोगसे पीड़ित हो उसको उत्तम प्राशुक शुद्ध औषधिका दान करे । और साधारण जीवोंको भी औषधिका दान देवे । जिससे रोगका नाश हो और दया व्रतकी विशुद्धि हो ।। २९२ ।।

अर्थ—हे राजन् ! भययुक्त जीवोको अभयदान देना चाहिये । जीवोंको मरते हुए बचाना चाहिये । प्राणोंकी रक्षा कर अभयदान देना चाहिये । अन्य शास्त्रोंमें अभयदानका अर्थ यह बतलाया है कि पात्र मुनि, आर्यिकादि उत्तम पात्रको वसतिकादिक देना अभयदान है, अभयदानसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है ।।२९३।।

अर्थ—मुनि, आचार्य, उपाध्याय आदि पात्रको जैनागमके शास्त्रोंका दान करना चाहिये । चतुःसंघको जैन ग्रन्थोंका दान देना चाहिये । जिससे सम्यक् ज्ञानकी वृद्धि होती है और अज्ञानका नाश होता है । जैनागमके ग्रंथोंका ही दान ज्ञानदान कहलाता है । अन्य मतके ग्रन्थोंका दान मिथ्यात्व है ।। २९४ ।।

आर्यिकायै सुवस्त्राणि मदेयानि मुनीशिने । शौचकर्मार्थमेवाहो सदेयौ पिच्छिकुंडिकौ ॥ २९५ ॥
श्रावकाय प्रदेयाश्च वस्त्राभरणसंचया. । श्राविकायै महीपाला देयास्ते च मनोहरा. ॥ २९६ ॥
दयाभावेन सर्वस्मै अन्नपानादि वस्तु च । दातव्य सर्वकालेहि दयाभावप्रसिद्धये ॥ २९७ ॥
इत्याद्या या क्रिया प्रोक्ता· जिननाथेन ह्यागमे । व्यवहारजाश्च ता· सर्वा ज्ञेया. सम्यक्त्वधारिभि· ॥ २९८ ॥
न्यायमार्गेण सर्वाश्च प्रजाः सर्वार्थदायिकाः । पालनीया सदाकाले भवद्भिर्न्यायवेदिभिः ॥ २९९ ॥

अर्थ—इसी प्रकार आर्यिकाके लिये साड़ी आदि वस्त्रोंका दान देना चाहिये । मुनिगणोंके लिये शौचकी शुद्धिके अर्थ एवं जीवरक्षाके लिये पीछी, कमंडलु देना चाहिये ॥ २९५ ॥

अर्थ—हे राजगण ! श्रावकोंको भोजन पान और वस्त्राभरण देना चाहिये । उनको आजीविकाका साधन लगा देना चाहिये । और श्राविकाओंके लिये भी वस्त्राभरण, अन्नपानादिक देना चाहिये ॥ २९६ ॥

अर्थ—दयाभावसे अपात्र कुपात्र और सर्वसाधारण दुःखी, रोगी, अनाथ, पंगु, दरिद्री, पापी, नीच, पशु आदि समस्त जीवोंको यथायोग्य अन्नपानादिक वस्तुओंका दान सदैव देना चाहिये । जिससे दयाभावकी प्रसिद्धि हो ॥ २९७ ॥

अर्थ—श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌ने परमागममें दान, पूजा, विवाह, उपनय संस्कार आदि जितनी क्रियाएँ [illegible] और वे क्रियाएँ व्यवहार रूप दीख रही हैं परन्तु उनको केवल व्यवहार नहीं समझना चाहिये । वे [illegible] क्रियाएँ हैं । धर्मकी अंगभूत हैं । आवश्यक कर्तव्य हैं । व्यवहारमें जितने खानपान कर्तव्य हैं वे [illegible] हैं । उनको व्यवहार धर्म तथा शास्त्रोंमें बतलाई हैं । परन्तु सम्यग्दृष्टी जीवोंको नित्य ही [illegible] क्रिया है ऐसा समझकर भव्य सम्यग्दृष्टी जीवोंको इनसे उपेक्षा नहीं करनी [illegible] व्यवहार क्रिया समझकर उपेक्षा करता है वह मिथ्यादृष्टी है ॥ २९८ ॥

[illegible] न्यायमार्गसे [illegible] पालन करना चाहिये । न्याय और [illegible] ॥ २९९ ॥

इति स्वस्वामिना प्रोक्त धर्माधर्मफल शुभ । सभातस्थाश्च ते भूगा मृदुभावान्विता व्यधु ॥ ३०० ॥
श्रुत्वा ससारतो भीत्वा मत्वेति स्वहृदि तदा । जिनधर्मसम नैवापर वै भुवनत्रये ॥ १ ॥
केचिच्च शुद्धसम्यक्त्व व्यवहारनयान्वित । दयाव्रत च केचिद्धि केचिदणुव्रतान् वरान् ॥ २ ॥
दान दत्वा सुपात्राय करिष्यामि सुभोजन । कृत्वाभिषेकसत्पूजा जिनबिंबस्य निश्चयात् ॥ ३ ॥
जिनपादो सुगधौघै. काश्मीरागुरसयुतै । प्रात सलेपयित्वा वै पश्चाल्लेपो ममास्तु भो ॥ ४ ॥
अरविंदोत्करान् धृत्वा जिनपादाब्जयो. उपरि । जग्घि पश्चात् करिष्यामि सदैव मारहानये ॥ ५ ॥
पादाग जिनबिंबस्य सद्वाज्यवर्तिजै शुभै. । ईदृशे दीपसदोहै. सख्यामि: सहस्रश. सदा ॥ ६ ॥
मोदक व्यजन चैव शाल्यन्नमलिसयुत । इत्यादिनिवसधृत्वा जिनेन्द्रपदसन्निधे ॥ ७ ॥
जेमन शोभन पश्चात् स्वर्णभाजनसस्थित । पश्चादेव करिष्यामि वासर वासर प्रति ॥ ८ ॥
समाभ्यर्च्य करिष्यामि लेप पश्चात् सुखाप्तये । धूप दत्वा सुगधाढ्य शिवसुखप्रदायक ॥ ९ ॥

अर्थ—वह धर्मात्मा राजा अपने अधीन राजाओंको इस प्रकार धर्म-क्रिया नीति और पुण्य पापका फल निरूपण करेगा जिसको सुन कर सभामें विराजे हुए राजा अपने परिणामोंमे अतिशय मृदुता धारण करेंगे। परिणामोंकी सरलतासे उनके पापमय मलिन विचार उनके हृदयसे सर्वथा दूर होंगे। कितने ही राजा तो संसारसे भयभीत होंगे। कितने पापकर्मोंसे भयभीत होंगे। समस्त सभाके सभासद निश्चय करेंगे कि जैन-धर्मके समान सुखकारी तीन लोकमें अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। इसलिये व्यवहार सम्यग्दर्शनके साथ शुद्ध सम्यग्दर्शनको बहुतसे राजा धारण करेंगे। कितने ही राजा अहिंसा व्रत धारण करेंगे। कितने ही राजा पाँच अणुव्रत ग्रहण करेंगे ॥ ३००-१-२ ॥

अर्थ—कितने ही भव्यजीव यह प्रतिज्ञा करेंगे कि हम नित्य प्रति पात्रोंको दान देकर ही भोजन करेंगे। कितने ही भव्य भगवान्‌का प्रति दिवस अभिषेक कर भोजन ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा लेंगे, पूजा करनेकी प्रतिज्ञा लेंगे। कितने भव्यात्मा पुरुष भगवान्‌के पवित्र चरणकमलो पर सुगंधित पदार्थोंका लेप करने और अवशेष सुगंधित द्रव्यका मस्तकमें तिलक लगाने, उत्तम सुगंधित और शुद्ध पुष्पोंको भगवान्‌के पवित्र चरणों पर कामदेवको नाश करनेके लिये चढ़ाने, भगवान्‌की पूजाके समय सुगंधित घीके मनोहर दीप जलाकर

त्रिपुटा चद्रवाला च क्षीरकाया मनोहरा । पटोलिका सुशोभाढ्या नाम्ना वै मातुलिंगकः ॥ १० ॥
कपित्थ कटकीफलः कामागो नेत्रनददः । दाडिमश्चैव हिंतालोलागलीनिबूकस्तथा ॥ ११ ॥
रभाद्या ये फला. सति मनोवकहरा वराः । प्रभो पादाब्जक्षोण्यग्रे धृत्वैतान् मेस्तु स पुन ॥ १२ ॥
अष्टम्या वा चतुर्दश्या पालयिष्यामि सद्व्रत । ब्रह्मचर्याभिधं शुद्ध शिवशर्मप्रदायकम् ॥ १३ ॥
उत्यादीन् मगधाधीश तत्समीपे व्रतोत्करान् । भूमिपाला. सुभावाढ्या गृहिष्यत्येव निश्चयात् ॥ १४ ॥
भूपो हि यत्र धर्मस्य पालको नात्र सशय । तदाज्ञावर्तिनः सर्वे भूपा किं न भवत्यहो ॥ १५ ॥
राज: धर्मस्य: मार्गो हि चलत्येवावनौ नृप । तदृते धर्मलेशोपि जायते नो कदाचन ॥ १६ ॥

मोहनीय कर्मका नाश होनेके लिये आरती करने, भगवान्के पवित्र चरणोंके अग्रभागमे उत्तम नैवेद्य चढ़ाने, स्वर्णके थालोंमे उत्तम नैवेद्य रखकर क्षुधावेदनीयको नाश करनेके लिये चढ़ाने, भगवान्के चरणकमलके समक्ष सुगंधित धूपको अग्निमें प्रक्षेपण करने, इलायची, दाडिम, खिन्नी, जामुन, विजोरा, पटोलिका, कपित्थ, फणस, नीबू, केला, श्रीफल आदि सुन्दर फल चढाकर अपनेको धन्य मानने, अर्घ चढाकर कृतकृत्य मानने आदिकी प्रतिज्ञाएं लेंगे ॥ ३-१२ ॥

[illegible]—अष्टमी और चतुर्दशीके दिवस श्रेष्ठ व्रतको (प्रोषधोपवास) पालन करूँगा । और उस दिवस [illegible] को धारण करूँगा । जिससे शिवसुखकी प्राप्ति हो । हे राजन् श्रेणिक ! इस प्रकार अनेक [illegible] उस भव्योत्तम महाराजके समीप व्रतोंको ग्रहण करेंगे ॥ १३-१४ ॥

[illegible]—हे राजन्! जिस देशमे बड़े-बड़े माडलीक राजा जैनधर्मके पालन करनेवाले हो तो उनकी आज्ञामें [illegible] क्यों नहीं जैनधर्मका पालन करेंगे ? अवश्य ही करेंगे । राजा यदि धर्मका प्रतिपालक [illegible] पालन करनेवाली हो जायगी । प्रजा राजाका अनुकरण करती है । इतना ही नहीं [illegible] पालन करनेवाला हो जाता है ॥ १५ ॥

[illegible]—राजा जिस धर्मको पालन करता है उस देशकी जनता भी उसी धर्मका प्रतिपालक हो जाती है । [illegible] प्रजा उसीको स्वीकार कर लेती है । राजाके बिना धर्मका प्रतिपालन [illegible] है, उनको [illegible] चाहिये । [illegible] प्रचारमें आता है, [illegible] ॥ १६ ॥

तत्र क्षेत्रे प्रजा. सर्वा पालयत्येव त्रिप्रमा । जिनधर्मं जिनेन्द्रोक्तं दयाजलधिसभृतम् ॥ १७ ॥
व्रतपाकात् समापन्वान् भोगोपभोगसत्सुखान् । भोक्ष्यत्येव सदा सोपि तत्र पचेन्द्रियोद्भवान् ॥ १८ ॥
अस्मात्कि दुर्लभ लोके राजसौख्य नराधिप । सुलभा धर्मिणा सर्वा इन्द्रभूत्यादिसपदाः ॥ १९ ॥
सप्राप्य पुत्रपौत्रादीन् स महीप शुभोदयात् । स्थास्यति भावितीर्थेश स्वराज्ये भूपवदिते ॥ २० ॥
स्वपुरे पत्तने द्रोणे महीध्रे वाहने तथा । द्वीपवत्यास्तटे चैव याद.पतेश्च सत्तटे ॥ २१ ॥
आरामे विपिने चापि ग्रामे खेटे मटवके । वृक्षादिवाटिकाया च कर्वटे कदरे तथा ॥ २२ ॥
इत्यादिशोभने स्थाने कारयिष्यति स नरेट् । उदर्वासितानि सौम्यानि रत्नहाटकजानि च ॥ २३ ॥
तन्मध्ये स्थापयिष्यति बिंबानि श्रीजिनेशिना । प्रतिष्ठापाठमर्यादात् चतुर्विधगणै सह ॥ २४ ॥
किमिच्छकाभिधदान सदा दास्यति स नृप. । निर्द्रव्याय शात्यर्थं दरिद्राभिधकर्मणः ॥ २५ ॥

अर्थ—वहाँकी प्रजा (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) श्री जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रकाशित दयारूपी समुद्रसे युक्त जिनधर्मका ही पालन करती है ॥ १७ ॥

अर्थ—उस राजाने व्रतके शुभ फलसे अनेक भोगोपभोग संपदाको प्राप्त किया और मनोहर सुख भोगने लगा ॥ १८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस कर्मदहनव्रतके फलसे राज्यके सुख प्राप्त होते हैं और इन्द्रकी विभूति प्राप्त होती है ॥ १९ ॥

अर्थ—इस प्रकार वह महाराजा व्रतके पुण्यसे पुत्र-पौत्रादिकोंकी शुभ शोभाको प्राप्त होगा । हे भावि तीर्थेश श्रेणिक ! वह महाराजा व्रतके पुण्यसे राज्यसंपदाको चिरकाल पर्यंत निर्विघ्न पालन करेगा ॥ २० ॥

अर्थ—वह राजा अपने नगरमें श्रीजिनेन्द्र भगवान्के रत्नोंके दिव्य मंदिरोंका निर्माण करेगा । इसी प्रकार अन्य शहरोंमें ग्राम, पर्वत, नदीतट, बगीचा, वन, द्रोण, कंदरा, पर्वतकी शिखर आदि स्थानोंमें भी जिनालय निर्माण करावेगा । जो बड़े ही भव्य और सुन्दर होंगे । जिनमें मनोहर जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठा कराकर विराजमान करेगा । प्रतिष्ठाके समय चतुर्विध संघका आमंत्रण करेगा और सबको भोजन-पान आदि सामग्रीके द्वारा संतोष करेगा । सबको उनकी इच्छानुसार दान देगा । सबके मनोरथ पूर्ण करेगा । सबकी भावनाको सफल करेगा । जिससे दरिद्रताका समूल नाश हो जायगा ॥ २१-२५ ॥

धर्मसक्तो गत कालं नैव ज्ञास्यति स क्वचा । धर्मकार्यं पुनः कृत्वा भोक्ष्यत्येव स्वसंपदम् ॥ २६ ॥
एवं स भुञ्जानोऽपि धर्मेणा संततिं नृपः । काललब्ध्या प्रयोगेण वैराग्यं प्रापयिष्यति ॥ २७ ॥
विज्ञनसारं च राज्यभारं रजोपमम् । हेयं पापप्रदं धीरैः नून ज्ञानाब्धिपारगैः ॥ २८ ॥
इन्द्रियोद्भूतशर्मेषु शर्मोऽस्ति किंचन । नास्त्येव बहवो नष्टा नृपाद्याः पशवो यतः ॥ २९ ॥
[illegible] महातंकप्रदायका । अतृप्तिजनका मूढैः [illegible] इमे सुखाः ॥ ३० ॥
[illegible] न [illegible] प्रवर्तन्ति नो [illegible] । इमे वै नैव तस्माद्धि पतंत्येव यतो ततः ॥ ३१ ॥
[illegible] किं [illegible] । येन [illegible] निश्चयः [illegible] ॥ ३२ ॥

अर्थ—वह राजा सब प्रकारके सुखोंका सेवन करता हुआ अपने समयको नहीं जानेगा और धर्म कार्य-को फिर भी सबसे प्रथम कर अपनी पुण्योदयसे प्राप्त संपत्तिको भोगेगा ॥ २६ ॥

अर्थ—इस प्रकार वह राजा धर्मके फलसे समस्त प्रकारके सुखोंको भोगेगा । काललब्धिसे वैराग्यको प्राप्त होगा ।

[illegible] वह जानेगा । राज्य सुखको वह धूलीके समान मानेगा । संसारकी असारताको [illegible] । इन्द्रियोंका सुख [illegible] है । इसमें कुछ भी सुख व सार नहीं है । इन्द्रियोंकी आधीनता-[illegible] । [illegible] शरीर [illegible] घर है वह महान् [illegible] और [illegible] घर है । इसमें [illegible] इन्द्रियोंके सुखसे कोई तृप्त [illegible] इसलिये छोड़ने योग्य है । वह बुद्धि पुरुष इन अतृप्ति-[illegible] सुख [illegible] आधीन नहीं होते हैं । इस प्रकार वह [illegible] । २७-२९ ।

[illegible] सुख [illegible] शरीरमें [illegible] । इसलिये [illegible] ॥

[illegible] सुख [illegible] ॥ ३२ ॥

भुक्तानि मह सुखानि त्वमभुक्ता शर्ममतति । तथापि ते च तृप्तिश्च ह्यल्पमात्रापि नो भवेत् ॥ ३३ ॥
विस्तरेण विचारेण ह्यलमात्मन् शिवाप्तये । अतृप्तिजनकान् शर्मान् त्यजस्व चाधुनाहदान् ॥ ३४ ॥
वृथा ह्येतत्प्रमा वर्षा मे कुबुद्धे गता वरा । विना श्रीवीतरागस्य संयमेन शुभेन च ॥ ३५ ॥
अद्यैव राज्यभार च ह्यारोप्य सुतमूर्द्धनि । करिष्याम्यनघ घोर तप शिवप्रदायकम् ॥ ३६ ॥
इति ध्यात्वा हृति पुत्रमाहूय हरिविष्टरे । स्थापयित्वा प्रजाना च पालनार्थं स्वकीयके ॥ ३७ ॥
अन्यान् पुत्रान् तथा वधून् सतोष्य वृत्तिजनै सह । पृथक् पृयक् नराधीश स नृपो नृपसेवितः ॥ ३८ ॥
नि स्वेभ्य. रत्नधर्मादीन् दत्वा आनंदचेतसा । कृत्वा जिनेन्द्रसत्पूजा चाभिषेकपुरस्सरा ॥ ३९ ॥
सर्वेषु स्वकुटुंबेषु सकार्य ह्यात्मभाववित् । क्षमा च खलु सर्वेषु वस्तुषु निर्ममत्वता ॥ ४० ॥

अर्थ—हे आत्मन् ! संसारमें उत्तमसे उत्तम सुख तूने भोगे तब भी तेरी जरा भी तृप्ति नहीं हुई । अनंतकाल सुख भोगते हुए तुझे अल्प मात्र भी तृप्ति नही हुई ॥ ३३ ॥

अर्थ—अधिक क्या कहें ? और हे आत्मन् ! अधिक क्या समझाया जाय । यदि मोक्षसुखके प्राप्त करनेकी तेरी इच्छा है तो संसार और इन्द्रियोंके तुच्छ सुखोंका परित्याग कर । और इस समय दुःखप्रदायक तुच्छ सांसारिक सुखोंको छोड़ । आज तक मेरा इतना समय इन तुच्छ भोगोंके सुखोंकी लालसामें व्यर्थ ही गया । और अपना यह अमूल्य जीवन संयमके बिना व्यर्थ ही चला गया । इसलिये आज ही मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रके शिरपर यह राज्यभार समर्पण कर मोक्षका अनुपम सुख प्रदान करनेवाला यह मुनिसंयम ग्रहण करूँगा । इस प्रकार मनमें विचार कर और अपने ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर स्वर्णसिंहासनपर विराजमान कर अपनी प्रजाको पालन करनेके लिये पट्टाभिषेक करेगा । और छोटे पुत्रोंको यथाशक्ति संपत्तिका भाग कर प्रदान करेगा । अन्य बंधु जनोंको उनकी योग्यता प्रमाण आदर सत्कार करेगा । अन्य परिवार कुटुम्ब तथा भृत्यवर्गको यथायोग्य संतोषित करेगा । अपने आधीन राजाओंको पुत्रके आधीन कर राज्यभार पुत्रको समर्पण कर देगा ॥३४-३८॥

अर्थ—गरीब और अनाथ जनोंको धन-रत्न आदि द्रव्य देकर संतोषित कर अपने भावोंको सफल करनेके लिये आनंद भावोंसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌की अभिषेकपूर्वक पूजा करेगा । अपने कुटुम्बी जनोंसे क्षमा कराकर और स्वयं सबसे क्षमाकर समस्त वस्तुओंसे निर्ममत्व भावको धारण कर समस्त प्रकारसे निःशल्य होगा ।

स्वय भूत्वा निःशल्यो वै स्वस्मिन् चाज्ञाय सिद्धये। स्वात्मन. शातभावाढ्यः शिविका च मनोहरा ॥ ४१ ॥
समारुह्य तूर्णमेव स्वात्तनृपगणे सह। पुरवाह्यवने चैव यास्यत्येव सुशोभने ॥ ४२ ॥
सीमधरादितीर्थानां सन्निवे वा गणेशिना। अवतीर्य स्वय यानात् शातभावात्तमानसः ॥ ४३ ॥
नत्वा तत्पादपद्माब्ज (?) तारक निर्जरैर्नुतम्। स्वकरौ कुड्मलीकृत्य याचिष्यत्येव सयमम् ॥ ४४ ॥
निरवर दयाधीश शरणागतवत्सल। वीराधिप मुने स्वामिन् भव्यभूतप्रतारक ॥ ४५ ॥
आत्मगुणविचारज्ञ मा देहि शरणागत। दीक्षा जैनेश्वरी पूज्या इन्द्रनागेन्द्रभूमिपै ॥ ४६ ॥
तदा गुरूपदेशेन त्यक्त्वा भूषणगहतीन्। वस्त्रादीन् शोभनान् चैव महामोहप्रदायिकान् ॥ ४७ ॥
निरन्यान सकलान् केशान् गुल्मान् वा मोहभूपतेः। लुचयित्वा तदाकाले पञ्चमुष्टेः महासुधी ॥ ४८ ॥
बाह्यन्यान् निखिलान् द्वद्वान् अत स्थानपि दुस्त्यजान्। मूर्छेश्च तत्समीपेहि त्यक्त्वा भूत्वा मुने सम. ॥ ४९ ॥
गृहीत्वा मोक्षपाप्त्यर्थं अष्टाविंशतिसख्यकान्। मूलभूतान् मुने. सर्वान् मूलगुणान् दयाप्तये ॥ ५० ॥

अपने मनकी शुद्धिको धारण कर राजा भगवती जिनदीक्षाको धारण करनेके लिये विषय और कषायोको जीतनेके लिये अपने भावोंको शान्त करेगा, सर्वोत्तम शिविका (पालखी) में बैठकर अनेक राजाओंके साथ बाह्य उद्यानमें जायगा ॥ ३९-४२ ॥

अर्थ—राजा सीमधर स्वामीके निकट वा गणधर स्वामीके समीप शात भावोंसे पालखीसे उतर कर जायगा ॥ ४३ ॥

अर्थ—देवगणोंसे पूजित ससार समुद्रसे तारक ऐसे गुरुके पवित्र चरण कमलोंको नमस्कार कर और [illegible] (हाथ जोड़कर) भगवती जिनदीक्षाकी याचना करेगा ॥ ४४ ॥

[illegible]—हे [illegible] ! हे दयाधीश ! हे शरणागत वत्सल ! हे मुने ! हे भव्यजीवोंके तारक ! [illegible] ! मुझ [illegible] शरणागतको भगवती जिनदीक्षा प्रदान कीजिये ॥ ४५-४६ ॥

[illegible]—[illegible] ऐसे बहुमूल्य वस्त्राभूषण अपने [illegible] अपने मस्तक, [illegible] और [illegible] परिग्रहको

चतुरशीतिलक्षान् वै उत्तरादिवरान् गुणान् । सर्वशुद्धिप्रदान वह्यान् मुने· देवाधिपै· सदा ॥ ५१ ॥
अष्टादशसहस्राणि शीलभेदानि भूपते । धृत्वा वै ब्रह्मचर्यस्य शुद्धकानि यते खलु ॥ ५२ ॥
इत्थं शुद्ध्या गृहीत्वा वे सयम स मुनिर्वरम् । करिष्यति वने भीमे दुर्धर तपसग्रह ॥ ५३ ॥
तदाधीना नरेन्द्राश्च दृष्ट्वा स्वस्वामिनो मुदा । साहस भो नराधीश भव्यभावाः सहस्रशः ॥ ५४ ॥
ता दीक्षा तेपि साकं च स्वमहिलाभिरादरात् । गृहिष्यन्ति परित्यज्य सपदा स्वर्गसन्निभा ॥ ५५ ॥
आर्यिका आर्यिकासघे करिष्यत्यनघ तप । मुनयस्तेपि साक च तेनैव मुनिना वरा· ॥ ५६ ॥
अतीचारविनिर्मुक्तान् मूलोत्तरगुणान् मुनि । मोक्षार्थं धीरभावाढ्य पालयिष्यति स खलु ॥ ५७ ॥
महासाहसधैर्येण स यति· कर्मपर्वतान् । तपोवज्रेण भो भूप खडयिष्यति दुर्जयान् ॥ ५८ ॥
श्मशाने भूधरे भीमे विजने दुर्गमे वने । कदरे निर्भयो धीरो महोरुहस्य कोटरे ॥ ५९ ॥
श्रवत्याश्च तटे शालमूले वा रविसन्निधे । ध्यान व्युत्सर्गसज्ञ च करिष्यत्येव सिद्धये ॥ ६० ॥

छोड़कर अपने गुरुसे अष्टाविंशति मूलगुणोंको धारण करेंगे । नवीन दीक्षित मुनिराज चौरासी लाख उत्तरगुण और अठारह हजार शीलव्रतको धारण करेंगे ।

इस प्रकार शुद्ध संयमको धारण कर वह राजा भयानक अरण्यमे घोर तपको धारण करेगा ॥४७-५३॥

अर्थ––उस समय अपने स्वामी राजाका इस प्रकारका महान् अद्भुत साहस देखकर हजारों आधीनस्थ राजगण भव्यभावोंसे भगवती जिन दीक्षाकी याचना करेंगे ॥ ५४ ॥

अर्थ––वे राजगण भी अपनी-अपनी रानियोके साथ सर्व सम्पदाका त्याग करके स्वर्ग मोक्षको देनेवाली भगवती जिन दीक्षाको ग्रहण करेंगे । आर्यिकायें आर्यिकाओंके संघमे रहेंगी व निर्दोष तप करेंगी और मुनिगण मुनिसंघमें रहेंगे, रहकर घोर तपश्चरण करेंगे ॥ ५५-५६ ॥

अर्थ––सर्व प्रकारके अतीचारोंसे रहित मूलगुणोंका वह मुनिराज पालन करेगा । धीर, गंभीर भावोंसे और परम साहसके साथ वह मुनिराज तपके द्वारा कर्मरूपी पर्वतोंको खंड कर समूल नाश करेगा । वन, निर्जन स्थान, श्मशान, कदरा, नदीतट आदि उपद्रव रहित एकांत स्थानमें वह घोर तपश्चरण करेगा ॥ ५७-५९॥

अर्थ––और एकांतमे ध्यान धारण करेगा । एक दिवस, दो दिवस, पन्द्रह दिवस, महीना, दो महिना,

मासपात्रं द्विमासात रसमासातमेव च । मध्मोत्कृष्टसुभेदेन हायनात च्युतोपम ॥ ६१ ॥
पंचतुर्पक्षपस्त्राते वा मासे वा रसाभिधे । सर्वदोषविनिष्क्रात निवसहिभजिष्यति ॥ ६२ ॥
उदन्याश्च समुत्पन्ना ता वाधा दुर्धरा नृप । सोक्ष्यते स यतीन्द्रो हि कर्मनाशाय केवलम् ॥ ६३ ॥
ध्यान वाध्ययन नित्य मनोरोधाय सयमी । पालयिष्यति भो भूप कर्मसतानानाशकम् ॥ ६४ ॥
आचार्यान् दशसख्याढ्यान् जिनधर्मप्रकाशकान् । तपद्धर्यादिपु ऋद्धयाढ्यान् महासारसमन्वितान् ॥ ६५ ॥
जिनाज्ञापालकान् वृद्धान् नानातप करान् वरान् । निर्लिपाधिपसदोहेर्वंद्यान् सुजीवतारकान् ॥ ६६ ॥
वदयन् मगधाधीश गृहिष्यत्येव स मुनि । एकाविहारजा वृत्ति धीरवीरै प्रपूजिता ॥ ६७ ॥
तत सोपि मुनीन्द्रो वै सिंहवन्निर्भयोवली । गिरिकदरदुर्गेपु सवसन् ध्यानसिद्धये ॥ ६८ ॥
तरिष्यत्येव भो भूप द्वादशाभिधसत्तप । अतीचारविनिष्क्रात कर्मदावाग्निवर्मुचम् ॥ ६९ ॥
एव न दुर्धर कृत्वा त्रिशुद्धया ह्यनघ तप. । षष्टम च गुणस्थानमुल्लघ्य ध्यानयोगतः ॥ ७० ॥

चार महीना, छह महीना, बारह महीना (वर्ष) आदि समयकी मर्यादासे वह मुनि घोर तपश्चरण कर अपनी आत्मासे समस्त दोषोंका निराकरण करेगा ॥ ६०-६२ ॥

अर्थ—वह मुनि तृषा परीषहको सहन करेगा । अन्य परीषहोंको भी सहन करता हुआ वह मुनि आत्मरसको प्रकट करेगा । कर्मका नाश करनेवाला ऐसा ध्यान, शास्त्रोंका अध्ययन मन और इन्द्रियोंका निरोध करेगा ॥ ६३-६४ ॥

अर्थ— आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष आदि दशभेद धारक आचार्य परमेष्ठी, जिनसूत्रके उपदेशक, उपाध्याय परमेष्ठी अनेक ऋद्धियोंसे विभूषित साधु परमेष्ठीको और जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको पालनेवाले अनेक प्रकारके तपसे [illegible] जीवोंको तारक ऐसे सामान्य मुनीश्वरोंकी वदना करनेके लिये, एव तीर्थ यात्रा आदि करेंगे । [illegible] मुनीश्वर एका विहारी होकर निर्मल चारित्रको निर्भयताके साथ पालन करेगा । [illegible] ध्यान करेगा ॥ ६५-६८ ॥

[illegible] मुनीश्वर [illegible] बारह प्रकारका तप निरतिचार धारण करेगा । इस प्रकार दुर्धर [illegible] मुनीश्वर [illegible] ध्यानके प्रभावसे छट्ठम गुणस्थानको उल्लघन कर सातवें गुणस्थानमें [illegible] ॥ [illegible] ॥

खाभ्रपनाद्विरागै प्रमितान् खलु दुर्जयान् । प्रमादान् तत्र समुत्स्वा चारुह्य सप्तमे पुनः ॥ ७१ ॥
रध्रे च दशमे पश्चात् क्षपकश्रेणिमडितः । द्वादशमे गुणस्थाने हत्वावरणपच वै ॥ ७२ ॥
त्रयोदशम सप्राप्य गुणस्थान च्युतोपम । कैवल्य लप्स्यति बोध पचम मगधाधिप ॥ ७३ ॥
तत्प्रभावात्सुरा सर्वे ह्यागत्य नाथसयुताः । गधकुट्यादिसत्शोभा करिष्यति मनोहरा ॥ ७४ ॥
स्वर्गोद्भवै शुभैर्द्रव्यै पूजयित्वा च त जिन । नत्वा पादारविंद तत् स्थास्यति तस्य सन्निधे ॥ ७५ ॥
स्थित्वा सिंहासने सोपि धर्मामृतरसोत्करैः । तर्प्स्यति चैव भव्यौघान् मिथ्याधतमस हनन् ॥ ७६ ॥
शिवद मुनिमार्गं च गृहिणा नाकदायक । प्रख्यापयन् जनान् सर्वान् बोधयन् बोधनोद्यत. ॥ ७७ ॥

अर्थ—वे मुनिराज दुर्जय ऐसे पन्द्रह प्रकारके प्रमादोका त्याग कर सातवे अप्रमत्तगुणस्थान में जा विराजमान होगे ॥ ७१ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थानसे फिर वे क्षपकश्रेणी मॉडकर क्रमसे आठवें, नौवे, दशवे, बारहवे गुणस्थानमे जा विराजमान होंगे । अन्तमे मोहनीय कर्मका नाश कर तथा बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मोका समूल नाश कर तेरहवें गुणस्थानमें जा विराजमान होंगे ॥ ७२ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर वह मुनीश्वर तेरहवॉ गुणस्थानको प्राप्त कर केवलज्ञानको प्राप्त करेगा ॥७३॥

अर्थ—केवलज्ञानके प्रभावसे समस्त देवगण अपने-अपने परिवार व स्वामियोंके सहित वहॉपर आयेंगे। और मनोहर गधकुटीकी रचनाको करेंगे ॥ ७४ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! देवगण स्वर्गोसे उत्पन्न हुई परम पवित्र दिव्य अष्टविध सामग्रीसे प्रभुकी पूजा करेंगे और प्रभुके पवित्र चरणकमलोंको नमस्कार कर प्रभुके समीप ही बैठेंगे ॥ ७५ ॥

अर्थ—वे प्रभु स्वर्णके दिव्य देवोपनीत सिंहासन पर विराजमान होकर धर्मामृतसे भव्यजीवोको तृप्त करेंगे । और उनका चिरकाल सम्बन्धी मिथ्यान्धकारका नाश करेंगे ॥ ७६ ॥

अर्थ—वे प्रभु मोक्षको प्रदान करनेवाले मुनिमार्ग तथा स्वर्गको प्रदान करनेवाला श्रावक धर्मका निरूपण करेंगे ॥ ७७ ॥

एवं संबोध्य भव्योघान् दिव्येन ध्वनिना स च । अंते योगनिरोधं च कृत्वा मोक्षाप्तये नृप ॥ ७८ ॥
हत्वा ह्यघातिकर्मारीन् गुणस्थाने क्रियोज्झिते । अंत्ये शुक्लासिना तत्र यास्यति चाव्यये पदे ॥ ७९ ॥
अव्ययस्य पदस्यैव किं स्वरूपं कियत्प्रमम् । इति प्रश्नस्य व्याख्यानं शृणुथ भव्यसत्तमाः ॥ ८० ॥
नत्वा सिद्धव्रजान् महासुखप्रदान् संसारविच्छेदकान् । सम्यक्त्वादिगुणालयान् मुनिनुतान् लोकाग्रमूर्ध्नि स्थितान् ॥८१॥
कायाकर्मनिर्वर्जितान् सुरनुतान् संसारपारगतान् । किंचित् बुद्धिलवेन भव्यवचसा तेषां च कुर्वे स्तवं ॥ ८२ ॥
पृथ्व्याद्या नारकाणां च द्वितीया भवनेशिनां । मर्त्यानां तृतीया प्रोक्ता चतुर्थी ज्योतिषां च सा ॥ ८३ ॥
पंचमी नाकदेवानां ग्रैवेयकी च षष्ठमी । नाम्ना सर्वार्थसिद्धिश्च सप्तमी भूमिका वरा ॥ ८४ ॥
अस्योपरि पुनर्गत्वा योजनं द्वादशप्रमं । तिष्ठते ह्यष्टमी पृथ्वी सिद्धवारविमंडिता ॥ ८५ ॥
[illegible] लोकाकाशेष्टनामतः । संत्येव सुंदराकाराः स्थिरा नानार्थसंभृता ॥ ८६ ॥
[illegible] रज्जुसप्तप्रमा मता । पूर्वे च पश्चिमे व्यासश्चैकरज्जुप्रभो बुधैः ॥ ८७ ॥
[illegible] दिव्या मोक्षाभिधा शिला । तन्मध्ये कांतिसंदीप्ता स्याद्दीनकर्मवर्जिता ॥ ८८ ।
[illegible] समाना सिद्धभूमिना । नरक्षेत्रसमाकारा छत्राकारा विभात्यहो ॥ ८९ ॥

अर्थ—इस प्रकार भव्य जीवोंको दिव्यध्वनिके द्वारा संबोधन कर वे प्रभु अन्तमें योगनिरोधकी क्रिया करेंगे ॥ ७८ ॥

[illegible] चौदहवें गुणस्थानमें अघातिया कर्मोंका नाश अन्तिम शुक्लध्यानके द्वारा [illegible] प्राप्त होंगे [illegible] (अव्यय) स्थान है जिसमें किसी भी कारणसे पुनः दुःख उत्पन्न होनेको [illegible] ? इस प्रश्नका उत्तर यह है सो सुनिये ॥ ७९-८० ॥

[illegible] प्रदान करनेवाले, संसारका नाश करनेवाले सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे भूषित, [illegible] विराजमान, शरीर रहित, कर्मरहित संसारसे पारगत ऐसे सिद्ध भगवान्के [illegible] । पहिली पृथ्वी नरकभूमि, दूसरी भवनवासियोंकी, तीसरी मनुष्य लोककी, [illegible] सर्वार्थसिद्धि [illegible] है और इसके ऊपर जाकर [illegible] जो सिद्ध [illegible] सुशोभित [illegible] ॥ ८१-८५ ॥

[illegible] सिद्धशिला [illegible] । इस शिलाके आकारका [illegible] प्रमाण [illegible] है । पूर्व और

स्थूला सा जिननाथेन सप्रोक्ता सर्ववेदिना । योजनैरष्टभि· ख्याता दुर्लभा चान्यलिंगिना ॥ ९० ॥
मध्येष्टयोजनैः स्थूला कृशाते क्रमहानित' । इति सिद्धशिलायाश्च वर्णना कीर्तिता जिनै· ॥ ९१ ॥
तस्या मध्ये च तिष्ठति नित्याष्टगुणभूषिताः । निकुरुवाश्च सिद्धाना तनुवातातमस्तका. ॥ ९२ ॥
केचिदूर्ध्वासनाकारा केचित् पद्मासना वरा. । केचिच्च विविधाकारा ह्यमूर्ता नाशवर्जिता. ॥ ९३ ॥
विभात्येव हि केषाचित् पचेषुपचचापत· । शरीराणा इय सख्या उत्कृष्टेन हि समता ॥ ९४ ॥
लघुसख्याच केषाचित् राद्धाते कथिता जिनै । अन्यैव हस्ततश्चेय केवलाबकधारिभिः ॥ ९५ ॥
बहव· संति सभेदा मध्यसख्याभिरागमे । केषाचिद्दोषनिर्मुक्ते सर्वदोषविवर्जिताः ॥ ९६ ॥
किंचिदूनाश्च ते सिद्धा· प्राक् शरीरादघापहाः । अनतसुखसलीना द्वेषरागादिवर्जिताः ॥ ९७ ॥

पश्चिममें एक रज्जु प्रमाण है । स्वर्णकी दिव्यरूप मोक्षशिला है जो अपनी दीप्तिसे अतिशय चमत्कारिक है । मोक्षशिला अर्ध चद्रमाके समान है । समस्त सिद्ध उसमे एक समान निवास करते है । मनुष्यके क्षेत्रके समान जिसका विस्तार है । छत्राकार है । इस प्रकार महान् विशाल शिला है । आठ योजनकी ऊँची है । जैन लिंगको धारण करनेवालोंको ही वह प्राप्त होती है । अन्य लिंगको धारण करनेवालोंको सर्वथा प्राप्त नहीं होती है । इस प्रकार यह शिला श्री जिनेन्द्र देवने बतलाई है ॥ ८६-९१ ॥

अर्थ—उस सिद्धशिलापर आठ गुणोंसे विभूषित, सिद्ध गणोके समूह तनुवात वलयके अन्तमें विराजमान है । वहाँपर कितने ही सिद्ध प्रभु ऊर्ध्वासन विराजमान है, कितने पद्मासन विराजमान है, कितने ही अन्य आसनोंसे भी विराजमान है । सिद्ध भगवान् शरीर रहित अमूर्तीक है । द्रव्य कर्म, नो कर्म, भाव कर्मसे सर्वथा रहित है । इसलिये सिद्धोंका न तो कोई रूप ही है और न कोई आकार है । अतएव सिद्धोंको नित्य निरंजन निराकार कहते है । सिद्ध अजर है, अमर है, सिद्धोंकी उत्कृष्ट अवगाहना सवा पॉच सौ धनुषकी है और जघन्य अवगाहना ३॥ हाथकी है । मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद है। सिद्ध भगवान् चरम शरीरसे किंचित् न्यून अनंत सुखमे निमग्न राग-द्वेष आदि रहित है ॥ ९२-९७ ॥

समस्त मंगलोंको प्रदान करनेवाले, सर्वोत्कृष्ट, लोकोत्तम, शरणभूत, परमशुद्ध, तेजरूप, चिन्मय सिद्ध भगवान् है ।

निरंजना निराकारा सदाकालेषु संस्थिता. । विश्वमाङ्गल्यकर्तार. सर्वोत्कृष्टा निरालमा. ॥ ९८ ॥
लोकोत्तमा शरण्याश्च शुद्धाः सिद्धा निरामया । अनंतकालमात्माप्ताः तिष्ठत्यगातिगा सदा ॥ ९९ ॥
निष्कलंका निराधारा धामरूपाश्च चिन्मया. । निर्भया गतनिद्राश्च निराबाधाश्च्युतोपमाः ॥ १०० ॥
नाथहीनाश्च निर्माना पञ्चवर्णविराजिनाः । हावभावविनिर्मुक्ता ललनाभाववर्जिता ॥ १ ॥
कामहीनाश्च निर्गंधा निर्विकल्पा निरागमा । निर्विहाराश्च निर्दंभा निष्पापा मदवर्जिताः ॥ २ ॥
वितृष्णा निर्विकाराश्च निःस्वना. सकलार्थदाः । निर्विचित्या सदाधारा कृतार्था कृत्यवर्जिता ॥ ३ ॥
लेश्यादेहविहीनाश्च ज्ञानभावेन मंडिता । सर्वेषामीश्वराणां च ईश्वरा. सर्वदर्शका. ॥ ४ ॥
कर्मप्रकृतिनिर्हीना तारका भवदेहिनां । जन्मान्त्यजरातङ्कवर्जिता निर्मला सदा ॥ ५ ॥
नाशित [illegible] शर्म शुभमात्मभूतं । अतातिगा स्वात्मनि सस्थितास्ते निर्वाणरूपा मनसाविचित्या. ॥ ६ ॥

अर्थ—सिद्ध भगवान्–निर्भय, निष्कलंक, निराबाध, निरामय, निर्मद, निराधार, स्त्रीरहित, हावभावविलासादि रहित, कामविकार चेष्टा रहित, चिंता रहित, विकल्प रहित, गंध रहित, कुचेष्टा रहित, कुभाव रहित, रोग रहित, उपद्रव रहित, विहार रहित, छल कपट भाव रहित, क्रोधादि विकार रहित, मान, मायादि रहित, पाप रहित, तृष्णा रहित, मोह-द्वेष और राग रहित परम शांत विराजमान हैं ॥९८-१००-१॥

अर्थ—सिद्धोंके देह नहीं है । शरीर नहीं है । लेश्या नहीं है । कर्म नहीं है । जन्म-जरा, आधि-व्याधि [illegible] नहीं है । वे सिद्ध भगवान् ईश्वरोंके ईश्वर हैं, तीन जगत्के स्वामी हैं । समस्त पदार्थोंके [illegible] हैं । [illegible] संसार समुद्रसे पार करनेवाले हैं । समस्त पदार्थोंको जाननेवाले अनंत सुखमें सलीन हैं ॥ [illegible] ॥

[illegible]—[illegible] कर्म समूहको समूल नाश करनेवाले ऐसे सिद्ध परमात्मा अपनी [illegible] सिद्ध परमात्मा सब प्रकारके जन्म, मृत्यु, [illegible], आतंक आदि [illegible] आत्मामें ही निमग्न रहते हैं । उनका मनसे चिन्तवन करना [illegible] ॥ [illegible] ॥

[illegible] सिद्ध भगवानको [illegible] होता है वह तुच्छ है । [illegible], भोगभूमिके जीव तथा अन्य उत्तम जीव जो सुख भोग

चक्रादिराजेन्द्रखगाधिपाना, कल्पेन्द्र ऊर्ध्वेन्द्रसमुद्भवाना । भोगादिभूम्यसभवार्थकाना, तथान्यलोकत्रयसभवाना ॥ ७ ॥
जत्नये यत् क्रियते सुखैकं, त्रिकालज हि विपयोत्थसौख्य । तस्मात्सुखादक्षसमुद्भवाच्च, क्षणे हि एकैव विकारहीनं ॥ ८ ॥
भुजति सौख्य हतकर्मजाला , सारमत्यक्षमनुलविहीन (?) । अन्येन द्रव्येण विवर्जित हि, ह्रासेन वृद्धेन तथा विमुक्तम् ॥ ९ ॥
हत्वा कर्मरिपून् पूर्वं महाध्यानसुवन्हिना । येऽनंतसुखसंयुक्त त्रैलोक्यशिखर ययु ॥ १० ॥
ते मया सस्तुताः सर्वे चिन्मया कायवर्जिताः । मे समाधि सुबोधिं च यच्छतु नो परा इह ॥ ११ ॥
सिद्धवारा इमे नित्य धीरवीरैर्मुनीश्वरै । वद्या ममापि सभूयात् सिद्धवृदाय वंदना ॥ १२ ॥
ईदृशे मगधाधीश मोक्षस्थाने मनोहरे । गत्वा निरामय शर्म शाश्वत चाक्षवर्जित ॥ १३ ॥
कर्मकायविनिर्मुक्तमात्मज नाशवर्जित । निर्लेप वृद्धिहीन च सर्वेषा हि सम वर ॥ १४ ॥
स व्रती व्रतपुण्येन ह्यतातीत सदा खलु । भोक्ष्यत्येव विचारज्ञ गतागमनवर्जितं ॥ १५ ॥

जगत्में भोग कर रहे हैं वह इन्द्रियोका सुख तीनों कालोका एकत्रित किया जाय तो भी वह सुख सिद्धोंके एक क्षण मात्र सुखके समान नहीं हो सकता है। सिद्ध परमात्मा आत्मीय, अतीन्द्रिय, न्यूनाधिकरहित, विकार रहित, अविनाशीक, अचिंत्य, नित्य, अनन्त सुखको भोगते है ॥ ६-९ ॥

अर्थ—जो सिद्ध परमातमा अपनी संसार पर्यायमे समस्त प्रकारके कर्मरूपी शत्रुओंको ध्यानरूपी अग्निसे भस्म कर अनन्त सुख सहित तीन लोकको शिखरपर विराजे हैं ॥ १० ॥

अर्थ—शरीर रहित चैतन्य स्वरूप परम विशुद्ध ऐसे सिद्ध परमातमा जिनकी मैने संस्तुति की है, मुझे समाधि और रत्नत्रयकी प्राप्ति प्रदान करे ॥ ११ ॥

अर्थ—वे सिद्ध परमात्मा धीर वीर मुनीश्वरोंसे सदैव पूजित है, वंदनीक हैं, उनको मैं भी भाव भक्तिसे वंदना करता हूँ ॥ १२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस प्रकार सर्वोत्कृष्ट महा मनोहर–मोक्षस्थानमें जाकर निरामय, शाश्वत, अतीन्द्रिय, कर्म और शरीरकी पराधीनतासे रहित, आत्मीय, अविनाशीक, निर्मल अनन्त सुखको वे सिद्ध परमात्मा प्राप्त होते है ॥ १३-१४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! वह कर्मदहन व्रतको धारण करनेवाला भव्य जीव व्रतके पुण्यके प्रभावसे सांसारिक समस्त सुखोंको भोगकर क्रमसे आदि, मध्य और अन्त रहित, जन्ममरणादि विकार रहित मोक्षके सुखको भोगता है ॥ १५ ॥

अनेन विधिना ये हि करिष्यंति कलौ नरा.। यास्यंति शाश्वते स्थाने विदेहात् नात्र संशयः ॥ १६ ॥
कर्मदहनमद्व्रत सोऽयं कर्मविनाशक । सार्थनामयुत सम्यक् वद्यो भव्योत्करै सदा ॥ १७ ॥
सर्वोत्कृष्टविधिश्चाय कथितश्च नरेश्वर। बुद्धत्व त्व हृदि शुद्धे मया त्वत्प्रश्नतः खलु ॥ १८ ॥
आजन्म पापमग्ना हि नरा यास्यति निश्चयात् । अस्यैव कारणात् भूप ! शिवास्पदे च शाश्वते ॥ १९ ॥
अन्य शृणु पुन त्व च अपरमपि ये नरा.। करिष्यंति विधिश्चाय तरिष्यंति भवाब्धि ते ॥ २० ॥
[illegible] विधि [illegible] भोजनस्यापि स विधि । कर्तव्यश्च व्रते चास्मिन् व्रतिभिः शिवप्राप्तये ॥ २१ ॥
[illegible] मासे करणीया सुभावत । प्रोषधा पच वा पवित्रमा एव सदेव वै ॥ २२ ॥

अर्थ—इस प्रकार विधिपूर्वक इस कर्मदहन व्रतको पंचमकालमें जो भव्य जीव पालन करेंगे वे अवश्य ही अविनाशीक मोक्षसुखको प्राप्त होंगे, इसमें कुछ भी सदेह नही है ॥ १६ ॥

अर्थ—यह कर्मदहन व्रत सार्थक नामवाला है । जो कोई भव्यजीव इस व्रतको विधिपूर्वक धारण करता है उसके समस्त कर्मोंका दहन (भस्मीभाव) हो जाता है इसीलिये यह व्रत सर्वोत्कृष्ट है । भव्यजीवोसे सदैव पूज्य है ॥ १७ ॥

अर्थ—हे मगधाधीश ! कर्मदहनव्रतकी जो विधि बतलाई है वह सर्वोत्कृष्ट विधि है । जघन्य और मध्यम विधि भी [illegible] ॥ १८ ॥

अर्थ—इसके प्रभावसे आजन्म पापी जीव भी समस्त कर्मोंका नाश कर मोक्षसुखको प्राप्त होंगे ऐसा [illegible] ॥ १९ ॥

अर्थ—हे [illegible] ! इस कर्मदहन व्रतको अन्य विधि भी बहुत हैं । जिनको पालन करनेसे भव्य जीव [illegible] ॥ २० ॥

[illegible] विधि जो प्रथम बतलाई है वह वैसी ही [illegible] विधि भी [illegible] बतलाई है वह भी वैसी ही करनी चाहिये । [illegible] शुद्धिसे करना चाहिए। एक मासमें पांच या दश प्रोषधो-

वा मास प्रति चत्वारः प्रोषधाः शुद्धित त्रिधा । कर्तव्याः कर्मनाशार्थं सजाप्याः सक्रियान्विताः ॥ २३ ॥
प्रोषधस्य प्रभावेण देहेस्मिन् कर्मसभृते । भवत्यघाश्च तूर्णेन शिथिली हि दुराशयाः ॥ २४ ॥
खगेश्वरेक्षणेनैव यथा क्रूराश्च पन्नगाः । शिथिलता प्रयात्येव तथैव व्रततो ह्यघाः ॥ २५ ॥
ये ये मया नराधीश आख्याताः शिवदायकाः । व्रताना निकराः सर्वे ते ते स्युः नात्र संशयः ॥ २६ ॥
पंचमाख्येशुभे काले मर्त्याः या स्त्रियोपि च । मयोक्तविधिना भूप भव्यराशिसमुद्भवाः ॥ २७ ॥
करिष्यति शिवस्थाने जरात्ययविवर्जिते । ह्यनुक्रमेण यास्यति द्वापरो नात्र चाक्षये ॥ २८ ॥
श्रुत्वेत्थ मगधाधीशः स ध्वनिं च प्रभोर्मुदा । त प्रत्याह तदा स्वामिन् वीर वीरेश पावन ॥ २९ ॥
भवद्भिः कथिता मर्त्या निस्वा हि पंचमोद्भवाः । करिष्यति कथ व्रत तदृते नास्ति तत्फल ॥ ३० ॥
गृहे यदि दरिद्र स्यात् पूर्वपापोदयात् नृप । कायेन द्विगुण कार्यं व्रत प्रोषधसयुत ॥ ३१ ॥

पवास करने चाहिए । अथवा एक मासमे चार प्रोषधोपवासके करना चाहिए । प्रोषधोपवास के दिवस कर्मोका नाश करनेके लिये जाप्य अवश्य देना चाहिये और पूर्वोक्त बतलाई हुई समस्त क्रियाये करना चाहिए ॥२१-२३॥

अर्थ—इस कर्मदहन व्रतके प्रभावसे कर्मोका चूर्ण अवश्य ही होगा ॥ २४ ॥

अर्थ—जैसे गरुड़के दर्शनमात्रसे सर्प भाग जाते है वैसे व्रतके प्रभावसे समस्त पाप नष्ट हो जाते है ॥२५

अर्थ—हे राजन् ! जो-जो व्रत इस ग्रन्थमें भव्य जीवोंके उपकारार्थ बतलाये हैं वे सब मोक्षके प्रदान करनेवाले है । इसमें कोई संशय नहीं ॥ २६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस पंचम कालमें जो स्त्री या पुरुष भव्य जीव इस कर्मदहन व्रतको पालन करेंगे वे परम्परासे नियमसे जरा, जन्म, मरण रहित मोक्ष सुखको प्राप्त होगे ॥ २७-२८ ॥

अर्थ—इस प्रकार कर्मदहन व्रतका महान् माहात्म्य श्रीवीर प्रभुकी दिव्यध्वनि द्वारा श्रवण कर श्रेणिक राजा हर्षको प्राप्त हुआ । फिर भी राजा श्रेणिकने वीर प्रभुसे पुनः प्रश्न किया ॥ २९ ॥

अर्थ—हे प्रभो ! पंचम कालके मनुष्य दरिद्री होंगे । और दरिद्री मनुष्य इस व्रतको किस प्रकार संपादन कर सकेंगे । क्योकि धनके बिना धर्म किस प्रकार हो सकता है ॥ ३० ॥

अर्थ—हे राजन् ! यदि पूर्व पाप कर्म के उदय से घर मे दरिद्रता हो तथा उस दरिद्रता के कारण व्रतका उद्यापन करने की शक्ति न हो तो शरीरसे द्विगुणा व्रत प्रोषध सहित करें तो भी वही फल प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

द्रव्यहीना नरा· तस्मिन् करिष्यन्ति व्रतोत्करान् । द्रव्याढ्याश्च करिष्यति उत्थापना व्रतस्य वै ॥ ३२ ॥
सुतापुत्रविवाहेषु द्रव्योत्करस्य ते नराः । करिष्यति व्यय भूप मृतकादिक्रियासु वै ॥ ३३ ॥
पञ्चमाभिधकालस्य मानवा· पापमडिताः । धर्ममार्गवहिर्भूता धर्मकार्यपरान्मुखाः ॥ ३४ ॥
हर्षोल्लासेन ते मूढा· पापकार्येषु नित्यश· । द्रव्योघस्य व्यय भूप करिष्यति न सशयः ॥ ३५ ॥
कृपणा द्रव्यभोक्तारो निष्कृपणा तद्वर्जिता· । कलौ एव भविष्यति मिथ्यामार्गरताः खला· ॥ ३६ ॥
एकमपि व्रत शुद्ध यः करिष्यति स शिवे । यास्यति नात्र सदेह· कायात् द्विगुण च ना ॥ ३७ ॥
गजस्नानसमा ज्ञेया विधिहीना व्रता इमे । स्वर्गसौख्यकरा· चैव (नैव) शिवशर्मकरा· खलु ॥ ३८ ॥

अर्थ—द्रव्यहीन दरिद्री मनुष्य इस व्रतको बड़े विशुद्ध भावोंसे और भक्तिसे करेंगे। परन्तु श्रीमंत (धनिक) लोग इस व्रतकी उत्थापना करेंगे। अर्थात् धनके लोभसे वे व्रतके पालन करनेमें अपनी असमर्थता प्रगट करते रहेंगे। यह उनका लोभ परिणाम धर्मभावनाकी कमजोरी प्रकट करेगा ॥ ३२ ॥

अर्थ—वे धनिक अपनी पुत्रपुत्री आदिके विवाहमें कभी-कभी अपनी मान बढ़ाईके लिये शक्तिसे अधिक धनका व्यय करेंगे। या मृतकादि पुरुषोंकी क्रियामें शक्तिके उपरात धन व्यय करेंगे। परन्तु धर्मकार्यमें उनकी रुचि नहीं होगी ॥ ३३ ॥

अर्थ—हे राजन्! पंचमकालका माहात्म्य ही अद्भुत है उसमें प्रायः धर्म मार्गसे विपरीत ही कार्य होंगे। [illegible] पंचमकालके मनुष्य प्राय पापोंमें लिप्त होंगे। धर्म मार्ग बहिर्भूत, धर्मकार्यमें परान्मुख होंगे। पंचम-[illegible] हर्ष और उल्लासके साथ पापकार्य नित्य ही करेंगे। ऐसे कार्योंमें ही अपना धनका उपयोग कर [illegible] कृपण [illegible] स्वामी रहेंगे और उदार मनुष्योंके पास धनका अभाव होगा। इस [illegible] मिथ्यात्व [illegible] की प्रवृत्ति रहेगी ॥ ३४-३६ ॥

[illegible] और उत्साहके साथ जो मनुष्य एक भी व्रत शुद्धतासे [illegible] उद्यापनादि विधि रहित [illegible] ॥ ३७ ॥

[illegible] उनका धर्म करना हाथीके स्नान

ना कोयाचन भो मर्त्या- कुर्वीध्व द्विगुण व्रत । इमं नैव गृहे द्रव्यो यद्यस्ति शिवशर्मणे ॥ ३९ ॥
भा वु ॥ जिनकार्येषु इज्यापात्रादिषु सदा । कृपणत्व भजध्वं मा ह्यनेकदु खदायकम् ॥ ४० ॥
कुमार्गे सर्वदा यूय कृपणत्वं बुधोत्तमाः । भजध्व धर्मकार्येषु मा कदापि सुखाप्तये ॥ ४१ ॥
नागराणा व्रतेदन कारापण सुशर्मद । अस्माद्धि सकला भव्याः शिवे यास्यति निश्चयात् ॥ ४२ ॥
कर्मदहनव्रतस्य विधिश्च कथितो मया । करिष्यति सुभावेन इद यास्यति सोव्यये ॥ ४३ ॥

समान निष्फल है। अतएव जो कोई भी व्रत किया जाय विधिपूर्वक ही करना चाहिये । बिना विधिके व्रत स्वर्ग
मोक्षका साधक नही है। जिनके पास द्रव्य नहीं है उनको शरीरसे ही व्रत करनेमे श्रम अधिक करना चाहिये ।
दुगुना व्रत करना चाहिये ॥ ३८-३९ ॥

भावार्थ--व्रतकी विधि, उद्यापन आदि करनेकी परमागममे सर्वत्र बतलाई है सो धनवान और पुण्यवान
पुरुषोको तो व्रतकी उद्यापन आदि समस्त विधि करनी ही चाहिये । यदि धनवान और पुण्यवान ही ऐसी विधि
न करें तो उनने अपनी शक्तिको छिपाकर भावना कम की । परिणामोकी विशुद्धि पूर्ण रूपसे नही की, इस-
लिए उनको धर्मका फल स्वर्ग मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकता है । इसी प्रकार निर्धन यदि व्रतको दूना
द्विगुणित न करे तो आगमकी आज्ञानुसार सर्व क्रिया न करनेसे परिणामोंकी विशुद्धि किस प्रकार रह सकती
है । इसलिये प्रत्येक प्राणीको अपनी-अपनी शक्तिको नहीं छुपाकर व्रत विशुद्ध परिणामोसे करना चाहिये ।

अर्थ—हे विचारशील बुद्धिमान् भव्यजीवों जिनधर्म सम्बन्धी पुण्यकार्यमे, पूजा और पात्रदानमे कभी
भी कृपणता मत करो । क्योकि पूजा और दानमे कृपणता करना महान् दुःखोंको प्रदान करनेवाला है । हाँ, यदि
कृपणता ही करनी है तो कुमार्गमे व्यर्थ धनको व्यय मत करो । कुमार्गमे कृपणता धारण करो । परन्तु सुखकी
इच्छा करनेवालोंको धर्मकार्यमे कृपणता महान् हानि पहुँचानेवाली है ॥ ४०-४१ ॥

अर्थ—शहरके विचारशील मनुष्योंको तो यह व्रत अवश्य ही करना चाहिये । इस व्रतके माहात्म्यसे
भव्यजीव नियमसे मोक्षके पात्र होंगे ॥ ४२ ॥

अर्थ--कर्मदहन व्रतकी विधि जो यहाँपर बतलाई है तदनुसार जो कोई भव्य जीव अपने विशुद्ध भावों-
से करेंगे वे अवश्य ही मोक्ष सुखको प्राप्त होंगे ॥ ४३ ॥

पूर्णे याते हि व्रतस्य प्रतिष्ठा श्रीजिनेशिना । करणीया सुमोदेन व्रतस्य फलसिद्धये ॥ ४४ ॥
चतुर्विधाय संघाय यथायोग्यानि मोदतः । सदेयानि शिवाप्त्यर्थं दानानि व्रतिभिः खलु ॥ ४५ ॥
पुरेषु नगरेषु वै स्थापनीया मनोहरा । छत्राश्च चामराः घटाः ध्वजाद्याः जिनसद्मसु ॥ ४६ ॥
उत्कृष्टोऽय विधिर्भूप ! शिवशर्मप्रदायकः । व्रतस्योद्यापनस्यास्य स्यात्खलु आगमे मतः ॥ ४७ ॥
यथा शक्त्या करणीयो व्रतस्योद्यापनो नृप । एतादृश्यपि नास्त्येव शक्तिर्दारिद्र्ययोगत. ॥ ४८ ॥
तदा हि [illegible] भव्याः कुरुध्व द्विगुणमिदं । तत्सम हि फलाप्तिश्च भवतामपि संभवेत् ॥ ४९ ॥
अनेन [illegible] तरिष्यति [illegible] । भजिष्यति शिवशर्मं नर्वाहरयेव नाशनात् ॥ ५० ॥
अगणगुणनिधान सर्वव्रतेषु मुख्य, जिनवरमुखजात कर्मसतापहार ।
[illegible] नित्यमात्तगमिह, परममतिप्रयुक्ता भो भजध्व विशुद्धया ॥ ५१ ॥

अर्थ—पूर्ण व्रत होने पर व्रतकी फलकी सिद्धिके लिये भव्य जीवोंको व्रतका उद्यापन अवश्य ही करना चाहिये। व्रतके उद्यापनकी विधि—व्रती पुरुषोंको शुभ भावोंसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के उत्तमोत्तम जिनबिम्ब निर्माण कराकर प्रतिष्ठा करानी चाहिये। चार प्रकारके संघको अपनी शक्तिके अनुसार दान भी देना चाहिये। [illegible] द्वारा संतोषित करना चाहिये। नगरमें अथवा ग्राममें उत्तम जिनालय बनवाकर उसमें छत्र, चमर, घंटा, ध्वजा आदि उपकरण अपनी शक्तिके अनुसार प्रदान करना चाहिये। यह उत्कृष्ट विधि है। आगम [illegible] जाता है। इसप्रकार विधिपूर्वक व्रत करनेसे अभ्युदयकी सिद्धि होती है ॥ ४४-४७ ॥

[illegible]—हे राजन्! यथाशक्ति व्रतका उद्यापन करना ही चाहिये। व्रतोंकी सिद्धि उद्यापन किये बिना [illegible] होती है। [illegible] इसप्रकार उद्यापन करनेकी शक्ति नहीं हो तो व्रतको द्विगुणित करना चाहिये। इसप्रकार [illegible] भी वही फल प्राप्त होता है ॥ ४८-४९ ॥

[illegible]—हे राजन्! [illegible] भव्यजीव सब पापोंके नाशसे [illegible] ॥ ५० ॥

[illegible] श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के मुख- [illegible] पापको [illegible]

भो भव्या व्रतमुत्तम शिवप्रद येहि करिष्यत्यहो, भक्त्या चेव कली सुनिर्जरघनैर्वंद्यच पापापह ।
गाम्यत्वेन शिवास्पदे मुनिनुते ह्यमादिकर्मोज्झिते, ज्ञात्वैव बुधसत्तमा सुविधिना कुर्वीध्वमेव व्रत ॥ ५२ ॥
बुधा नामा नेद कुरुन विधिना मोक्षसुखद, तनो सर्वे चाहा प्रलयमनिश अस्य करणात् ।
इमा ज्ञात्वा याति अमलमतिद वा हि महिमा, भजते हिचेम मुनिवरगणास्तेपि ह्यमला ॥ ५३ ॥

श्रीसम्मेदाचल प्रकरण

पचमाभिधकालस्य भव्याना शिवदायकम् । अन्यवृत्त श्रृणु भूप श्रवणात्कलमपापहं ॥ १ ॥
श्रीमदिन्द्रदिशाया च विख्यातः सकलावनौ । नाम्ना सम्मेदशिखरो विद्यते च नगोत्तमः ॥ २ ॥
सिद्धाना निकुरुवेण मूपितोऽनतशर्मदः । सदैव पूजितो देवै- सच्छोभाभिरलङ्कत- ॥ ३ ॥

अर्थ—हे भव्यजीव ! यह व्रत सर्वोत्कृष्ट और मुख्य व्रत है । इसको पालन करनेसे मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है । देवगण भी इसकी वंदना करते है । समस्त पापोका नाश करनेवाला यह व्रत है । इसलिये भव्यजीवोंको विधिपूर्वक अवश्य ही करना चाहिये ॥ ५२ ॥

अर्थ—जो कोई स्त्री या पुरुष मोक्षको प्रदान करनेवाले इस पवित्र व्रतको विधिपूर्वक करेंगे उनके समस्त पाप नाश हो जायँगे । इस व्रतकी यही महिमा है । जिनने भाव भक्तिसे इसकी भावना भी की है वे सुखको प्राप्त हुए है । मुनिगण भी इस व्रतको धारण करते है ॥ ५३ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! पंचमकालवर्ती भव्यजीवोंके उपकारार्थ मोक्षको प्रदान करनेवाली एक कथाका वर्णन करता हूँ जिसके श्रवणमात्रसे पापोका नाश होता है ॥ १ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्री पूर्व दिशामे समस्त भारतवर्षमे तीर्थराजोंमें श्रेष्ठ, जगत्‌वंद्य ऐसा सम्मेद-शिखर नामका एक पर्वत है ॥ २ ॥

जिस पर्वतसे असंख्य सिद्ध हुए है जो अनन्त सुखको प्रदान करनेकी शक्तिसे ही प्रसिद्ध हैं । अतएव देव उसकी निरन्तर पूजा करते हैं ॥ ३ ॥

श्रीमदजितनाथाच्च मदते मगधेश्वर। असख्या. तत्रतो मोक्षे मुनीन्द्राश्च गता वराः ॥ ४ ॥
श्रीमदजितपार्श्वांता. तीर्थनाथाः सुरैस्तुताः । तस्माद्धि मुक्तिमापन्ना केवलज्ञानमडिताः ॥ ५ ॥
तत्र तेषा जिनेन्द्राणा पृथक् पृथक् मनोहरा । कूटाः सति तदा पूज्या सुरेन्द्रखेचरेश्वरैः ॥ ६ ॥
द्विदशप्रमनीर्थेशा गता. तस्मात् शिवालये । अन्ये तीर्थंकराः तूर्याः कस्मात् गता शिवास्पदे ॥ ७ ॥
तत्रार्थं शृणु भूपाल कारण कथयाम्यहं । समाविना शिवकर पापाद्रिभजने पविम् ॥ ८ ॥
हुडावसर्पिणि कालस्य दोषादेव भवति च । अतराः सिद्धक्षेत्राणा नान्यत्काले नराधिप ॥ ९ ॥
सम्मेदाचल सर्व भगतरा जिनेश्वरा । याता यात्येव यास्यति ह्यसख्यमुनिसयुता. ॥ १० ॥
गता [illegible] मोक्षस्थाने न मुदरे । हत्वा कर्मरिपून् सर्वान् शत्यशुक्लासिना खलु ॥ ११ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! श्रीभगवान् अजितनाथ तीर्थंकरसे श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर पर्यंत इस पर्वतसे मोक्ष-धामको पधारे हैं। और असख्य मुनि गणोंने यहाँसे निर्वाणपद प्राप्त किया है। इसलिये यह निर्वाणक्षेत्र प्रसिद्ध है। बीस तीर्थंकरोंने मोक्ष इस पर्वतराजसे ही प्राप्त किया है ॥ ३-५ ॥

अर्थ—सम्मेदशिखर पर्वतपर श्रीजिनेन्द्र भगवान्के मोक्षस्थान प्राप्त करनेके बीस तीर्थंकरोंके पृथक्-पृथक् [illegible] जिनकी पूजा देव, विद्याधर आदि समस्त भव्य जीव करते हैं ॥ ६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस प्रकार २० तो फिर असख्य मुनियोंके साथ श्रीसम्मेदशिखरपरसे वर्तमान चतुर्थ [illegible] । परन्तु इस [illegible] अनादिकालसे अनन्तकाल पर्यंत अनन्त मुनीश्वर मोक्षगामी [illegible] ।

[illegible] सम्मेदशिखरसे २० तीर्थंकर ही तो फिर क्यों मोक्ष गये ? चार तीर्थंकर अन्य [illegible] श्रीमहावीर स्वामीने कहा कि श्रेणिक [illegible] इस प्रकार [illegible] । अन्यथा यह [illegible] श्रीसम्मेदशिखरसे ही मोक्षको जायेंगे । [illegible] नियम है कि [illegible] समस्त तीर्थंकरोंका मोक्ष स्थान [illegible] । इस कुछ [illegible] चार तीर्थंकर मोक्षको अन्य क्षेत्रसे [illegible] ॥ ७-११ ॥

रचयतिस्म भो भूप पुनरुत्पत्तिं च सुराः। सर्वप्रलय याते हि सदैव समये खलु ॥ १२ ॥
आदौ जातजिनेन्द्रस्य स्थित्यर्थं सकला शुभाम् । पचकल्याणयुक्तस्य महत्पुण्योदयाच्च ते ॥ १३ ॥
अयोध्यायास्तले चास्ति कमलाको ह्यतो नृप । तत्रैव रचना तस्या ते कुर्वंतिस्म निर्जरा ॥ १४ ॥
स्वस्तिकाका नराधीश अब्धिपक्षप्रमा. शुभाः । सम्मेदाद्रितले सति कूटाः तेषा च मस्तके ॥ १५ ॥
सोपि अनादिकालाद्धि सम्मेदाभिधभूधर । उत्पद्यते च तत्रैव मगधाधिप निश्चयात् ॥ १६ ॥
मुनीद्रा वा जिनेन्द्राश्च सर्वे ह्यनादिकालत । असख्याढ्याश्च तस्माद्धि शिवधाम व्रजंत्यहो ॥ १७ ॥

अर्थ––हे राजन् प्रलय कालमें जब समस्त पदार्थ नष्ट हो जाते है तब देवगण इस पवित्र तीर्थकी रचना बार-बार प्रत्येक समयमे करते है ॥ १२ ॥

अर्थ––हे राजन् ! युगकी आदिमे जब पंचकल्याण विभूषित श्री देवाधिदेव श्री ऋषभदेवके अवतारका समय हुआ तो महान् पुण्योदयसे उस अयोध्या नगरीमे उनकी स्थितिके लिये शुभ रचना की जो अयोध्या नगरी अनादिकालसे तीर्थंकर प्रभुके जन्मसे पवित्र मानी है ।

अयोध्या नगरका प्रलयके द्वारा विध्वंस होनेपर देवगण उसी समय उस स्थान पर कमलका चिह्न स्थापित करते हैं । और युगके प्रारम्भमे जब तीर्थंकरोंका जन्मावतार होता है तब उसी स्थान पर अयोध्या नगरीकी रचना की जाती है । इसलिये अयोध्या नगर कभी किसी कालमे नष्ट नहीं होता है । अनादि है और उसीमे समस्त तीर्थंकरोका जन्म होता है ॥ १३-१४ ॥

अर्थ––हे राजन् ! इसी प्रकार श्रीसम्मेदशिखरके नीचे चित्रा पृथ्वी पर २४ श्रीतीर्थंकर देवोंकी निर्वाण कूटोंके चौबीस स्वस्तिक चिह्न है । प्रलयकालके बाद उन चिह्नोके ऊपर ही कूट सहित सम्मेदशिखर भी अनादि तीर्थस्थान है वह किसी भी कालमें नाश नहीं होगा और अनादिकालसे वहाँसे ही समस्त तीर्थङ्कर मोक्ष पदको प्राप्त होंगे और हुए है ॥ १५ ॥

अर्थ––हे राजन् ! यह सम्मेदशिखर तीर्थराज अनादिनिधन है, सदैव शाश्वत है । कभी किसी भी कालमें इस तीर्थराजपरसे तीर्थंकर मोक्षधामको प्राप्त हो गये और होगे । अनन्त मुनीश्वर भी इस पवित्र तीर्थराजसे मोक्षको प्राप्त हो गये और होंगे ॥ १६-१७ ॥

चन्द्रपक्षप्रमस्तस्य विस्तारो लघुयोजनैः । त्वया ज्ञेयो नराधीश सिद्धवारयुतस्य वै ॥ १८ ॥
[illegible] सिद्धादृतेऽस्ति न सा धरा । सर्वत्रैव गताः वानयोगीन्द्राश्च शिवास्पदे ॥ १९ ॥
अस्मिन् काले प्रयात्येव नम्माद्धि कालदोषतः । द्विदशप्रमतीर्थेशा द्विदशकूटतो नृप ॥ २० ॥
सिद्धस्थानेन भव्याना तारका निर्मलाशया । दिव्यदेहवराः पूज्या सुरेन्द्रैर्वा मुनीश्वरैः ॥ २१ ॥
नामानि किञ्च कूटाना अस्मिन् काले कियत्प्रमाः । मुक्तिं गता मुनीन्द्राश्च तस्माद्वै सिद्धभूधरात् ॥ २२ ॥
[illegible] दर्शनात् किं फलं भवेत् । कदा मुक्तिश्च तत्सर्वं कथयस्व दयापते ॥ २३ ॥
[illegible] भव्याना शिवसिद्धये । व्याख्यान तस्य कुर्वेह सर्वसंसारतापह ॥ २४ ॥

अर्थ—इस सम्मेदशिखरका १२ योजन प्रमाणका विस्तार है इसको परमागममें सिद्धभूमि मानी है । सिद्धक्षेत्र भी इसीको कहते हैं ॥१८॥

अर्थ—हे राजन् ! इस पर्वतपर ऐसा कोई बाल (केश) बराबर क्षेत्र नहीं है कि जहाँसे कोई न कोई मुनिराज निर्वाणको प्राप्त न हुआ हो । बाल-बालपर सिद्ध हुए हैं । इस पर्वत राजके कंकर-कंकर परसे सिद्ध हुए हैं । [illegible] तो सिद्धभूमि है ॥ १९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस वर्तमान युगमें कालके दोषसे तो बीस तीर्थंकर बीस कूटसे मोक्ष पधारे और [illegible] मुनिराज भी मोक्ष गये । गिनती नहीं ॥ २० ॥

अर्थ—तीर्थंकरोंसे [illegible] देवोंसे पूजित मुनीश्वरोंसे वन्दनीय जगत्को तारन करनेवाले परम [illegible] मोक्षधामको पधारते हैं ॥ २१ ॥

[illegible] तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजीका अद्भुत रहस्य [illegible] कि इस वर्तमान युगमें उन कूटोंसे [illegible] दर्शनसे क्या फल प्राप्त होता है ? [illegible] ॥ २२-२४ ॥

नत्वा श्रीजिननायकान् गणधरान् देवेन्द्रवृदार्चितान्, मौनीन्द्रान् सकलान् तथा च सुखदा जैनेन्द्रवक्रोद्भवाम् ।
वाणी पापप्रणाशका मुनिनुता सत्बुद्धिदा पावनी, सम्मेदाभिधपर्वतस्य शिवद स्तोत्र करोमि शुभम् ॥ २५ ॥
कूटस्य सख्या सकलाहहान्यै, नामानि तेपा फलमद्भुत च । सख्या मुनीना बुधसत्तमास्ते, शृण्वतु ह्येकाग्रहृदाच वच्मि ॥ २६ ॥
यन्मस्तके सति सुराधिपार्च्या पापाद्रिनाशे वरवज्रतुल्याः । कूटा मनोज्ञा वरसिद्धयुक्ता. शून्यद्विसख्या. कथिता जिनेन्द्रै. ॥ २७ ॥
अर्कप्रमा पूर्वदिशिहि कूटा", वसुप्रमा पश्चिमदिशिच । एव च ज्ञेया. शिवदाः सुराच्या., तत्त्वार्थयुक्तै बुधसत्तमैश्च ॥ २८ ॥
वेदेन्द्रिलक्षाश्च ननूत्तराश्च, ह्यशीति कोट्य प्रमिताबुदेके. । मुनीश्वरा श्रीअजितस्य काले, मुक्तिगता. सिद्धवराच्च कूटात् ॥ २९ ॥
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्धया, यो भव्यमर्त्य. शृणुथ फल तत् । सद्दर्शन सैव लभेत्फल च, पक्षाग्निकोटिप्रमप्रोपधानाम् ॥ ३० ॥
एतान् मुनीन्द्रान् वरभावतो वै, काले त्रिके तत्पदसिद्धयेऽह । नमामि ससारपयोधिनस्ते, उद्धर्तुमीशाः सुरनाथवंद्याः ॥ ३१ ॥

अर्थ—श्री जिनेन्द्र भगवान् अरहंत परमात्मा तथा समस्त गणधर देवोंको नमस्कार कर पापको नाश करनेवाली, सुबुद्धिको प्रदान करनेवाली भगवती जिनवाणी माताको नमस्कार कर श्री सम्मेदशिखर (सिद्धाचल) का परम सुखदायी स्तोत्र कहता हूँ ॥ २५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! मगधाधीश ! समस्त प्रकारके पापोका संहार करनेवाले ऐसे कूटोंकी संख्या, उनके नाम, उनके दर्शन करनेका फल और उन कूटोंसे मोक्षपदको प्राप्त हुए मुनीश्वरोंकी संख्या आदि अद्भुत वृत्तांत कहता हूँ । सो एकाग्र मनसे सावधान होकर श्रवण कर ॥ २६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! (इस वर्तमान युगमें सिद्धाचल श्री सम्मेदशिखर पर देवोंसे पूजित पापोंको नाश करनेवाले अतिशय मनोज्ञ और तीर्थंकर प्रभुके निर्वाण स्थानभूत ऐसे बीस कूट श्रीजिनेन्द्र देवने बतलाये है । जिनमेसे बारह कूट तो पूर्व दिशामें विराजमान है और आठ कूट पश्चिम दिशामे सुशोभित है । इसप्रकार शुभ कूट बीस है ॥ २७ ॥

अर्थ—हे मगधाधिप ! श्रीसम्मेदशिखर पर्वत पर सिद्धवर नामक कूटसे श्री अजितनाथ भगवान् चौरासी अरब, चौरासी करोड़, चौअन लाख मुनीश्वर सहित मोक्ष पदको प्राप्त हुए । जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन मन, वचन, कायकी शुद्धिसे और विशुद्ध परिणामोसे करता है उसको बत्तीस कोटि उपवासका फल प्राप्त होता है । जो इस कूटसे मुझे दिगंबर मुनीश्वर कर्मोंका नाशकर निर्वाण पदको प्राप्त हुए हैं उनको मैं भावभक्तिसे नमस्कार करता हूँ । वे प्रभु इस नग्न संसारसे पार करें ॥ २८-३१ ॥

नेत्राद्विपचैव गतानि यस्मात् जाया सहस्राणि मुनीन्द्रवद्या. । द्विसप्ततिलक्षप्रमाश्च कोटिकोट्यो नव सर्वमुनीश्वराश्च ॥ ३२ ॥
[illegible]दिदत्तात् शुभनामकूटात् गताहनाशात् वरसिद्धता च । ससारदावानलमेघपुष्पाः स्वदेहभार्तजित[illegible]दताः ॥ ३३ ॥
[illegible] च प्राप्ति करोति[illegible]लक्षप्रमप्रोषधाना । भवेच्च नो सशयः चात्र भव्या ह्यनुक्रमात् मोक्षपदस्य प्राप्तिः ॥ ३४ ॥
[illegible]कूटाच्च गता मुनीन्द्रा, पञ्चप्रमा. ह्यष्टशतानि चैव । मित्रेक्षसहस्रैवसप्ततिर्हि, लक्षास्तथा सप्ततिकोट्यो वै ॥ ३५ ॥
[illegible] पुनश्च कोटि, एते च यस्मात् सकलाहनाशात् । यद्वदनात् भव्यनरो लभेत् वै, द्व्यष्टप्रमलक्षमुप्रोषध च ॥ ३६ ॥
[illegible]नि नेत्रादिप्रमलक्षा यस्मात् । चतुरशीतिकोटिस्ततो वै अर्बुदैको ह्यविचलकूटात् ॥ ३७ ॥
[illegible] मुनीश्वरा केवलज्ञानयुक्ता । गता. सुरेन्द्रादिगणै. प्रपूज्या कर्मादिमातङ्गविघातसिंहा ॥ ३८ ॥
[illegible]प्रमप्रोषधाना फल च प्राप्नोति करोति यस्य । सद्वदना य शुभभावशुद्धया स वै चाविलवेन तथा शिव च ॥ ३९ ॥
[illegible] च सप्त, शतप्रमा मोहनकूटतो वै । यस्मात्पुनः पक्षमुवधुयुक्ता, धीराः सहस्रासुरनाथवंद्याः ॥ ४० ॥

अर्थ—अचलावस्त शुभनाम कूटसे नो कोडाकोडि बहत्तर लाख दो हजार पाँच सौ व्यालीस मुनि श्री भगवान् [illegible]के समयमें पापोंका नाश कर मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं । जो भव्य जीव इस कूटका दर्शन भावभक्तिसे करे वह [illegible] लाख उपवास फल प्राप्त करता है । इसमें सदेह नही है ॥ ३२-३३ ॥

[illegible]—आनन्दकूटसे अभिनन्दन तीर्थङ्कर तथा तिहत्तर कोड़ाकोड़ि सत्तरकोड़ि सत्तरलाख चौवन हजार [illegible] सौ [illegible] मुनि [illegible] पापोंको नाश कर मोक्ष पद प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल सोलह लाख उपवासका है । [illegible] चतुर्विध सघ सहित यात्रा की । यह सघ सबसे भारी निकाला गया था । [illegible] सघमें होती थी ॥ ३४-३६ ॥

[illegible] कूटसे सुमतिनाथ भगवान् और एक अरब चौरासी करोड़ बासठ लाख सात सौ [illegible] मोक्षपदको प्राप्त हुए हैं । जो भव्य इस कूटका दर्शन भावभक्तिसे विशुद्धि[illegible] फल प्राप्त करता है । इस कूटकी चतुर्विध सघ सहित यात्रा श्री [illegible] । सुमति भगवान्के समयमें [illegible] मोक्षको प्राप्त हुये ॥ ३७-३९ ॥

[illegible] और [illegible] चौरासी लाख [illegible] हजार सात सौ सात

लक्षाण्यशीति. पुनर्धर्मतीर्था., शतैकमध्ये खलु एकहीन । कोट्यो गता मोक्षपुरे मनोज्ञे, अनंतशर्मार्णवमग्नदेहाः ॥ ४१ ॥
यद्वदनाद् भव्यपुमान् लभेद्वै, कोट्येकसत्प्रोषधज फल च । अहं नमामि शिरसा त्रिशुद्ध्या, ते तीर्थराज शिवदायक च ॥ ४२ ॥
प्रभासकूटात् करमित्रसख्या सप्तशतानि च सहस्रसप्त । द्विसप्ततिलक्षप्रमा यतीन्द्रा कोट्यशीति चतुरुत्तरा च ॥ ४३ ॥
रध्रवबधुप्रमकोटिकोट्य गताश्च मोक्षे सुरराजपूज्याः । यद्दर्शनात्प्राप्तिर्भवेच्च भव्या द्वित्र्येवकोटिप्रमप्रोषधाना ॥ ४४ ॥
घटाच्च अते ललितैत्कूटात् द्विपचपचैव शतानि यस्मात् । पुनरेव मित्राष्ट सहस्रयुक्ता अशीतिलक्षा हि यतीश्वराश्च ॥ ४५ ॥
द्विसप्ततिकोटिसुकोटिकोट्य. वेदोत्तराशीतिगता शिव च । यद्वदनात् षोडशलक्षकाना स प्रोषधना च फल लभेत् वै ॥ ४६ ॥
अशीति वा वेदशतानि यस्मात् पुनः सहस्रेन्दुनमैवलक्षा । मुनीश्वरा. सुप्रभनामकूटात् एकोनमध्ये शतकोटयश्च ॥ ४७ ॥
यद्वदनात् भव्यजन सुभक्त्या फल च कोटिप्रमप्रोषधाना । आप्नोति नो सशय भो बुधौघाः मोक्षाप्तये त च सदा प्रवदे ॥ ४८ ॥

मुनि मोक्षको प्राप्त हुए । पद्मप्रभ भगवान्‌के समयमें एक हजार मुनि मोक्षको गये । बाकी मुनिगण उनके शासन समयमें मोक्षको गए । इस कूटके दर्शन भाव भक्तिसे त्रिशुद्धिपूर्वक करता है वह एक करोड़ उपवासका फल प्राप्त करता है । इसकी यात्रा चतुर्विध संघसहित सुप्रभ राजाने की ॥ ४०-४२ ॥

अर्थ—प्रभासकूटसे सुपार्श्वनाथ भगवान् और नवासी कोड़ाकोड़ि चौरासी करोड़ बहत्तर लाख सात हजार सात सौ ब्यालीस मुनिगण मोक्षको पधारे । इसके दर्शनका फल बत्तीस करोड़ उपवासका है । इसकी यात्रा उद्योत नामके राजाने एक बड़े भारी चतु:संघके साथकी थी जिसमें मुनिगणोकी हजारोसे भी अधिक संख्या थी । इस कूटकी रज लगानेसे कुष्ट रोग दूर होता है । विशेष एक बात यह भी है कि बीस कूटोंकी यात्राके समान इसका फल है ॥ ४३-४४ ॥

अर्थ—ललितघट कूटसे श्रीचन्द्रप्रभ जिनेन्द्र और चौरासी कोडाकोड़ि बहत्तर करोड़ अस्सी लाख चौरासी हजार पाँच सौ बावन मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटके दर्शन व संघसहित यात्रा ललितदत्त राजाने की । सोलह लाख उपवासका फल इसके दर्शनसे होता है ॥ ४५-४६ ॥

अर्थ—सुप्रभकूट से सम्भवनाथ भगवान् तथा निन्यानवे करोड निन्यानवे लाख छासठ हजार चारसौ अस्सी मुनिगण मोक्षको पधारे । जिसकी भाव विशुद्धिसे वन्दना करनेका फल एक करोड़ उपवासका होता है । इसकी वन्दना उस समय सोमप्रभ राजाने चतुर्विध संघ सहित की थी ॥ ४७-४८ ॥

[illegible] पंचैव यतीश्वराश्च यस्मात्सहस्रा. कर्मसिंधुसख्याः । कराग्निलक्षाः पुन पक्षवेद अष्टादशैव खलु कोटिकोट्यः ॥ ४९ ॥
[illegible] मुनीन्द्रा गताश्च कूटात् सकलाघनाशात् । यद्वन्दनात् पोडशलक्षकाना चतुर्थकाना च फलं भवेद्धि ॥ ५० ॥
[illegible] शतानि पन द्विरभ्रलक्षाश्च सहस्रकाश्च । ऋतुनन्दकोटिप्रभवैर्मुनीन्द्राः यस्माच्च कूटात् वरसकुलाच्च ॥ ५१ ॥
[illegible] कोटिकोट्यः सद्दर्शका मोक्षपुरे गताश्च । प्राप्तिर्भवेद्यस्य सुवंदनाच्च फल च कोट्येकसुप्रोपधाना ॥ ५२ ॥
[illegible] शतानि सप्त सहस्राणि पट्पष्टिसूरतलक्षा । अभ्रारिकोट्योहि गताश्च यस्मात् मुनीश्वरा मोक्षपुरे सुखाके ॥५३॥
[illegible] श्रभगकुलाच्च यो भव्यजीव. कुरुते च यस्य । सद्दर्शन सैव लभेत् फल च कोट्येकसखशायुतप्रोपधाना ॥ ५४ ॥
[illegible] शतानि सप्तैव यतीश्वराश्च । सुरेन्द्रवद्या पुनः सप्ततिर्हि लक्षा सहस्राश्च तथैव ज्ञेयाः ॥ ५५ ॥
[illegible] वन्दयत्येव सुभावतो वै । प्राप्नोति सैव खलु प्रोपधाना कोट्येक भव्योत्तम सत्फल च ॥ ५६ ॥
[illegible] मुनीन्द्रा शतानि पचैव तथा नवैव । लक्षाः सहस्राणि नवैव ज्ञेया एकोनविंशत्यूनकोटयश्च ॥ ५७ ॥

अर्थ—विद्युद्वर नामक कूटसे श्री शीतलनाथ भगवान् तथा अठारह कोडाकोड़ि बयालीस करोड़ बत्तीस लाख ब्यालीस हजार पांचसौ मुनिगण मोक्षको पधारे । इस कूटके दर्शनका फल सोलह लाख उपवासका है । [illegible] नामके राजाने संघ सहित यात्रा की ॥ ४९-५० ॥

अर्थ—संकुल कूटसे श्री श्रेयांसनाथ भगवान् तथा छयानवे कोड़ाकोड़ि छयानवे करोड़ छयानवे लाख [illegible] हजार पांचसौ ब्यालीस मुनिगण मोक्ष पधारे ।

इस कूटके दर्शनका फल एक कोटी उपवासका है । इसकी यात्रा आनन्दसेन राजाने चतुर्विध संघ सहित की ॥ ५१-५२ ॥

अर्थ—सुवीर नामके कूटसे [illegible] भगवान् तथा सत्तर कोडि साठ लाख छह हजार सातसौ [illegible] पधारे । इस कूटका दर्शन करनेसे एक करोड़ उपवासका फल प्राप्त होता है । इसकी यात्रा [illegible] नामके राजाने की थी ॥ ५३-५४ ॥

[illegible] सत्तर हजार सातसौ [illegible] । इस कूटका दर्शन [illegible] राजाने [illegible] ॥

[illegible]

कोट्युक्तकोट्यश्च गताश्च यस्मात् एकोनविंशतिसख्यकाढ्याः । मोक्षे पुरे शर्मनिकेतने च सुदत्त आदिवर अन्त कूटात् ॥ ५८ ॥
यस्यैव कूटस्य सुवन्दनाच्च कोटिप्रमप्रोपधज फल च । भव्यो लभेत् सशय नोत्र भव्या वन्दे च त शर्मप्रद सदा हि ॥ ५९ ॥
प्रभासकूटात् सुरनाथवद्या सद्ध्यानधर्मेण विधूतपापा । शतमध्य एकोन शतानि रध्र सहस्राणि नन्दैवतैवलक्षा. ॥ ६० ॥
नवैव कोट्युक्त पुनश्च कोटिरेते शिवे धर्मधरा गताश्च । श्रीशातिनाथस्य सुकालमध्ये ससारसिंधो. मथका मुनीन्द्राः ॥ ६१ ॥
कुर्याच्च यस्यैव सुभावशुद्धया यो दर्शन सैव लभेत् फल च । एकस्य कोटिप्रमप्रोषधस्य क्रमाद्धि मोक्ष सकलाहनाशनात् ॥ ६२ ॥
द्विवेदयुक्ताश्च शतानि सप्त यस्मान्मुनीन्द्राः शिवप्राप्तिरेत्र । सहस्रोपमाः षट् पुनः नन्दकाश्च कराग्निलक्षा हृतकर्मवृदाः ॥६३॥
ऋतुस्तथारध्रप्रमाश्च कोट्यो रसाख्यनन्दोपमकोटिकोट्य. । गताः मन पापविभञ्जकाश्च श्रीज्ञान आदिधरकूटतो वै ॥ ६४ ॥
अस्यैव कूटस्य च दर्शनाच्च कोट्योपमप्रोषधज फल च । लभेच्च भव्यो बुधसत्तमाश्च नमामि त चैव सदा त्रिकाले ॥ ६५ ॥

नवतिनवसहस्रा वा च लक्षास्तथैव, नवतिनवसुकोट्यो नाटिकाद्यतकूटात् ।
सकलविधिविनाशात्सत्पुरे मोक्षसज्ञे, अमलगुणनिधाना सगता लेखपूज्याः ॥ ६६ ॥
प्राप्तिर्भवेत्तस्य चतुः हि भव्या, षट् रध्र कोटि प्रमप्रोषधाना ।
यस्येक्षणान्मुक्तिपदस्य सिद्धि, ह्यनुक्रमान्नात्र हि संशयश्च ॥ ६७ ॥

नवलाख नवहजार पाँचसौ पिचानबे मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटका दर्शन करनेका फल एक करोड़ उपवासका है । इस कूटकी यात्रा विभीवसेन राजाने चतुर्विध संघ सहित की ॥ ५७-५९ ॥

अर्थ––प्रभास कूटसे श्री शांतिनाथ भगवान् तथा एक कोड़ाकोड़ि नव करोड़ नवलाख नवहजार नौसौ निन्यानबे मुनिगण मोक्ष पधारे । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड़ उपवासका है । इसकी यात्रा सुदर्शन राजाने चतुर्विध संघ सहित की थी ॥ ६०-६२ ॥

अर्थ––श्रीज्ञानधर कूटसे कुंथुनाथ भगवान् तथा छ्यानबे करोड़ बत्तीस लाख छ्यानबे हजार सातसौ ब्यालीस मुनिगण सिद्ध पदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल एक करोड़ उपवासका है । इसकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा सोमधर राजाने की थी ॥ ६३-६५ ॥

अर्थ––नाटक नामक कूटसे श्री भगवान् अरहनाथ स्वामी तथा ब्यानवे लाख ब्यानवे हजार मुनिगण सिद्धपदको प्राप्त हुए । इस कूटके दर्शनका फल छ्यानवे करोड़ उपवासका है । इसकी चतुर्विध संघ सहित यात्रा सुप्रभ राजाने की ॥ ६६-६७ ॥

[illegible] कूटान्मुनीन्द्राः शिवसत्पुरे च । गताश्च स्वकर्मविघातनाच्च श्रीमल्लिनाथस्य सुकालमध्ये ॥ ६८ ॥
[illegible] फलस्य प्राप्तिः खलु सम्भवेच्च । तद्दर्शनादनुक्रमत शिवस्य शिव प्राप्त सदाप्रवदे ॥ ६९ ॥
[illegible] एकोनशतयुतशतानि कूटात् । लक्षा नवैव सुखाप्रपूज्या ह्यन्यूनशतकोट्यतीश्वराश्च ॥ ७० ॥
[illegible] गता शिवे पापविघातनाच्च । यद्दर्शनात्कोटिसुप्रोषधाना फल भवेत् भो बुधसत्तमस्य ॥ ७१ ॥
[illegible] आदिमुनामकूटात् । मुनीश्वरा सप्तसहस्रयुक्ताः पञ्चाधिवयुक्ताः सकलतिदूरा ॥ ७२ ॥
[illegible] नवमत्प्रयुक्ता । गताश्च मोक्षे शुभभावशुद्धाः सच्छर्मयुक्ते खलु निर्व्ययें च ॥ ७३ ॥
[illegible] कूटे सुभावात् । यस्येक्षण भव्यनरोत्तमो वै वन्दे सदा शर्मप्रद शिवाय ॥ ७४ ॥
[illegible] लभेति चतुस्तराश्च । मोक्ष गता सर्वमुनीश्वराश्च सर्वांहनाशात्सुरनाथवद्याः ॥ ७५ ॥
[illegible] फल वर च । मित्राष्टलक्षप्रमप्रोषधानामीडे सदा त शिवदायक च ॥ ७६ ॥
[illegible] मुनिनादे गताश्च । सप्राप्य शर्मं परम ततोवै जगदिदु कर्मविवर्जिताश्च ॥ ७७ ॥

अर्थ—नवल्लनाम कूटमे श्रीमल्लिनाथ भगवान् तथा उनके सुकालमें छयानवे करोड मुनिगण सिद्धपद को प्राप्त हुए। इस कूटके दर्शनसे छयानवे करोड़ उपवासका फल प्राप्त होता है। इस कूटकी वन्दना, चतु-[illegible] सहित [illegible] राजाने की थी। इस संघमें मुनिगणोंकी संख्या बहुत थी ॥ ६८-६९ ॥

[illegible] नामके कूटमे मुनिसुव्रत भगवान् तथा निन्यानवे कोडाकोडि सत्तानवे करोड नव लाख [illegible] मुनिगण [illegible] प्राप्त हुए। इस कूटके दर्शनका फल एक करोड़ उपवासका फल है। इस [illegible] और अतिशय विभूतिके साथ श्रीरामचन्द्र नामके बलभद्रने की ॥७०-७१॥

[illegible] नाम कूटमे श्रीनमिनाथ भगवान् तथा एक अरब नव करोड पैंतालीस लाख सात [illegible] प्राप्त हुए। इस कूटके दर्शनका फल एक करोड उपवासका है। इस [illegible] राजाने किया था ॥ ७२-७४ ॥

[illegible] भगवान् तथा [illegible] मुनिगण [illegible] प्राप्त हुए।
[illegible] इस कूटकी [illegible] संघ सहित [illegible]
[illegible]

[illegible] प्राप्त हो चुके हैं। [illegible]

य: सर्वकूटस्य सुभावशुद्ध्या करोति तस्यैव सुदर्शनं च । वक्तुं फलं तस्य क्षमो न कोपि विना जिनेन्द्रैर्हतकर्मव्यूहै ॥ ७८ ॥
चम्पापुरबहिर्भागमन्दराभिधभूधरात् । वासुपूज्यजिनाधीश शिवस्थाने गतो नृप ॥ ७९ ॥
अन्येपि बहवस्तस्मात्सपाल्य परमं तप. । मोक्षेगु मुनयो धीरा: अत. सोपि नगोत्तम. ॥ ८० ॥
ईशानस्य सुकोणस्थकैलासाद्रे· वृषाधिप. । गतश्च शाश्वते स्थाने आदिनाथो दयापति: ॥ ८१ ॥
यस्मादप्येव सप्राप्ता मुनीन्द्रा· शर्म मत्पदे । उत्पाद्य परमं बोधं भूपा· सहस्रश. खलु ॥ ८२ ॥
अयोध्याया द्विलक्षाश्च पादोना: क्रोशकास्तथा । तस्यानरोहि जानीहि एतावत्प्रमितो नृप ॥ ८३ ॥
सोरठाख्यसुदेशस्य ऊर्जयन्तनगाच्छुभात् । नेमिनाथजिनेन्द्रोहि गतोव्ययपुरे वरे ॥ ८४ ॥

भव्यजीवोंने जन्म, जरा आदि क्लेशोंका नाशकर परम सुख प्राप्त किया है, तो जो कोई भव्य अपने भावोकी विशुद्धिसे मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक समस्त कूटोंका दर्शन करे, उसकी महिमाका वर्णन क्या कहा जा सकता है । उसकी महिमा श्री अरहन्त भगवान् ही कहनेमें समर्थ है ॥ ७७-७८ ॥

अर्थ--हे राजन् ! हे श्रेणिक ! चम्पापुर नगरके बहिर्भागमे एक मन्दराद्रि नामके पर्वतसे श्रीवासुपूज्य भगवान् मोक्षधामको पधारे । मन्दराचल पर्वत श्रीवासुपूज्य स्वामीकी निर्वाणभूमि है । इसलिये यह भी तीर्थ-रूप है ॥ ७९ ॥

अर्थ--इस मन्दराभिध पर्वतसे श्रीवासुपूज्य भगवान्के सिवाय और भी अनेक मुनिगण संयमका पालन-कर मोक्षको प्राप्त हुए हैं । इसलिए यह पर्वत तीर्थभूमियोमें अतिशय उत्तम है ॥ ८० ॥

अर्थ--हे राजन् ! हे श्रेणिक ! ईशान दिशामे कैलाश नामके पर्वतराजसे श्रीवृषभनाथ आदि तीर्थङ्कर युगकी आदिमे मोक्षधामको पधारे । और भी बहुतसे मुनिगण परमबोधको प्राप्त कर उसी पर्वतसे मोक्षपदको प्राप्त हुए । इसलिये कैलाश पर्वत भी निर्वाण भूमि और परमपवित्र तीर्थ है । कैलाश पर्वत अयोध्यानगरसे पौने दो लाख कोश ईशान दिशामे है ॥ ८१-८३ ॥

अर्थ--सोरठ (सौराष्ट्र) देशमें स्थित ऐसे गिरनार (ऊर्जयन्त गिरी) पर्वतसे श्री नेमिनाथ भगवान् निर्वाण पदको प्राप्त हुए ॥ ८४ ॥

[illegible] अस्नेज्वगेगि नपते पूर्वेव भव्योत्तम, प्रादात्तस्य सुरार्चितोवरहृदार्ढ्सवृत्य चित्ते इद ।
[illegible] जिनपति श्रीनेमिनाथाभिधः, अन्येवाघविनाशका मुनिनुत प्रादक्षिणा सम्प्रदा ॥८५॥
[illegible] मनोज्वरगणा [illegible], यस्मात् भो सुग्नाथपूजितपदा कर्मारिविध्वमकाः ।
[illegible] उद्धत मीशाश्च ते, कायाकर्मविवर्जिता मुनिनुता पापाद्रिवज्रोपमा ॥ ८६ ॥
[illegible] पावापुग्सरोवरात् । मुक्ति त्व निश्चयाद्धिद्धि चतु कर्मविनाशनात् ॥ ८७ ॥
[illegible] करिष्यन्ति सुभावत । दर्शन विधिना मर्त्या ये वै भव्यसुकायजाः ॥ ८८ ॥
[illegible] कथय प्रभो । येनैव विधिना वीर करोमि तस्य दर्शनम् ॥ ८९ ॥

अर्थ—जिस ऊर्जयन्त पर्वतको (गिरनार पर्वतको) देखकर भरत चक्रवर्तीने प्रथम ही यह एक बार [illegible] निश्चय किया कि इस पर्वतराज श्रीगिरनारसे भगवान् नेमिनाथ दुष्ट कर्मोंका सहार कर मोक्ष-[illegible]को प्राप्त होंगे। इसलिये देवगणसे पूजित और मुनिगणोंसे वन्दनीय उस पर्वतराजकी तीन प्रदक्षिणायें दीं ॥ ८५ ॥

[illegible]—गिरनार पर्वतको भावो तीर्थ समझ कर प्रदक्षिणा दी और पूजा की।

अर्थ—जिस पर्वतपर मुनीश्वरगण उत्तम ध्यानको धरकर संसारसे पार हो गये, जिसकी देवगण पूजा करते हैं, ऐसे पर्वतपर [illegible] मुनियोंने अपने कर्मोंका नाश किया है। जो भव्यजीवोंको ससाररूपी कूपसे [illegible] गिरनार [illegible] करता है और जो पापरूपी पर्वतके लिए वज्रके समान है ऐसे तीर्थ-[illegible] श्रीगिरनारको [illegible] नमस्कार है ॥ ८६ ॥

[illegible] वर्द्धमान (महावीर प्रभु) स्वामीने कहा कि [illegible] निश्चय समझ। अर्थात् महावीर प्रभुने [illegible] पावापुरके सरोवरसे मोक्षपदको प्राप्त होऊँगा ॥ ८७ ॥

[illegible] दर्शन पूजा [illegible] करेंगे वे [illegible] प्राप्त होंगे। [illegible] श्रेणिक महाराजने महावीर-[illegible] प्रभो! [illegible]

भव्यजीवाहि तस्यैव चार्हा नान्ये कदाचन। तेषा मध्येपि भेदोस्ति तच्छृणु कथयाम्यह ॥ ९० ॥
नरकायुर्बन्धजीवाना तिर्यगायुर्युतात्मना। त्रिकाले नास्ति तेषाहि तदाप्तिर्नात्र सशयः ॥ ९१ ॥
ते तस्य नैव प्राप्तिश्च मा कुरु त्व मलीमष। शुद्धदृष्टे नराधीश भाविकाले जिनस्य ते ॥ ९२ ॥
नरकायु तव बन्धोभूत् मुने- मारणपापतः। अतस्त्व नास्ति योग्यो हि तस्य भो भावितीर्थराट् ॥ ९३ ॥
त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायु- पूर्वबन्धे बबन्ध च। सप्तमस्यैव श्वभ्रस्य त्वया तत्र सुपापिना ॥ ९४ ॥
राज्ञीसयोगतो ते हि प्रलय स गतो नृप। वेदाष्टसहस्रमानो सोमश्वभ्रायुः तेस्ति वै ॥ ९५ ॥
स्थितिबधस्य हानिर्हि गतिबधस्य नो भवेत्। अतो भो मगधाधीश त्व नद् भोक्ष्यसि तत्र हि ॥ ९६ ॥
नरकगत्यानुयुक्ताना तदाप्तिर्नास्ति निश्चयात्। मा दुःख कुरु तस्यैव त्व भावितीर्थनायक ॥ ९७ ॥

शिखरका दर्शन किस विधिसे करना चाहिये ? आप दर्शन करनेकी जो विधि बतलायेंगे, उसी विधिसे हे वीरेश ! मेरी भावना दर्शन करने की है ॥ ८८-८९ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक! श्रीतीर्थराज श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा भव्यजीवोंको ही होती है। अभव्योंको सर्वथा नहीं होती है। भव्यजीवोंमेंसे भी जिन जीवोंके नरक तथा तिर्यंच आयुका बंध नहीं हुआ है उनको ही यात्रा होगी। हे श्रेणिक महाराज! तुझको उस पवित्र तीर्थराजके दर्शन होने दुर्लभ हैं क्योंकि तू इसके योग्य नही है। तूने मुनीश्वरको मारनेके भावोंसे नरककी आयुका बंध किया है। यद्यपि तू भावी तीर्थेश है तो भी नरकायुका बंध होनेसे तुझको दर्शन होना दुर्लभ है। इसलिये मनमें इसका खेदभाव न कर ॥ ९०-९२ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज! मुनिके मारणके समय तेरे ऐसे अशुभभाव उत्पन्न हुए कि जिससे तेरी नरककी गति और उसमें तैंतीस सागरकी आयुका बंध हुआ। परन्तु चेलना रानीके संयोगसे फिर भी मुनिके दर्शन कर पुण्य सम्पादन करनेके भाव तेरे हुए। और तूने जो पाप किया था, उसकी निन्दा, गर्हा आदि हो जानेसे तूने अपनी नरककी स्थिति बंधको कम कर दिया, अर्थात् तैंतीस सागरसे घटा कर ८४००० हजारकी स्वल्पायु हो गई। परन्तु नरक आयुका बंध नहीं छूटा। आयुबन्ध नहीं छूटता है परन्तु स्थितिबन्ध कम हो जाता है। इसलिये हे श्रेणिक तुझको श्रीतीर्थराजका दर्शन होना दुर्लभ है। परन्तु हे भावी तीर्थराट्! इसका तू अब विचार मत कर। इसका एक उदाहरण मैं बतलाता हूँ उसको श्रवण कर जिससे संतोष होगा ॥ ९३-९७ ॥

सर्वविद्याधिपो भूप दशाननसमाह्वय. । भूचरै खेचरैर्वंद्यः त्रिखण्डावनिपालक ॥ ९८ ॥
दिग्गोप गतो यत्र वने सिद्धाचलस्य वै । दर्शनं नोऽभजत् तूर्णमाजगाम स्वमास्पद ॥ ९९ ॥
अनेकास्न महीपाला नो प्रापु तस्य दर्शन । मध्यभागात् समाजग्मु स्वालय मगधाधिप ॥ १०० ॥
सगरो मघवा चक्री सनत्कुमारसञ्ज्ञकः । आनन्दाह्वयभूपेन्द्रो प्रभाश्रेणिकनामभाक् ॥ १०१ ॥
सोमकाभिधराजेन्द्रो ललितदत्तसञ्ज्ञक । कुन्दप्रभसमाख्यातो नाम्नाहि शुभश्रेणिक. ॥ १०२ ॥
नरदत्तो भूपतिश्च सोमप्रभो नृपोत्तम. । पुनरविचलभूपाल आनन्दश्रेणिको नृपः ॥ १०३ ॥
सुप्रभो नृपतिश्चैव चारुश्रेणिकसञ्ज्ञक. । भावदत्तकभूपालः सुन्दरो नरनायक ॥ १०४ ॥
सामनन्द्राभिधो भूपस्तथा अमरश्रेणिक । सुवमन्तो महीपाल पुण्यवान् तेजोवान् गुणी ॥ १०५ ॥

अर्थ—सर्व विद्याका स्वामी भूचर और विद्याधर राजाओंसे पूजित महासत्ताधारी तीन खण्डका स्वामी ऐसा रावण कार्य प्रसगसे सम्मेदशिखरके वन समीप जानेपर भी उसको तीर्थराजका दर्शन नहीं हुआ । क्योंकि रावणने उसके प्रथम नरकायुका बन्ध किया था । इसलिए इस उदाहरणसे हे श्रेणिक महाराज ! नरक आयुका बंध करनेवाले जीवोंको श्री तीर्थराजका दर्शन नहीं होता है । ऐसे अनेक राजगणोंको इसी कारणसे इस तीर्थराजके दर्शन नहीं हुए । तीर्थराजके जानेके पहले-पहले ही उनको जबरन पीछे वापिस आना पड़ा । इसलिए हे मगधाधीश ! तुम इसका प्रयत्न मत कर ॥ ९८-१०० ॥

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! निम्नलिखित राजाओंने श्री सम्मेदशिखरकी चतुर्विध संघ सहित और [illegible] यात्रा की । अर्थात्—[illegible] अपने-अपने तीर्थंकरके समयमें उतने संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) [illegible] की, [illegible] कराई, इस कूटसे अमुक तीर्थंकर मोक्षको पधारे हैं, [illegible] प्रसिद्धि [illegible] की । उन राजाओंके शुभ नाम—

[illegible] १ मघवा २ सनत्कुमार ३ आनन्दकुमार ४ प्रभासेन ५ सोमक ६ ललितदत्त ७ कुन्दप्रभ ८ [illegible] १२ सुप्रभ १४ चारुसेन १५ भावदत्त १६ [illegible] २० । [illegible] पुण्यवान्, तेजस्वी [illegible] गुणवान् [illegible] ॥

इमे विख्याततां जाता भव्याः संघाधिपा नृपा । यात्रायाः करणात्तस्य त्वया ज्ञेया न संशयः ॥ १०६ ॥
सिद्धवरादिकूटानां प्रतिष्ठाकारका इमे । अन्येषां नोहि संख्या च ज्ञेया भो चेलनापते ॥ १०७ ॥
इमे सर्वे नराधीशा मुक्तिमीयुः नरेश्वर । केवलं दर्शनेनैव संभुक्त्वा राज्यसंपदा ॥ १०८ ॥

श्रीसम्मेदशिखरयात्राया विधिः

(श्रीसम्मेदशिखरयात्रायाः विधिं प्रवक्ष्ये चित्तसमाधिना यूयं शृणुथ)

अथादौ चतुर्दिशासु भव्यान् प्रति यात्रासूचकानि पत्राणि प्रेषणीयानि । पश्चात् स्वनगरस्थ जिनालयमध्ये भव्यजनैः सह पञ्चकल्याणकाभिधमण्डलस्य विधिः करणीयः । पुनः जिनाग्रे इति जाप्यं कर्तव्य—ॐ अनन्तानन्तप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु-श्रीसम्मेद

अर्थ—उपरोक्त राजगण संघाधिप (संघपति) के पदसे प्रसिद्ध हुए। समस्त प्रजाने इन राजगणोंको श्रीसम्मेदशिखरकी चतुर्विध संघ सहित और प्रतिष्ठा करनेके लिए ही संघपति पद प्रदान किया ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे मगधाधिप ! उपरोक्त संघपति राजाओंने विधिपूर्वक संघ सहित और सिद्धवर कूट आदि कूटकी प्रतिष्ठादि करा कर यात्रा की, इसलिये वे सब मुक्तिको प्राप्त हुए। इनके सिवाय असंख्य राजा श्री सम्मेदशिखरकी यात्राको गये और उत्तम सुख प्राप्त किया। इसलिये श्रीसम्मेदशिखरकी महिमा अपरम्पार है। उसके दर्शन करनेसे भव्यजीवोंको सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है ॥ १०७-१०८ ॥

श्री सम्मेदशिखर यात्रा करने की विधि

अर्थ—हे श्रेणिक महाराज ! अब श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा किस प्रकार करनी चाहिये, उसकी विधि बतलाते है। तुम उसे एकाग्रचित्तसे सुनो।

श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा करनेवाले भव्योत्तमको सबसे प्रथम चतुर्विध संघसहित यात्रा करनेके अपने भावोको सूचित करनेवाली कुंकम पत्रिका प्रत्येक ग्रामोंमें आदरके साथ भेजनी चाहिये। फिर अपने नगरमें समस्त भव्यजनोंके साथ जिनालयमें अतिशय ठाठ-बाट और भावभक्तिसे जाकर पंचकल्याणक विधानका मण्डल बनाकर पूजा करनी चाहिये। भव्यजीवोंको भोजन पान आदिके द्वारा आदर-सत्कार करना चाहिए। पूजा पूर्ण

शिखरयात्रामहं करिष्ये । जातीपुष्पैश्चाष्टोत्तरशतप्रम । पश्चात् सिद्धमन्त्रभि सिद्धज्या कृत्वा । पश्चात् जिनेश्वरस्य विंब रथस्थहर-[illegible]मध्ये स्थापयित्वा तदुपरि छत्रचन्द्रोपकचामरादिमच्छोभा करणीया । चतुर्विधवादित्राणा अग्रे शब्दोत्करा कर्तव्याः । यदि द्रव्यशक्तिविशेषा स्यात्तर्हि–मुनि–आर्यिकाभिश्च श्रावकश्राविकाभिः साकं गमनं कर्तव्यं ।

'नमोऽस्तु सर्वसिद्धेभ्य" इति मार्गे जाप्य जपनीय चतु पञ्चकोशप्रमाणमेव गमन करणीय । सर्वजीवशमप्राप्त्यर्थं । स्वः [illegible] [illegible]–[illegible] यथार्थं [illegible]मेव माला करे गृहीत्वा विना वाहनमेव मुनीशिना सार्द्धं गमन कर्तव्य भोजनमप्येक-[illegible] [illegible] । ब्रह्मचर्यं पालनीय । सर्वेषां चतुर्विध सघस्थ भव्यमर्त्यानां वैयावृत्य करणीय । केषामपि स्यादपानादिषु दुःख न

हो जानेके बाद "ॐ अनन्तानन्तप्रमसिद्धकरेभ्यो नमोस्तु श्रीसम्मेदशिखर यात्रामहं करिष्ये" इस मन्त्रके द्वारा [illegible] आठ (१०८) जुईके फूलोंसे जाप देनी चाहिये । फिर सिद्धमन्त्रोंके द्वारा सिद्ध भगवान्की पूजा भाव-[illegible] और उनके गुणोंके चिंतवन द्वारा करनी चाहिये । फिर श्रीजिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाको रथमें विराजमान करना चाहिये । रथका शृंगार करना चाहिये । रथको सुन्दर सिंहासन, छत्र, चमर, चन्दोवा, घण्टा, [illegible], [illegible], [illegible], अष्टमंगल द्रव्य आदि मंगलद्रव्योंसे सुशोभित करना चाहिये। चार प्रकार वादित्रों [illegible] उत्सवपूर्वक भगवान्के रथको आगे रखकर गमन करना चाहिए। जो द्रव्यकी शक्ति हो तो मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाके समूह कर चतुर्विध संघके साथ गमन करना चाहिये। सबके योग्य वाहन आदि की व्यवस्था कर [illegible]पूर्वक गमन करना चाहिये। जिससे समस्त भव्यगणोंको सन्तोष हो और विशुद्ध भाव रहें।

मार्गमें "नमोऽस्तु सर्वसिद्धेभ्यः" इस मन्त्रकी जाप्य देनी चाहिये। जाप्य स्फटिक मणिकी सफेद हो। [illegible] करना चाहिये। संघपतिको सफेद वस्त्र ही धारण करना चाहिये। समस्त जीवोंके [illegible] चार-पांच कोस ही गमन करना चाहिये। संघपतिको वाहनके बिना पैदल मुनिगणोंके [illegible] करना चाहिये और दूसरे [illegible] उनके योग्य वाहनादिकी व्यवस्था कर देनी [illegible] करना चाहिये और ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए। संघमें सबकी [illegible] करना चाहिये। किसीको किसी प्रकारका [illegible] पूर्ण सावधानी रखना

देय नित्यश सर्वेषा न्यादपानादिना सन्तोपणीय । पंचामृतरसैर्जिनेन्द्रस्य मार्गे वासर प्रति स्नान करणीय । पश्चात् वसुविध द्रव्योत्करैः पूजा कर्तव्या । दीन जनाय मार्गे दान सदा देय । वस्त्र भोजन पानादिक । इत्यादि शुभविधिना सो वन्दितः सन् द्वितीयेहि भवे त पुरुष मोक्षसुख दातु क्षमः । नात्र सशय ।

यदि गृहे द्रव्यस्य होनता स्यात् तर्हि सम्मेदाचलस्य एव यात्रा करणीया—मन्त्र जाप्य सैव सिद्धेज्या सैव कर्तव्या । न्यादमप्येकवार सहब्रह्मचर्यं च । वाहन विना गमन कार्यं । गवाश्व वा क्रमेलकमगालितमुदक नो पानीय । तेपा खानपानेषु महद्यत्न रक्षणीय वालवृद्धाना दु ख नो दातव्य नि.शल्यः सन् पथि सदा गमन कर्तव्य—स्नानपूजादानकार्यादीन् कुर्वन् सन् ।

चाहिये । किसी भी जीवको अन्न, पान आदि का जरा भी कष्ट न हो ऐसी व्यवस्था करना चाहिये । सबको सुन्दर भोजन पानके द्वारा नित्य ही सन्तोष कराना चाहिये ।

मार्गमें श्रीजिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाका पंचामृतके द्वारा अभिषेक करना चाहिये । और फिर आठ द्रव्यके समूहसे उत्सवके साथ पूजा प्रभावना करना चाहिये । दीन, अनाथ, दुःखी जीवोंको करुणा दान भोजन वस्त्रादिक देना चाहिये ।

उपरोक्त विधिसे जो भव्यजीव श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा चतुर्विध संघ निकाल कर करता है । वह दूसरे ही भवमे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है । इसमें सन्देह नही ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! यदि द्रव्यके अभावके कारण संघ चलानेकी (शक्ति न हो तो) सम्मेदाचलकी यात्रा इस प्रकार करनी चाहिये—

पूर्व प्रकरणमें जो जाप्य बतलाई है वह तो नित्य देनी ही चाहिये । सिद्ध भगवान्की पूजा जो प्रथम बतलाई वह भी उसी प्रकार करनी चाहिये । भोजन भी एकबार करना चाहिये और ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए । वाहन बिना ही पैदल यात्रा करना चाहिये ।

गाय, बलद या गाड़ी, घोड़ा आदि जो वाहन अपने साथमें हो तो उनको पानी छानकर पिलाना चाहिये, खान-पानमे किसी प्रकारका दुःख न हो ऐसी सुन्दर व्यवस्था रखनी चाहिये । अपने संघमें बालक, स्त्री, वृद्ध, पुरुष होवें, उनकी सेवा सुश्रुषा उत्तम प्रकारसे करनी चाहिये । किसीको किसी प्रकारका कष्ट न हो । मार्गमे दान, पूजा आदि करता हुआ निःशल्य गमन करे । किसी प्रकारकी सकल्प भावना न करे । और

भो मगधाधिप य कलौभव्य पुमान् एव तस्य सम्मेदाचलस्य यात्रा करिष्यति स पचमे वा दशमे भवे शिवाभिधे पुरे यास्यति। यदि एतादृश्यपि शक्तिर्नास्तिचेत् तदपि शक्त्यनुसारत. तस्य पर्वतस्य यात्रा कर्तव्या। अवश्यमेव यूय मोक्षे यास्यथ॥

भो भव्या शक्त्या लोपन मा कुरुध्व। अस्य दर्शनमात्रेण सर्वपापालयः प्रलय यान्त्येव नात्र सन्देह.॥

ये [illegible] नरा मगधाधीश ह्यनेन विधिना कलौ। यात्रा सम्मेदशैलस्य करिष्यन्ति शिवास्पदं॥ १॥
यास्यन्ति क्रमत कर्मसन्तते नाशनात् खलु। प्राप्य समारज शर्मं देवमानुष्ययोनिषु॥ २॥
[illegible]हनेन भो भूप करिष्यन्ति नराश्च ये। यात्रा तस्य भविष्यति कदा मोक्ष च तच्छृणु॥ ३॥
[illegible]भव भूत्वा शिवस्थान च ते ननु। तदग्रे नैव स्थास्यन्ति ससारे दु खसभृते॥ ४॥
[illegible] शिव येहि वाहनेन विना नृप। यात्रा सम्मेदशैलस्य यास्यन्ति ते कदा शृणु॥ ५॥
[illegible]भवज शर्मवारिधिम्। भुक्त्वा नरेन्द्रदेवादियोनिषु तत्प्रभावतः॥ ६॥
[illegible] यास्यन्ति नै मोक्षमनन्तशर्मदायक। सर्वपापविनिर्मुक्तमभव्यजनदुर्लभम्॥ ७॥

[illegible] अपने साथ यात्रा करनेके लिए आये हों उनकी यथेष्ट सहायता करें। इस प्रकार यात्रा करनेसे पाँचवें [illegible] भवमें मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है।

[illegible]—हे मगधेश्वर! यदि पूर्वोक्त प्रकारकी शक्ति न हो तो शक्तिके अनुसार यात्रा करनी चाहिये। [illegible] आदि [illegible] शक्तिको नहीं छिपाना चाहिये। जो भव्यजीव नि शल्य भावोसे शक्तिको नहीं [illegible] सम्मेदशिखरकी यात्रा करेगा, वह नियमसे मोक्षको प्राप्त होगा।

[illegible] दर्शन मात्रसे ही समस्त पाप नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं है।

[illegible] जो कोई [illegible] इस विधिसे [illegible] श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा करेगा, वह [illegible] सुखोंका भोग कर क्रमसे निर्वाण पदको [illegible] भी प्राप्त करेगा॥ १-२॥

[illegible] यात्रा [illegible], उसका मोक्ष कब [illegible] होगा। [illegible] नहीं रहेगा॥ ३-४॥

[illegible] मोक्ष [illegible]

[illegible]

तनो वै यदि सामर्थ्यं नास्त्येव मार्गचालने । तदाहि वाहनेनैव कर्तव्य तस्य दर्शनम् ॥ ८ ॥
सामर्थ्यं विद्यते मूढा तस्य यात्रा च ये नरा । करिष्यत्येत्र वै मोक्षो अश्वयानादिवाहनै ॥ ९ ॥
अत्यैव दूरो तेषा च सामर्थ्यलोपपापत । मा कुरुध्वमहो भव्या सामर्थ्यलोपन ह्यत ॥ १० ॥
कलौ भूप तप कार्ये सर्वेषा नृणा खलु । नो भविष्यति सामर्थ्यं तदृते शर्मसर्तति ॥ ११ ॥
अत. सकलसौख्याप्त्यै सा काया वाहनादृते । तदाहि सफला शोघ्र भविष्यत्येव निश्चयात् ॥ १२ ॥
कोटिपूर्वकृत ध्यान श्मशानाद्रिगुहादिषु । तदधिक भवत्येव फल तद्दर्शनात् नृणा ॥ १३ ॥
नैव सिद्धि तपस्योच्चैः ध्यानस्यैव कदाचन । तस्मिन् काले ह्यतो भूप सा यात्रा सर्वसिद्धिका ॥ १४ ॥
तस्य यात्रासम नास्ति ह्यपर पुण्यकारण । अतो भव्याः शिवाप्त्यर्थं कुर्वीध्व ता मुदा सदा ॥ १५ ॥

सब पापोसे रहित ऐसे मोक्षमें वे भव्य जीव बारहवें भव पर्यन्त जायेंगे, मोक्षको नियमसे प्राप्त करेंगे । अभव्य-जीवोंको यह यात्रा होना दुर्लभ है ॥ ५-७ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो शरीरमें शक्ति नही हो तो सवारी (वाहन) से ही सम्मेदशिखरकी यात्रा करनी चाहिये । उससे भी वही मोक्ष फल प्राप्त होगा । परन्तु सामर्थ्यके होते सन्ते, घोड़ा, यान, डोली आदि पर बैठकर यात्रा नही करनी चाहिये । यदि करेगा तो सामर्थ्य लोप करनेसे भावोमे कुटिलता प्राप्त होती है, जिससे भावोंमें विशुद्धि नही होती है । इसलिये सामर्थ्यका लोप नही करना चाहिये ॥ ८-१० ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! पंचमकालमें उत्कृष्ट तपश्चरण करनेकी शक्ति मनुष्योंमें नहीं होनेसे मोक्ष सुख प्राप्त होनेमें कठिनता प्रतीत होती है । परन्तु जो भव्यजीव वाहनके बिना भावभक्तिसे पैदल श्रीसम्मेदशिखर की यात्रा करते है, उनको समस्त प्रकारके सुख स्वयमेव प्राप्त होते है इसमें सन्देह नही है ॥ ११-१२ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो पर्वत श्मसान आदि भूमिमें करोड़ पूर्व वर्ष पर्यन्त ध्यान किया जाय उससे उतने कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है, जितनी कि सम्मेदशिखरके दर्शन भावपूर्वक करनेसे होती है ॥ १३ ॥

अर्थ—इस पंचमकालमें न तो तप है, न ध्यान है । केवल सम्मेदशिखरकी यात्रा ही समस्त प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाली है ॥ १४ ॥

अर्थ—श्रीसम्मेदशिखरकी यात्राके समान अन्य दूसरा कोई भी पुण्यका कारण नहीं है। इसलिये मोक्ष

एकवारमपि त च वदयिष्यन्ति ये नरा । अनुक्रमाच्च यास्यन्ति शिवेऽव्यये धराधिप ॥ १६ ॥
मा कुरुध्व तपोवृन्दं भो भव्याः ध्यानसहतिं । समं प्रत्येकवार च आमृत्यु तस्य दर्शनम् ॥ १७ ॥
भजध्व नेन पुण्येन केवलेन शिवास्पदे । यास्यथ नात्र सदेहो द्वितीये हि भवेऽव्यये ॥ १८ ॥
तस्य विंशतितमस्यैव कूटाना दर्शनात् नृप । कोटिश' प्रोपधाना च फलोत्पत्तिश्च जायते ॥ १९ ॥
तत्फलात् कर्मवृन्दाश्च नाश यान्त्येव तत्क्षणे । अग्रे अव्ययगोत्रस्य वंधोत्पत्तिः प्रजायते ॥ २० ॥
विना वाहनतो य च तस्य दर्शनत शिवे । द्वितीयेहि भवे भूप इतरा यास्यति क्रमात् ॥ २१ ॥
अस्य दर्शनमात्रेण कुष्टाद्या• नागता गता । रोगिणा सकलातकाः ऋद्धयाप्तिः ऋद्धिकाक्षिणा ॥ २२ ॥
पुत्रार्थिनाता नेव जाताहि नेलनाप्रिय । पुत्रोत्पत्तिर्धनोत्पत्तिः राज्योत्पत्तिः शिवस्य च ॥ २३ ॥

की प्राप्तिके लिये भव्यजीवोंकी यात्रा करनी चाहिये । जो कोई एकवार भी उस पर्वतराजकी वन्दना भाव-भक्तिसे करता है वह अवश्य ही अनुक्रमसे मोक्ष सुखको प्राप्त होता है ॥ १५-१६ ॥

अर्थ—हे भव्यजीव ! जो तप और ध्यान करनेकी तुझमें शक्ति नहीं तो मत कर, परंतु अपनी पर्यायमें वार-वार सम्मेदशिखरकी यात्रा कर । जिससे अवश्य सुखको प्राप्त होगा । और जो चतुर्विध संघ सहित विधि-पूर्वक यात्रा करेगा तो दूसरे ही भवमें मोक्षसुख को प्राप्त होगा ॥ १७-१८ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो कोई भव्यजीव बीस कूटके दर्शन करता है, उसको करोड़ों उपवासका फल प्राप्त होता है जिससे कर्मसमूहका नाश होता है । और मोक्षपदके योग्य उत्तम गोत्रका बंध होता है॥१९-२०॥

अर्थ—हे राजन् ! जो भव्यजीव वाहनके बिना श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा व दर्शन करे तो वह दूसरे ही भवमें मोक्ष प्राप्त होता है । और वाहन सहित यात्रा करनेवालोंको अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त होती है ॥ [illegible] ॥

[illegible] इसके दर्शन मात्रसे [illegible] उनके कुष्ठरोग आदि भयानक रोग [illegible] चाहनेवालोंको [illegible] प्राप्ति होती है । पुत्रार्थीको [illegible] और [illegible] । [illegible] सम्मेदशिखरके दर्शन [illegible] है ॥ २२-२३ ॥

अस्मात्किमपि नो सति दुर्लभा' दुर्घटा सुखाः। शिवशर्मस्य संप्राप्तिर्जायते ह्यपरेण किम् ॥ २४ ॥
भो भव्या- शिवप्राप्त्यर्थं कुरुष्व तस्य दर्शनं। चतुर्विधेन सघेन तथा शक्त्यनुसारत ॥ २५ ॥
अस्मिन् काले नराणा च मतो भो मगधाधिप। श्रीमच्छिखरसम्मेदान्नान्योपायः शिवस्य वै ॥ २६ ॥
पद्भ्यामेव च कर्तव्या सम्मेदभूभृत- खलु । सकलकर्मनाशार्थं तूर्णमेव शिवाप्तये ॥ २७ ॥
यत्रत्या सकला जीवा सिंहसर्पादिका नराः। भव्या- स्यु इतरेपा च उत्पत्तिर्नैव तत्र वै ॥ २८ ॥
केचिदासन्नभव्यास्ते केचित् दूरतरा खलु। शिवयोग्याश्च सर्वे स्युः नायोग्या मगधेश्वर ॥ २९ ॥
सदातिशयसयुक्त- खगामरादिवंदित । फलपुष्पोत्करै' सोद्रिः सदा भात्येव सुन्दरः ॥ ३० ॥

अर्थ—इस पर्वतराजकी वन्दना और दर्शनके पुण्यसे संसारमें कोई भी वस्तु दुर्घट नहीं है। सब प्रकार के दुर्लभ सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते है। जब इसकी वन्दनाका फल मोक्षके सुखोकी प्राप्ति है, तब अन्य साधारण सुखोकी प्राप्तिमें आश्चर्य ही क्या? इसलिये हे भव्य मोक्ष सुखकी प्राप्तिके लिए तीर्थराज श्रीसम्मे-दाचलके दर्शन चतुर्विध संघ निकाल कर अतिशय भावभक्तिसे कर। ऐसी शक्ति न हो तो स्वशक्तिके अनुसार ही दर्शन (वन्दन) कर ॥ २४-२५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर! पंचमकालमें मोक्षकी प्राप्तिका सरल उपाय है तो एकमात्र श्रीसम्मेदशिखरकी यात्रा पैदल (बिना सवारी) ही करना चाहिये, जिससे समस्त कर्मोंका नाश होकर मोक्ष सुखकी प्राप्ति हो ॥ २६-२७ ॥

अर्थ—हे राजन्! जिस सम्मेदशिखर पर समस्त जीव मात्र भव्य हैं। सिंह, सर्प आदि क्षुद्र जीव भी भव्य ही है वहाँ पर अभव्य उत्पन्न नहीं होते हैं। इसका यह भाव है कि वृक्षादिक एकेन्द्रिय जीव भी वहाँ पर भव्य ही है ॥ २८ ॥

अर्थ—हे राजन्! सम्मेदाचल पर कितने ही तो आसन्न भव्यजीव हैं। कितने ही दूर भव्य है। परंतु वे सब मोक्ष जानेके योग्य ही है। जिनको कभी मोक्ष होनेवाली नही है ऐसे जीव वहाँ पर उत्पन्न हो नही होते हैं ॥ २९ ॥

अर्थ—हे राजन्! वह तीर्थराज अतिशय चमत्कार सहित है। देव, विद्याधरादिसे सदैव पूजित है।

वराहहरिसर्पादिजीवात् यत्र भयो न च। तद्यात्राकारिणा भूप तत्रत्याः मृदुमानसाः ॥ ३१ ॥
यस्माद् ध्यानादितो मोक्षे अनन्तानन्तशो जिना । गताश्च तस्य किं भूप महिमा च करोम्यहम् ॥ ३२ ॥
कलौ तद्दर्शनेनैव तरिष्यन्ति घना जनाः । भव्यराशिसमुत्पन्ना नोऽभव्याः तस्य दर्शकाः ॥ ३३ ॥
देवायुर्बन्धजीवाना मनुष्यायुर्युतात्मनाम् । तस्याप्तिः सम्भवेन्नून इतरेषा च नो भवेत् ॥ ३४ ॥
कुरुष्व त्व हृदि स्वस्थ स्मरण भावशुद्धित । तस्य सम्मेदशैलस्य तद्धि तद्दर्शनोपमम् ॥ ३५ ॥
प्रात मध्याह्नसायाह्ने भो भव्या॰ त हृदि सदा । चिंतयथाष्टकमरि- घातार्थं घातनक्षमम् ॥ ३६ ॥
उत्तादिमहिमा स्वामी त प्रति भव्यबोधक. । सम्मेदाद्रेश्च आचख्यत् स सर्वेषा सुखाप्तये ॥ ३७ ॥
विभो ध्वनिमिति श्रुत्वा पुनर्द्वापरहानये । इमा प्रश्नावलिं चक्रे स्वात स्था भव्यबोधदाम् ॥ ३८ ॥

फल-फूल आदि लताओंसे रमणीय है । यहाँ पर सर्प, सिंह, सूअर आदि क्रूर प्राणी यात्रीगणोंको बाधा नही देते हैं । यह एक विचित्र अतिशय है क्योंकि ये क्रूर प्राणी होकर भी सदैव भद्रपरिणामी हो वहाँ पर रहते हैं ॥ ३०-३१ ॥

अर्थ—जिस सिद्धाचल तीर्थरूप श्रीसम्मेदशिखरसे ध्यानको धारण कर अनन्त तीर्थङ्कर मोक्षधामको पधारे हैं, उसकी महिमाका क्या वर्णन किया जाय ? कलिकालमें उस तीर्थराजके दर्शन मात्रसे ही बहुतसे प्राणी संसारसमुद्रसे पार होंगे । भव्यजीवोंको ही उसका दर्शन होता है अभव्यको नही । भव्योंमेंसे भी जिन जीवोंको देवायु [illegible] बंध है उनको ही तीर्थराजका दर्शन होगा । अन्यको सर्वथा नहीं होगा ॥ ३३-३४ ॥

[illegible]—हे मनमोहन । तू अपने हृदयमें भावशुद्धिसे उस तीर्थराज श्रीसम्मेदशिखरका स्मरण कर । यह स्मरण [illegible] दर्शनके समान ही फलका प्रदान करनेवाला है । जो भव्यजीव प्रातःकाल, मध्याह्नकाल [illegible] स्मरण करता है वह कर्मोंका नाश करता है । इस प्रकार अचिन्त्य महिमा [illegible] प्रभुने कहा ॥३५-३७॥

[illegible] प्रसन्न हुआ [illegible] ॥ ३८ ॥

रोगाधिप महावीर अस्य नु केन कर्मणा । निकोते. बन्धनप्राप्तिर्जायते परमेश्वर ॥ ३९ ॥
भो जिनेन्द्र दयाधीश कर्मणा केन गच्छति । जीवोसौ नरके घोरदुखसहतिसभृते ॥ ४० ॥
नाके व्रजति भो नाथ केन वै शुभकर्मणा । तिर्यंचाख्य च दुर्योनिं लभते केन कर्मणा ॥ ४१ ॥
मर्त्ययोनिं न द्विभेदा केन प्राप्नोति कर्मणा । स्त्रिया ना भो जिनाधीश नु वामा केन कर्मणा ॥ ४२ ॥
क्लीवकाभिधदु कर्म भो स्वामिन् अस्य नुश्च वै । भवति कर्मणा केन अल्पायुर्नामभाक् च वै ॥ ४३ ॥
दीर्घायुर्मो जिनादित्य भवेदस्यैव केन वै । कर्मणा सार्वतोर्थेश कथ भोगी ह्यय भवेत् ॥ ४४ ॥
विधिना केन वीरेश चाभोगी वा सुखी दुखी । भवेदय महावीर सुबुद्धिमान् कुबुद्धिमान् ॥ ४५ ॥
विद्वत्व चैत्र मूर्खत्व धैर्यत्व केन कर्मणा । लभते चैत्र भीरुत्वमयं देही जिनेश्वर ॥ ४६ ॥
देहिनः सकलार्थज्ञ विद्या भवति निफला । विधिना केन अस्यैव भवत्यर्थस्य हानिता ॥ ४७ ॥
कर्मणा केन प्राप्नोति द्रव्योध वा स्थिरत्वता । कर्मणा केन जीवन्ति पुत्रपौत्रोत्कराश्च नो ॥ ४८ ॥
भवन्ति बहव पुत्रा विधिना केन कर्मणा । भवत्यय दरिद्री च बहुवित्तपतिस्तथा ॥ ४९ ॥
आतङ्की वा निरातङ्की भवति केन कर्मणा । जात्यधः अधकश्चैव अय जीवो दयापते ॥ ५० ॥

प्र०—हे वीर ! सर्वज्ञ ! हे दयापते ! यह जीव निगोदमें कौन पापके करनेसे जाता है ? नरकमे कौन पापके फलसे प्राप्त होता है ? तिर्यंच कौन-कौन कार्यसे होता है । मनुष्य गतिको कौन-कौनसे कारणोसे प्राप्त करता है । स्त्रीपर्याय कौन-कौनसे कारणोंसे प्राप्त होती है । नपुंसक कौन-कौनसे कारणोसे प्राप्त होता है । इस जीवकी स्वल्पायु किस कारणसे होती है और दीर्घायु किस कारणसे होती है । समस्त पदार्थोंका भोगनेवाला किस कारणसे यह जीव होता है । और अभोगी कब होता है । सुखी और दुःखी किन-किन कारणोंसे होता है । बुद्धिमान्, कुबुद्धिमान्, विद्वान्, मूर्ख, धैर्यशाली, अधैर्यवान्, भीरु, निर्भय आदि किन-किन कारणोंसे होता है ॥ ३९-४६ ॥

अर्थ—धनी, दरिद्री, पुत्रवान्, अपुत्र, दुखी, सुखी, रोगी, निरोगी, अंधक, नेत्रवान्, भाग्यशाली, भाग्यहीन, भोजनादि सामग्रीसे परिपूर्ण और शून्य गृही किन-किन कारणोंसे होता है ।

अर्थ—कोढ़ी, खजा, मानहीन, हीनांग, विकल, टूटा, पंगु, मूक, बधिर, कुरूपी, रूपवान् आदि किन-किन कारणोंसे यह जीव होता है । विधवा और शीलवान् किन-किन कारणोंसे जीव होता है ।

न्यादो नो जीर्यते वीर अस्य नु- केन कर्मणा । कुष्टित्व चैव दासत्व खजत्व मानहीनता ॥ ५१ ॥
हीनांगो भवति केन विधिना टुटकस्तथा । पगुमूक- कुरूपो हि रूपसम्पत्तिभाक् तथा ॥ ५२ ॥
शरीरखेदयुक्तो वा भवति केन कर्मणा । तद्धीनो भो जिनसिंह अय देही च्युतोपम ॥ ५३ ॥
केन दु कर्मणा स्वामिन् अय पचेन्द्रिय- पुमान् । भवत्येकेन्द्रियो नून सर्वतत्वप्रकाशक ॥ ५४ ॥
स्थिरो भवति अस्यैव ससारोय कुकर्मणा । केन तुच्छैव ससारः सार्व भो परमेश्वर ॥ ५५ ॥
विधिना केन अस्यैव अष्टाना कर्मणा प्रभो । ग्रन्थी सजायते वीर ग्रथितश्चैव नाशता ॥ ५६ ॥
केन केन प्रयोगेण वधो भवति अस्य वै । कर्मगामष्टसख्याना भो भव्यजनभाववित् ॥ ५७ ॥
विधिना केन वामाश्च भवन्ति विधवा- प्रभो । शीलव्रतप्रयुक्ताश्च नि शीला- व्रतविच्युता ॥ ५८ ॥
त्व भो नाथ ख्यायते जितरिपो त्व सर्वदर्शी सदा । त्व सर्वज्ञ महामुनिः जितभयः त्व सर्वदेवाधिपः ॥ ५९ ॥
मे सन्देहविनाशने त्वमसि भो नान्य क्षमो भूतले । तस्मात्त्व वद उत्तर शिवप्रद प्रश्नावले सन्मते ॥६०॥
[illegible] प्रश्नावलि श्रुत्वा कृता च श्रेणिकेन वै । इत्याह त प्रति वीरो भव्य त्व उत्तरान् शृणु ॥ ६१ ॥
[illegible] कर्माणि एकैव मगधाधिप । बध्यते तत्फल नैव एकैव भुज्यते खलु ॥ ६२ ॥
[illegible] दुष्टा महान्तो इन्द्रियास्तथा । विकथा [illegible] ॥ ६३ ॥
[illegible] मिथ्यात्व [illegible] । षट्त्रिंशद्भिः [illegible] जीवो [illegible] ॥ ६४ ॥
[illegible] कुकर्मभि । [illegible] नास्ति [illegible] भवेत् ॥ ६५ ॥

संसारका नाश करनेवाला और दीर्घ संसारी किन-किन कारणोंसे होता है ।

अर्थ—इत्यादि बहुतसे प्रश्नोंको श्रेणिक महाराजने वीर प्रभुसे किये और कहा कि हे सर्वज्ञ ! हे [illegible] आपके बिना मेरा सन्देह दूर नहीं होगा, इसलिये समस्त जीवोंके उपकारार्थ समाधान कीजिये । [illegible] अपने प्रश्नोंका उत्तर सावधान होकर श्रवण कर ॥४७-६१॥

[illegible] जीवोंके शुभाशुभ परिणाम ही बन्धके कारण हैं । जीव अपने शुभाशुभ भावोंसे [illegible] फल भी [illegible] ही भोगता है ॥ ६२ ॥

[illegible]

[illegible] ॥६३-६५॥

पशून् हन्ति च यो मर्त्यो मास भक्षति वाधम. । अलीक च वदत्येव मधु मद्य पिवत्यहा ॥ ६६ ॥
अवलामपरमर्त्यस्य वचत्येव सुसुन्दरा । दृष्ट्वा प्रयोगमन्त्राद्यैरन्योपायोत्करैस्तथा ॥ ६७ ॥
जिनधर्मं च सिद्धात सद्गुरु गुणमण्डित। सघ चतुर्विध चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ ६८ ॥
हरत्येव परस्व च कौटिल्यादिकुकर्मभि. । आशक्तोत्येव ग्रथस्य वर्द्धने भवति सदा ॥ ६९ ॥
यज्ञादौ नैव पापोस्ति जीवाना मारणस्य वै । एव ब्रुवति रात्रौ च भोजनस्यैव भक्षणे ॥ ७० ॥
इत्यादीनि कुकर्माणि करोति सैव निश्चयात्। एकादिसप्तश्वभ्रेपु व्रजत्येव नरेश्वर ॥ ७१ ॥
घोर घोर च दु खौघ तत्र सुचेलनाप्रिय । भुक्त्येव सैव एकाकी घोरपापोदयात्खलु ॥ ७२ ॥
कियत्प्रमा जिनाधीश तत्र दु.खोत्करा॰ प्रभो । शृणु तेषा च भो सख्या सक्षेपात् वच्म्यहं नृप ॥ ७३ ॥

अथवा मिथ्यात्वकी तीव्रतासे सात व्यसनोका सेवन करना परिणामोमे तीव्र कषायका रखना सो भी निगोदके आस्रवका कारण है ।

अर्थ—हे राजन् ! नरक गतिके आस्रवोंको सुनो । पशुओंका वध करना, मांस भक्षण करना, झूठ बोलना, मधुका सेवन करना, मदिरापान करना, दूसरोंकी सुन्दर स्त्रियोको मन्त्रादि अथवा किसी भी प्रयोगके द्वारा ठगना, जिनधर्म, जिनसिद्धांत, जिनगुरु, चतुर्विध संघ और जिनधर्मोपदेशोंकी निन्दा करना, अवर्णवाद लगाना उनके विषयमें मलिन चिंतवन करना आदि सब नरक आयु बन्धके कारण हैं ॥ ६६-६८ ॥

अर्थ—दूसरोंका धन हरण करना, कुटिल परिणाम रखना, परिग्रहका तीव्रतर ममत्व परिणाम रखना, यज्ञमें जीवोंका हवन करना अथवा ऐसा मिथ्या प्रचार कर जनताको पापके मार्गमे लगाना, जीवोंके वधमे पाप नहीं बतलाना, जीवहिंसामें धर्म मानना, रात्रिमे भोजन करना इत्यादिक कुकर्मोंसे जीव एक से लेकर सात नरकोंमे जाता है । योनियोंमें जाता है । जिनधर्म, जिनायतन, जिनगुरु, जिनसंघमें मिथ्या अवर्णवाद लगानेसे और मिथ्यात्वकी तीव्रतासे जीव नरकमें जाता है ॥ ६९-७१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जीव पापके कारण नरकमें घोर-घोर दुःखोंको अकेला ही भोगता है ॥ ७२ ॥

अर्थ—वहाँ कितने प्रकारके दुःख है ? इस प्रकारका प्रश्न सुनकर वीरप्रभुने कहा कि हे श्रेणिक ! नरकमें इस जीवको पाँच करोड़ अड़सठ लाख पाँचसौ चौरासी प्रकारका दुःख प्राप्त होता है। यह एक सामान्य

वेदाष्टौ च शतानि पञ्च भवति अङ्कसहस्राणि वै । अष्टतुं प्रमलक्षकाश्च नृपते पञ्चैव कोटयस्तथा ॥७४॥
त्वं जानीहि नगप्रमेषु सकलश्वभ्रेषु दु:खोत्कराः । नानाशर्मविधायका भयप्रदा एतावता निश्चयात् ॥७५॥
श्रीजिनाधिपबिंबाना पञ्चामृतरसोत्करै. । स्नानकर्ता तथैवेज्याकर्त्ता च मृदुभावयुक् ॥ ७६ ॥
दयाभावेन सयुक्तो द्वादशव्रतपालक. चतुर्धादानकर्ता च गुरुसेवापरायणः ॥ ७७ ॥
मन्दकषायसपन्न परदोषपरान्मुख । स्वदारारक्तबुद्धिश्च पररामाविरक्तधीः ॥ ७८ ॥
इत्यादिशुभभावाढ्यो यः पुमान् सैव निश्चयात् । नाकलोक लभत्येव सदा शर्मविभूषितं ॥ ७९ ॥
कार्यार्थं सेवते मित्र कृत्वा कार्यं पुनश्च तं । त्यजत्येव नराधीश जिनधर्मपराङ्मुख. ॥ ८० ॥
पिशुनो दुर्जनश्चैव परनिन्दनचातुरः । दुर्मतेः पोषक· क्रूरः रात्रौ भक्षी च निर्दयो ॥ ८१ ॥
ईदृश. पुरुषो मृत्वा जायते दुष्टभावयुक् । तिर्यंचयोनिषु नून सदाशर्माकरेषु च ॥ ८२ ॥
[illegible] न निर्लोभी मार्दवार्जवभावयुक् । स्वल्पनिद्राशन निर्दम्भी स्वात्मनिन्दापरायणः ॥ ८३ ॥

प्रकारसे दुःखोंका कथन है वास्तविकमें सभी नरकोंमें पर्वत प्रमाण नाना दुःख हैं जो निरन्तर भय उत्पन्न करने वाले हैं ऐसा निश्चयसे जानो ॥ ७३-७५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र भगवान्के प्रतिबिंबोंका पञ्चामृतरससे भक्तिपूर्वक स्नान करता है, उसी प्रकार पूजा अष्टद्रव्यसे करता है, मृदुभावोंको धारण करता है, दयाभावका पालन, बारह व्रतोंका परिपालन, चार प्रकारके दानोंका प्रदान करना, गुरुसेवा करना, स्वदार सन्तोष व्रतका पालन करना, [illegible] इत्यादिक अनेक शुभ कारणोंसे स्वर्गके सुखोंकी प्राप्ति होती है । वहां सदा सुख [illegible] ॥ ७६-७९ ॥

[illegible] हे राजन् ! [illegible] मायाचारके परिणामोंसे होता है । जो मनुष्य मतलबके लिये [illegible] जो [illegible] मायाचारके भावोंसे [illegible], [illegible] दुर्जन हो, निन्दाखोर हो, दुर्बुद्धि हो, क्रूर हो, [illegible] हो, सदा दु[illegible] [illegible] ॥ ८०-८२ ॥

[illegible], मृदुभावोंसे [illegible], [illegible]

मर्त्यो हि चेदृशो भूप मृत्वा मर्त्यैव शुद्धधीः । भवति नात्र सन्देह परजन्मनि निश्चयात् ॥ ८४ ॥
सदा सन्तोषसयुक्ता स्वपते भक्तितत्परा । सुशीला क्रोधसहीना विमाना दम्भवर्जिता ॥ ८५ ॥
साहसधारका नम्रा शुचित्वगुणसयुता । जिनभक्तिकरा नित्य दानेज्याव्रततत्परा ॥ ८६ ॥
नि कपटा निरालस्या आर्जवामृतपानका । स्थिरचित्ता च सत्यैव भाषिणी परपोषणी । ८७ ॥
स्वल्पाहारकरा स्वल्पनिद्रा सयमपालका । कामदेवस्य क्रीडासु स्वल्पचित्तस्य धारका ॥ ८८ ॥
इत्यादिगुणसपन्ना भवेन्नार्यत्र भूपते । ईदृशायाः सुवामाया. पुरुषो भवति निश्चयात् ॥ ८९ ॥
मायाकपटसपन्नः अतिचञ्चलभावयुक् । कामसेवासुसरक्तः अत्यन्तक्रूरधी. ह्यधीः ॥ ९० ॥
गायने भण्डरागस्य अत्यन्तचञ्चलस्तथा । नेत्रविकारसपन्नः तथैव कामभावयुक् ॥ ९१ ॥
महामानी सदालस्यो बह्वारभस्य धारक. । बहुनिद्रारतोशुद्धः निन्दापैशून्यतत्पर ॥ ९२ ॥

को लेनेवाला, निर्दम्भी, अपने पापकर्मोंकी निन्दा करनेवाला, पापोसे डरनेवाला, जिनधर्मका सेवन करनेवाला ऐसा शुद्ध बुद्धिवाला जीव परभवमें मनुष्य बंधको प्राप्त होता है। इसमें सन्देह नही ॥ ८३-८४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! स्त्री पर्यायको छोड़कर पुरुष पर्याय (स्त्रीलिंगका छेदन) कौन-कौनसे पुण्यकर्मसे प्राप्त होती है सो बतलाते है।

अर्थ—जो स्त्री सन्तोषसे रहती है अपने ही स्वामीकी भक्ति पूजामे अपना धर्म समझती है। शीलव्रत को ही मुख्य धर्म समझ कर पालन करती है। क्रोध, मान, माया आदि विकारोंकी भावना नहीं करती है। नम्र-पवित्रताको धारण करनेवाली जिनभक्तिमें तत्पर, जिनधर्म परायण दान पूजादि पुण्यकार्योंमें सावधान, सरल परिणामोंको रखनेवाली, मायाचार रहित शुद्ध चित्तसे कार्य करनेवाली, स्वल्प आहार करनेवाली, व्रत संयम आदिको भावभक्तिसे पालन करनेवाली, विषयोंसे विशेष गृद्धता नहीं रखनेवाली इत्यादि सुन्दर कृत्योंको करनेवाली गुणवान स्त्री अपने स्त्रीलिंगको छेदन कर पुरुष लिंगको प्राप्त होती है ॥ ८५-८९ ॥

हे राजन् ! पुरुष पर्यायसे निंद्य स्त्री पर्याय किस प्रकार होती है सो सुनो।

अर्थ—जो पुरुष मायाचारी है, अतिशय चपल है, सदैव कामक्रीड़ामे मग्न रहता है, अत्यन्त क्रूर है, पापोंका ही सदैव संचय करनेवाला है, भण्डरागोंको गानेवाला है, अत्यन्त चञ्चल है, दूसरोंके शील भ्रष्ट करने मे ही अपनेको धन्य समझता है, जो इसीलिये अभिमानी बनता है, सदा आलसी है, बहुत आरम्भका करने-

क्रियाकर्मविहीनश्च निर्दयी निस्त्रपी तथा। बह्वालापी तथा हीनो विनयेन नरेश्वर ॥ ९३ ॥
कस्यापि नैव विश्वास करोति साधुनिंदकः। वंचकः स्वजनाना च साधूना परदोपदः ॥ ९४ ॥
इत्यादिगुणसपन्नो मृत्वा मर्त्योपि निश्चयात्। परजन्मनि निंद्या च स्त्र्येव भवति सद्बुधै ॥ ९५ ॥
वृषाश्व महिष छाग माहेयी चक्रमेलक। मातगं च खर श्वान स्त्रिय मर्त्यं च बालकम् ॥ ९६ ॥
लोहशास्त्रं न मधूत्वा पावकेभ्यो नगाधम्। इत्यादीना च जीवाना अङ्कयते च निर्दय ॥ ९७ ॥
छेदयति तथा नेत्रा कर्णं ना नासिका खल। वधं वा बधन चैव अन्नपानादिरोधन ॥१००॥
करोति सैव प्राप्नोति नपुसकत्व दुःखद। कर्माय भूप सर्वेपु निन्दनीय च कर्मसु ॥ १ ॥
अश्वान् न कपोतीवान् तित्तरान् न हरीन् मृगान्। काकोदरान् तथाकीशान् नीलकण्ठान् खगेश्वरान् ॥२॥
मृगान् हयान् वकाश्चैव ध्रियन यो नृप कुधो.। इत्यादीन् जीवसन्दोहान् काष्टादिपजरेपु च ॥ ३ ॥

वाला, बहुत बोलनेवाला है, निन्दा और चुगली करनेवाला, भण्ड वचनोंका बोलनेवाला, विनय रहित है, क्रिया कर्मसे कामोन्मादक गानको करनेवाला, नेत्र विकार और शरीरसे कुचेष्टा करनेवाला, दूसरोसे द्रोहको करनेवाला, श्रेष्ठ आचरणोंको छोड़ देनेवाला, नीच आचरणोका पालन करनेवाला, निर्लज्ज, निर्दयी, निंदक, साधु पुरुषोंमें दोष लगानेवाला, गुरुजनोंकी भी निंदा करनेवाला, सत्यका लोप करनेवाला, किसीका भी विश्वास नहीं करनेवाला और पापमार्गको प्रकट करनेवाला मनुष्य मर कर परजन्ममें स्त्री पर्याय (स्त्रीलिंग) को प्राप्त होता है ॥ ९०-९५ ॥

[illegible] महाराज! अब यह जीव नपुंसक कौन-कौनसे कारणोंसे होता है। सुनो जो मनुष्य कामको [illegible] बैल, घोड़ा, भैंस, बकरा, हाथी, गदहा, कुत्ता, स्त्री, बालक, वृद्ध, [illegible] भयकर शस्त्रोंके द्वारा काटे। [illegible] आदि गुप्त [illegible] कुशोंसे पीड़ा उत्पन्न करने [illegible],
[illegible] सभी निन्दनीय कर्म करे और भी [illegible]
[illegible]

आजन्माऽत्ययपर्यंत सा खलु वदिदुःगृहे । स्थितिं करोति दुःखौघ भुजन् वाचामगोचर ॥ ४ ॥
मनसा निर्दयेनोच्चैः अदयापरिणामयुक् । मारयत्येव जीवान् वै छागपारावतादिकान् ॥ ५ ॥
निर्दयं तु च दृष्ट्वा वै कोप्येव ब्रुवते पुमान् । दयालकृतसद्गात्रः त प्रति जीवरक्षक. ॥ ६ ॥
नत्वेव ते च कर्तुं वै युक्त जीवस्य घातक । मा गच्छ दुर्गतिं मूढ श्रुत्वेत्थमाह दुष्टधी. ॥ ७ ॥
जीवाना मारणे नैव पापोत्पत्ति. पुमान् खलु । न्यादार्थं च कृताः सर्वे स्वयमुवा इमेस्य नु. ॥ ८ ॥
परलोकश्च नास्त्येव नैव धर्म. तथा ह्यघ. । एव धृत्वा हृदि स्वस्य यो मर्त्यो दुष्टभावयुक् ॥ ९ ॥
सक्लिष्टैर्निर्दयैश्चैव सार्द्धं कुपुरुषे सदा । करोति चैव व्यापार कुकर्मणश्च दु.खद ॥ १० ॥
सोल्पायुर्भवत्येव इत्थ कुकर्मणोदयात् । सदा कालेत्र सन्देहो नास्त्येव चेलनाप्रिय ॥ ११ ॥
स्वय नैव कदाप्येव मारयत्येव प्राणिन । मार्यमाण च सदृष्ट्वा केनचित् पुरुषेण वै ॥ १२ ॥
मोचापयति त नून दयाभावेन मण्डित.। सतुष्टोभयदानेपु परघातन्निवारक. ॥ १३ ॥

अर्थ---जो मनुष्य कबूतर, तीतर, हरिण, मृग, काकोदर, कीश (पक्षी) नीलकण्ठ, गरुड़, सूआ, हंस, बगला आदि पशु-पक्षियोंको पकड़ कर काठके पिंजरोमे बंद करता है, आजन्म उनकी स्वतंत्रताका हरण करता, उनकी इच्छाका व्याघात करता है। जो मनमें सदैव निर्दयभाव रखता है, दयाभावोंको जानता ही नही (जो किसी भी प्राणीको सुखी नही देखना चाहता) है। जो सदैव बकरादि जीवोका वध करता है, जो कबूतर आदि जीवोंको पकड़नेमे मारनेमे दत्तचित्त रहता है। जिसके परिणामोंमे निर्दयपनेकी सदैव वासना बनी रहती हो। जिसको दयाका उपदेश कटुक मालूम होता हो और जीवहिंसा करनेके समय धर्मात्माके रोकने पर जिसके परिणामोंमें क्रूरता प्रकट होती है। जो जीवोंके बधमें पापोत्पत्ति नही मानता हो। जो जीवं जीवस्य भक्षणं कहकर जीवोंके भक्षण करनेमें धर्म मानता हो। जिसे परलोकका भय नही हो और जो परलोकको मानता भी न हो। जिसके परिणाम सदैव दुष्ट रहते हो। जो सदैव संक्लेश परिणामोसे रहता हो। और ऐसे ही दुष्ट पुरुषोंको सगतिमें रहता हो। जो सदैव कुकर्मका व्यापार करता हो। इत्यादि कुत्सित कर्म करनेवाले जीवोंकी स्वल्पायु होती है। निगोद आदि पर्यायमें स्वल्पायुकी पूर्ति वे जीव करते हैं ॥ २-११ ॥

अर्थ---हे राजन् ! जो किसी भी जीवको स्वतः नही मारता है न दूसरोसे मारनेके लिये वचनसे कहता है और न ऐसी अनुमोदना ही करता है। जो दयालु, दूसरो द्वारा जीवोंके वधको देखकर दयाभावसे उस जीव-

परजर्मषु मन्तुष्ट: परदु खेषु दु खभाक् । जीवस्य रक्षणे चैव सदा काले च सन्मति ॥ १४ ॥
ईदृशस्य नरस्यैव भो भवत्येव निश्चयात् । दीर्घायु· सर्वकाले च मृदुभावोदयाच्छुभ ॥ १५ ॥
आप्यैव वित्तसन्दोह स पुनर्न ददात्यहो । आहाराख्य च सद्दानं पात्राय योहि मानवः ॥ १६ ॥
कदापि लोकलज्जाया वशादेव ददात्यहो । दान पात्राय तर्हिचेत् दत्ते हि स्वस्य मानसे ॥ १७ ॥
पश्चात्ताप करोत्येव वृथा दत्तो हि हा मया । अस्मै दान च मे स्वस्य व्ययो जातोऽद्य किं कृत ॥ १८ ॥
दीयमाने महादाने अन्येषा वर्जयत्यहो । किमर्थं कुरुथ लोकाः व्ययो द्रव्योत्करस्य च ॥ १९ ॥
एभिः कुकर्मभिर्मृत्वा मेरु भो मगधेश्वर । भवति वर्जितो भोगै सदा दु खैकभाजन ॥ २० ॥
शयनार्थं मुनीन्द्राणा ॑फलतृणादिकैः शुभै । शयनोपकरणैरेभि वैयावृत्यमुपालक ॥ २१ ॥

को मारनेसे बचाता है। जो सदैव दयाभावसे अपने अतःकरणको आर्द्र रखता है, जो जीवोके अभयदानमे संतोष मानता है, जो दूसरे जीवोके घातको रोकता है, जो दूसरोको सुखी देखकर प्रसन्न होता है, जो दूसरोको दुःखी देखकर दुःखी होता है, जो जीवोकी रक्षा करनेमें सदैव प्रयत्नशील बना रहता है ऐसे दयालु भव्यात्माको दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। जो मृदु भावोंसे दया करता है वह भी दीर्घायुको प्राप्त करता है ॥ १२-१५ ॥

प्रश्न—भोगरहित कौन-कौनसे पापोसे होता है सो बताते हैं ।

उत्तर—हे राजन्! जो मनुष्य द्रव्यकी यथेष्ट शक्ति रखनेपर भी लोभ परिणामोंसे मुनिगणादि चतुर्विध संघको आहार दान नहीं प्रदान करता है। न पात्रमें दान प्रदान करनेकी रुचि करता है। कदाचित् लोक लाज [illegible] दान अनिच्छासे देना भी पड़े तो पीछेसे पश्चात्तापको प्राप्त होकर विचार करता है [illegible] । इस दानमें मेरा इतना द्रव्य व्यय हो गया। यह सारा व्यर्थ हो गया। इस [illegible] करता है। [illegible] तुम [illegible] द्रव्य क्यों लुटाते हो, जरा तो विचार करो। इस प्रकार मन- [illegible] रोकता है, स्वयं भी [illegible] वस्तुओंका सेवन नहीं करता है। [illegible] ॥ १६-२० ॥

नैयावृत्य करोत्येव तथा पादस्य धोवन । तेषा सद्गुणसयुक्त स्तवन पापनाशक ॥ २२ ॥
पिच्छिका सर्वभूताना रक्षका गुणमण्डिता । यो ददात्येव कुण्डी च शौचकार्याय शोभन ॥ २३ ॥
आर्यिकायै तथा वस्त्र शुभ्र च ब्रह्मचारिणा । गृहस्थाय तथा तेषा वामाये भूषण तथा ॥ २४ ॥
आहारादिचतुर्दान सदा शर्मप्रदायक । अतिहर्षेण सयुक्तो मृदुभावविमण्डित ॥ २५ ॥
सैव भो मगधाधीश नानाशर्मोत्कर सदा । परजन्मनि तत्पुण्यात् भुनक्ति नात्र सशय. ॥ २६ ॥
त्रयाणा देवसिद्धातगुरूणा कटुकाक्षर । कदापि नो वदत्येव तथा विनयवान् महान् ॥ २७ ॥
शातचित्तेन सयुक्त. सदा काले हि धर्मवान् । बालकादिकवृद्धेपु यथाविनयकारक. ॥ २८ ॥

प्रश्न——नाना प्रकारके सुखोंको प्रदान करने वाले भोग कौन-कौनसे कारणोंसे प्राप्त होते है ?

अर्थ——हे राजन् ! जो भव्य जीव लकड़ेका फलक तृणादिकोंके विविध आसन आदि वस्तुओंको मुनिगणोंके शयनार्थ रखता है और उसके द्वारा भाव-भक्तिसे मुनिगणोंकी वैयावृत्य करता है । इसी प्रकार उनके निवासार्थ वसतिका, गुहा, मठ आदि बनाकर वैयावृत्यका लाभ लेता है । तथा जो मुनिगणोंके पादकमलोंका धोना, सेवा सुश्रूषाका करना, स्तोत्रादिके द्वारा उनके गुणोंमें मुग्ध होना आदि विशुद्ध भावोंसे करता है । जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी देता है, शौच रक्षाके लिये कमंडलु देता है, आर्यिकाओंको वस्त्र देता है, ब्रह्मचारियोके लिये वस्त्रादि देता है, गृहस्थोंके लिये भी वस्त्रादि भूषण प्रदान कर वात्सलय अंगको प्रकट करता है, इस प्रकार चारो प्रकारका दान चार संघको अत्यंत हर्षभावसे देता है और अपने परिणामोंको सदैव कोमल रखता है वह अनन्त भोगोको भोगनेवाला होता है ॥ २१-२५ ॥

अर्थ——इस प्रकार चार संघको चार प्रकारका दान प्रदान करनेवाले भव्य जीवोके सातिशय पुण्यकी प्राप्ति होती है और वह पुण्यके प्रभावसे पर जन्ममे अनुपम सुखोंको प्राप्त होता है । इसमे संशय नहीं ॥२६॥

प्रश्न——यह जीव सुखसम्पन्न कौन-कौनसे कारणोंसे होता है ?

अर्थ——हे राजन् ! जो भव्य जीव देव, शास्त्र, गुरुओकी अंतःकरणके भावोसे श्रद्धा रखकर सदैव उनको पूज्य और हित प्रदाता मानता, अतएव उनके प्रति एक भी कटुक अक्षर नहीं बोलता, महान् विनय और नम्र भावोसे रहता है, सदैव शांतचित्त रहता और वृद्ध-बालक मुनिगणोंकी भी विनय भाव रूपसे पूर्ण

ईदृशो मानवो मृत्वा महाशर्मी भवत्यहो । परभवे नराधीश परशर्मस्य कारणात् ॥ २९ ॥
तपस्विना मुनीन्द्राणा धर्मस्थाना करोति यः। निन्दां वा पिशुन चैव प्रत्यक्षाद्वा परोक्षतः ॥ ३० ॥
निर्गुणो चैव गर्विष्टो मायावी अतिक्रूरधीः । जिनसिद्धातवाक्यानामुत्थापकश्च पापधी. ॥ ३१ ॥
महद्दभो च भो भूप इत्यादिगुणसभृत. । य पुमान् सैव मृत्वा च महादु खी भवत्यहो ॥ ३२ ॥
गग्मनु ष्वनयोगात् कृत्वा पापस्य सचय । पुनर्यात्येव दु खाब्धौ अहस्य चेदृश फलम् ॥ ३३ ॥
प्रात.काले समुत्थाय तल्पात् यो हि नरेश्वर। कृत्त्वा सामायिक चैव जाप्य वा परमेष्ठिनः ॥ ३४ ॥

सेवा करता । ऐसे शुभ कार्योंसे जीव मरकर अगले भवमें परमसुखी होता है । सर्व प्रकारके सुखोंसे सम्पन्न होता है ॥ २७-२९ ॥

प्रश्न---अतिशय दुःख किन-किन कारणोसे उत्पन्न होते हैं । अथवा अत्यन्त दुखिया कौनसे कारणसे होते हैं ।

अर्थ---हे राजन्! तपस्वी, मुनि आदि धर्मस्थापकोंकी निंदा करना, उनमे मिथ्या दोषोका लगाना, जनतामें [illegible] विपरीत प्रयत्न करना, उनके विषयमें झूँठी-झूँठी पिशुनता कर बड़े-बड़े श्रीमानोको धर्म भावनासे [illegible]। प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे अवहेलना करना, स्वय निर्गुण होकर भी अपना मिथ्या गर्वका साहस प्रकट करना, मायाचार प्रकट कर अपना मतलब बनाना, अत्यन्त क्रूर और कुटिल परिणाम रखना । जैन सिद्धांतके [illegible] करना, जैन सिद्धातके श्लोकोका विपरीत अर्थ कर धर्मकी पवित्रताका नाश करना । [illegible] और महान् दभी बनकर, ढोंग फैलाकर, अपना सांसारिक स्वार्थ सिद्ध करना इत्यादि [illegible] अगले भवमें अत्यन्त दुखी होता है ॥ ३०-३२ ॥

[illegible] निरन्तर [illegible] प्राप्त होते हैं । और वे उन [illegible] दुःखो- [illegible] ॥ ३३ ॥

[illegible]

[illegible] परमेष्ठीको [illegible] है ।

पश्चादादाय स्वर्णादिभाजने बहुमोदत । वसुद्रव्योत्कर शुद्धमभिषेकविधिं तथा ॥ ३५ ॥
जिनवेश्मनि संगत्य तत्र श्रीमज्जिनेश्वरान् । सपूज्य परया भक्त्या सदसि आगमस्य च ॥ ३६ ॥
आगत्य गुरुवक्त्राद्धि शास्त्र सिद्धातसूचक । शृणोति वा पठत्येव चिंतयत्येव स्वहृदि ॥ ३७ ॥
पाठयत्येव अन्येषा ददात्येवानिश मुदा । सद्धर्मोपदेश च गात्रस्थाहविनाशक ॥ ३८ ॥
एव कृत्वा पुनर्न्याद करोत्येव सदा नरः । मो मृत्वा च भवत्येव सुमेधावी न संशयः ॥ ३९ ॥
तपोज्ञानादिमद्भेद नैव जानाति यः पुमान् । वा त्रयाणा करोत्येवाविनयं नैव मन्यते ॥ ४० ॥
यस्य हृदि विचारोहि नास्त्येव किमपि नृप । त्रिपंचाशत्क्रियाणा च मुनिधर्मस्य वा खलु ॥ ४१ ॥
ईदृशोहि मनुष्यश्च मृत्वा भवति निश्चयात् । परजन्मनि निर्धर्मात् बुद्धिहीनो हि सैव भो ॥ ४२ ॥
तत्रापि अविवेकत्वात् करोत्येव सदा ह्यघ । नदहादपि यात्येव दुर्गतौ च सदा नृप ॥ ४३ ॥

फिर सोने, चाँदी आदिके पात्रमें अभिषेक और पूजनकी सामग्रीसे श्रीजिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका अत्यन्त हर्षसे अभिषेक करता है, पूजा करता है। सभामें शास्त्रपूजा कर गुरुके मुखकमलसे शास्त्रोंका श्रवण करता है। पठन करता है, चिंतवन और उपदेश करता है और रात्रि दिवस जिनागमकी प्रभावनामें ही अपना जीवन पूर्ण करता है वह मनुष्य मरकर बहुज्ञानी होता है इसमें संशय नहीं ॥ ३४-३९ ॥

प्रश्न——मनुष्य बुद्धिहीन कौन-कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ——हे राजन्! जिसको तप, ज्ञान, चारित्र आदिका भेद विज्ञान बिलकुल नहीं है अथवा तप, ज्ञान, चारित्र आदि महान् गुणोंको धारण करनेवालोंकी श्रद्धा नहीं है। इसीलिये ज्ञान, तप, चारित्र व उनके धारकोंका विनय नहीं करता और विनय करनेके भाव नही रखता अथवा मनमे मलिन विचारोंको रखता है। त्रेपन क्रियाओंका या मुनि धर्मका विचार नही करता है, जैन सिद्धांतोंका विपरीत अर्थ करता है, काल दोषादिकसे अध्ययन करता है वह धर्मसे रहित होनेसे परभवमें बुद्धिहीन होता है ॥ ४०-४२ ॥

प्रश्न——दुर्गति कौनसे पापोसे होती है ?

अर्थ——हे राजन् ! वह अविवेकी होनेसे सदा पाप करता है और पापके फलसे सदा जीव दुर्गतिमें गमन करता है ॥ ४३ ॥

[illegible] भावितकन्नैव यो जानाति सदा हृदि । जिनेन्द्रोक्त न सद्धर्मं सदा शर्मप्रद शुभम् ॥ ४४ ॥
[illegible] त्यजति वस्त्वोनमुपादेय च मोक्षदम् । स्वीकरोत्येव पापाना नाशक धर्मवर्द्धकम् ॥ ४५ ॥
न [illegible] तद्भवे भुक्त्वा शर्मपक्ति सुखप्रदाम् । ततो मृत्वा भवत्येव महान् विद्वान् गुणाकर ॥ ४६ ॥
[illegible] महावीर विदुषो द्वादशागवित् । श्रेणिक त्व हि भो विद्धि एतत्तस्यैव लक्षणम् ॥ ४७ ॥
[illegible] जीवोघान् निर्दयी मारयत्यहो । मारयित्वा पुनस्तेषा पल भक्षति योऽधम ॥ ४८ ॥
[illegible] अधर्मपोषण तथा । कि तस्य शास्त्रपाठेन प्रयोजनमघाकरम् ॥ ४९ ॥
[illegible] न अभक्ष्य [illegible] । मोक्षमोहि भवत्येव चाडाल परजन्मनि ॥ ५० ॥

प्रश्न—महान् विद्वान् कोन-कोनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! अपने हृदयमें पवित्र भावोसे गुरुभक्तिको धारण करता है, शुभ सदा सुखदायक [illegible] जिनेन्द्र धर्मको मन, वचन, कायकी विशुद्धिसे धारण करता है, त्याग करने योग्य वस्तुओको अनात्मस्वरूप मानकर छोडता है और उपादेय वस्तुओको आत्मस्वरूप मानकर ग्रहण करता है, पापक्रियाओका परित्याग करता है और धार्मिक [illegible] आचरणोंका पालन करता है इत्यादि शुभ कार्योंसे यह जीव मरकर महान् विद्वान् [illegible] होता है ॥ ४४-४६ ॥

प्रश्न—विद्वान्का लक्षण क्या है ?

[illegible]—हे राजन् ! जो [illegible] श्रुतको जानता है तदनुसार भाव श्रुतको धारण करता है वह विद्वान् है ॥ ४७ ॥

प्रश्न—[illegible] कोन कोन पापके कारणोंसे होता है ?

[illegible] जीवोंको मारता है। और मारकर उनका मांस [illegible] करता है, [illegible] पापों और व्यभिचारादि [illegible] धर्म मानकर [illegible] ॥ ४८-५० ॥

[illegible]

तित्तर कुर्कट श्वान शूकर च मृगाधिपम् । व्याघ्र वा मर्कट नाग मृग कोक परिमतम् ॥ ५१ ॥
शुकादिजीवजातीना दृढपासेन योऽधम । गृहीत्वा च गृहे स्वस्य आदाय तान् पुनः नृप ॥ ॥ ५२ ॥
दृढैव रज्जुना तत्र वधयित्वा च दुष्टधी खलु । रक्षति सैव मृत्वा च भीरुको भवति सदा ॥ ५३ ॥
मनपा वचसा चैव कायेन प्राणिना नृप । न करोत्येव त्रास हि सर्वेषा मृदुभावयुक् ॥ ५४ ॥
कारापयति नो नून नानुमोदयति कदा । अन्यायवित्ततश्चैव मुक्तधी परपोपकः ॥ ५५ ॥
ईदृशोसौ नृप मृत्वा सदैत्र निर्भय खलु । भवति नात्र सदेह परदु खस्य मोचनात् ॥ ५६ ॥
विद्यालोभेन पूर्वं च कृत्वा यो विनय गुरो । विद्या गृह्णाति वा मन्त्र त्रिवेकादिकसत्फलाम् ॥ ५७ ॥
पश्चात् पूर्णे च याते हि मन्यते नैव स्वगुरो । मया भाग्यात्समापन्ना सर्वा विद्यादिसत्फला ॥ ५८ ॥
तस्य मर्त्यस्य भो भूप परजन्मनि वात्र च । कला च सकला विद्या निष्फला भवति खलु ॥ ५९ ॥

प्रश्न—भीरु–भयवान् कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! तीतर, कुत्ता, मुर्गा, शूकर, सिंह व्याघ्र, बंदर, सर्प, मृग, कबूतर, सूआ (तोता) आदि जीवोंको पकड़कर अपने घर लाकर जो दृढ बन्धनोमें रखता है वह मरकर भीरु होता है ॥ ५१-५३॥

भावार्थ—ऐसे पशु जो मनुष्योंके उपयोगी नहीं है जैसे व्याघ्र, सिंह, सर्प आदि और पक्षिगणोंको जाल द्वारा पकड़कर मौज शौकके लिये दृढ बाँधकर रखनेमें बडा भारी पाप है।

प्रश्न—निर्भय मनुष्य कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! मन, वचन, कायसे जो कभी भी किसी जीवको कष्ट नहीं देता है, न दूसरोंसे दिलवाता है और न ऐसी अनुमोदना करता है, जिससे दूसरोको कष्ट हो, जो अन्यायके कार्योंका परित्याग करता है, जो दूसरोंका परिपालन करता है वह निर्भय होता है ॥ ५४-५६ ॥

प्रश्न—किसकी विद्याएँ निष्फल होती है।

अर्थ—हे राजन् ! जो विद्या लाभकी प्राप्तिके लोभसे विद्या ग्रहण करते समय प्रथम तो गुरुका विनय, सेवा, सुश्रूषा करता हो, उपकारी मानता हो, परन्तु विद्या सम्पादन हो जानेके बाद कहे कि यह विद्या तो मेरे भाग्यसे मिली है, इसमें गुरुने क्या कर दिया। इत्यादिक कार्योंसे जो गुरुके उपकारको भूलकर कृतघ्नी हो, उस मनुष्यकी समस्त विद्या कला निश्चयसे इस भव व परभवमें निष्फल होती हे ॥ ५७-५९ ॥

अन्येव विनयेनैव चित्तशुद्धेन स्वगुरोः । करोति विनय भूप वेयावृत्य च सर्वदा ॥ ६० ॥
तद्गुणान् मन्यते चित्ते करोति तस्य कीर्तनम् । आगते सन्मुखे शीघ्रमभ्युत्थानादिसत्क्रियाम् ॥ ६१ ॥
एव गृह्णाति यो विद्या मैव भोक्ता भवत्यहो । विद्याफलस्य अत्रैव परत्रापि पुनर्भवेत् ॥ ६२ ॥
परेषां यो हरत्येव कौटिल्यादि कुकर्मभि । द्रव्य तस्यैव वित्तश्च ह्रियतेऽन्यैश्च मानुजै ॥ ६३ ॥
नो हरति कदाप्येव परकीय न य. पुमान् । गृहे तस्यैव द्रव्यस्य संचयो भवति सदा ॥ ६४ ॥
नाश कदापि नो स्याद्धि वित्तस्य परजन्मनि । मगधेश भवत्येव एव शुभोदयात् खलु ॥ ६५ ॥
स्वगत्येव यो मर्त्य पूर्वमेव नरेश्वर । वस्त्र वस्तु तथा द्रव्य त्वा दास्यामि मनोहरं ॥ ६६ ॥

प्रश्न—विद्या सफल किसकी होती है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो चित्तकी शुद्धिसे गुरुका विनय करता है, वेयावृत्य सेवा, सुश्रूषा आदि करनेमें निष्कपट भावोंसे तत्पर रहता है, जो परोक्ष या प्रत्यक्ष गुरुको बडा मानता है, उपकारी समझता है उनका कीर्तन, स्तवन करता है उनके सामने आनेपर शीघ्र उठकर सन्मान आदि प्रकट करता है वह ही विद्याके उत्तम फलका भोक्ता होता है तथा विद्याके फलको इह-परलोकमें प्राप्त करता है ॥ ६०-६२ ॥

प्रश्न—किसका धन अपहरण होता है ?

उत्तर—हे राजन् ! जो मनुष्य कुटिल परिणामोंसे और विश्वासघातसे दूसरोंके धनका अपहरण करता है, उसके धनका अन्य मनुष्योंके द्वारा अपहरण होता है ॥ ६३ ॥

प्रश्न—किसके धनका नाश नहीं होता है ?

उत्तर—हे राजन् ! जो मनुष्य [illegible] दूसरोंका धन हरण नहीं करता है, न कुटिल भावोंसे माया- [illegible] न विश्वासघातसे दूसरोंके धनको लेता है, उसके धनका [illegible] होता है ॥ ६४ ॥

[illegible]

[illegible]

वृत्वा लोभ हृदि पश्चात् नो ददात्येव त च ताम् । आशाभग करोत्येव सर्वपापस्य दायकम् ॥ ६७ ॥
तद्धि पापेन तस्यैव नाशो यात्येव निश्चयात् । द्रव्याशायाश्च भो भूप परजन्मनि जन्मनि ॥ ६८ ॥
यद्यद्धि शोभन वस्तु मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । दत्वा पश्चाद्धि स्वचित्ते मन्यते यो नरो नृप ॥ ६९ ॥
धर्मस्य कारण नास्ति लोकलज्जावशान्मया । वस्तवश्च इमे दत्ता एव हि मूढबुद्धित ॥ ७० ॥
सुकृतस्यैव सर्वस्य तस्यैव परजन्मनि । विनाशो हि भवत्येव नात्रैव सशयः खलु ॥ ७१ ॥
मृगस्य तस्य वामाया स्त्रियाः मर्त्यस्य भो नृप । सिंहिन्याश्चैव सिंहस्य तथा पारावतस्य च ॥ ७२ ॥
नागिन्याश्चैव नागस्य हसिन्या हसकस्य वै । शुकस्य चैव शुक्याश्च जायायाः वर्हिगस्तथा ॥ ७३ ॥
इत्यादीना च जीवाना परस्पर करोत्यहो । वियोग यो हि मर्त्यश्च स्थिताना च वनावनौ ॥ ७४ ॥
पुत्रपौत्रादिहीनाढ्यो भवत्येव परत्र वै । स पुमान् मगधाधीश परवियोगपापत ॥ ७५ ॥
जायतेपि क्वचिद्दैवात् सताना: तस्य वा तदा । म्रियते नैव जीवन्ति तुर्ये वा पंचमे समे ॥ ७६ ॥

नहीं देवें और सब प्रकारसे उसकी आशा भंग कर देवे, तो ऐसे दगाबाज मनुष्यकी आशा भंग होती है। जो दूसरोंकी आशाका भंग करता हो, उसकी भी परजन्ममें आशा भंग होती है ॥ ६५-६८ ॥

प्रश्न—किसका पुण्य नष्ट हो जाता है ?

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो उत्तमसे उत्तम और उत्कृष्टसे उत्कृष्ट वस्तुको मुनिगण या ब्रह्मचारी आदि धर्मायतनोंमें प्रदान कर फिर पीछेसे मनमें विचार करे (या पश्चात्ताप करे) कि मैने लोक लाज वश यह वस्तु मुनिगण आदिको दी। नहीं तो वे देने लायक नहीं है। इस प्रकार धर्मगुरु आदिके विषयमे अपनी दुर्बुद्धिके कारण विपरीत श्रद्धान कर धर्मगुरुओंकी महिमाकी ह्रासता प्रकट करे उसके सब पुण्यकर्मका नाश हो जाता है निश्चयसे इसमे कोई सशय नहीं ॥ ६९-७१ ॥

प्रश्न—पुत्रहीन, स्त्रीविहीन कौन होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो मनुष्य मृग, सिंह, कबूतर, सर्प, हंस, तोता, मयूर आदि जीवोंकी स्त्रियों (मादाओं) का वियोग करता है या उनके बच्चोंका अपहरण करता है या पापबुद्धिसे दूसरोंकी स्त्रियोका हरण कर वियोग करता है अथवा दूसरोंके बालक-बालिकाओंको उनके भूल वा उनके लोभसे एकांतमें मारकर वियोग

पूर्वोक्तान् नैव यो मर्त्य कार्यान् करोति निश्चयात् । सर्वजीवेषु भो भूप दयापरो भवत्यहो ॥ ७७ ॥
वहुपुत्रै तथा पौत्रैः वाधवौवैश्च वेष्टितः । स भवत्येव जीवानामवियोगस्य कारणात् ॥ ७८ ॥
जिनाननात्समुत्पन्नमागम ह्यघनाशक । वाच्यमान सभामध्ये गुरूणा शास्त्रवेदिना ॥ ७९ ॥
तन्मध्ये कुरुते वार्तालापादिक च यो नरः । वा कथा विकथोत्पन्ना निद्रा हास्यच श्रेणिक ॥ ८० ॥
वधिरो हि भवत्येव स पुमान् परजन्मनि । अश्रुत कथयत्येव द्वापरो नात्र निश्चयात् ॥ ८१ ॥
हीनश्च विनयेनैव तथा वचनवर्जित । चारित्रगुणहीनागो मनोवाक्कायवर्जित ॥ ८२ ॥

करता है उसके इस प्रकारके पाप कारणोंसे पर जन्ममें सतान नहो होती, स्त्रीका वियोग होता है, यदि कदाचित् संतान होवे तो भी वह जीवित नहो रहती है; मर जाती है ॥ ७२-७६ ॥

प्रश्न—किसके पुत्र पौत्र कुटुम्ब परिवारका वियोग नही होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो सदैव दूसरे जीवोको दया भावो (परिणाम) की निर्मलतासे पालन करता है। अन्य किसी भी जीवका वियोग नही करता है । जो सदैव दयाभावोसे जीवोको अभयदान देता है वह पुत्र-पौत्र आदिका वियोगी नहीं होता है। वह वहुत बड़े परिवारका स्वामी, बहुत पुत्र, पौत्र, बन्धुओसे सहित होता है ॥ ७७-७८ ॥

प्रश्न—वहिरा-(वहिर) कोनसे पापोसे होता है ?

अर्थ—श्रेणिक! जिनेन्द्र मुखसे उत्पन्न आगम सब पापोका नाशक है जो मनुष्य उस धर्म सभामें समस्त तत्त्वोंको जानने वाले गुरुके परमागमके उपदेशके समय वार्तालाप ओर विकथादिक कर शास्त्र श्रवण करने वाले [illegible] भाइयोंको क्षोभ उत्पन्न करता हो। जो शास्त्र स्वयं श्रवण नही करता हो। शास्त्र वाचनेके समय [illegible] और [illegible] करता हो या नींद लेता हो वह पुरुष परजन्ममें वहिर होता है ॥ ७९-८१ ॥

प्रश्न—[illegible] कोनसे पापसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो [illegible] वातको कहता हो, जो सदैव जिनाज्ञामें सन्देहारूढ रहता हो। [illegible] परिणाम करता हो। आगम अनुसार वचन बोलनेसे रहित हो,

जिनाभिषेकपूजादिवर्जितो दानतोपि च । स दरिद्री भवत्येव परजन्मनि जन्मनि ॥ ८३ ॥
महाचातुर्यसम्पन्नो महाविनयमण्डितः । चारित्रगुणसंयुक्तो जिनवाक्येषु निश्चल ॥ ८४ ॥
चित्तवाक्यतनूना च दण्डको भयवर्जितः । इज्यास्नानविधानस्य कर्ता च पात्रदानद ॥ ८५ ॥
इत्यादिपुण्यकार्याणा कारक. पापवर्जितः । स भवत्यत्र भो भूप पुण्यतो धनवान् खलु ॥ ८६ ॥
धनवारधरैर्मर्त्यो वेष्टितो भवति सदा । सैव पश्चाद्भवत्येव नाके हि निर्जराधिप ॥ ८७ ॥
निजात्मघातकारो च विषशस्त्राग्निना नृप । अन्तकाले च सयुक्त. शल्येन क्रियते तप ॥ ८८ ॥
निजोज्वलकुलस्यैव क्षयकारी च यो नरः । मृत्वा भवति स रोगी पुन. गच्छति दुर्गती ॥ ८९ ॥

चारित्रगुणसे रहित हो, मन, वचन, कायसे श्रीजिनेन्द्र देवकी पूजा और अभिषेक आदि करनेमें असावधान हो। शक्ति होनेपर भी दान देनेमें अतिशय कृपण हो। वह परभवमें जन्म-जन्मांतर तक दरिद्री होता है॥८२-८३॥

प्रश्न—धनवान कौन होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो धर्मके कार्योंमें सदैव चतुर रहता है, देव, शास्त्र, गुरुओंकी विनय वेयावृत्य करनेमें जो सदैव तत्पर रहता, जो चारित्र पालन करनेमें सदैव उत्सुक रहता है, जो जिनेन्द्र भगवान्‌की आज्ञा माननेमें भावोंकी विशुद्धतासे दृढ़ रहता है, मन, वचन, कायसे सयमका आराधन करता है, भय रहित है। भगवान्‌की पूजा-अभिषेक आदि धर्मकार्योंको पापरहित हो, प्रेमभावसे करता है और पात्र तथा चतुर्विध संघको दान देता है वह धनवान् होता है। पुण्यकार्योंसे धनवान होता है ॥ ८४-८६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य सदैव दान, पूजा, अभिषेक आदि पुण्यकार्योंको करता हे और अपने परिणामोंको सदैव हर्षके साथ दान पूजामें लगाता है वह धनवान होता है और फिर निर्जराधिप होता है ॥ ८७ ॥

प्रश्न—रोगी कौनसे पापसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! अपनी आत्महत्या करना, विष, शस्त्र, अग्नि आदिसे अपघात करना, धर्म समझ-कर आत्मघातसे मरना, शल्यसे तप करना, अपने पवित्र कुलमें धर्मविरुद्ध कलक लगा कर नाश करना, गुरु, माता-पिता आदि पूज्य पुरुषोंकी वेयावृत्य, सेवा-सुश्रूषा आदि नहीं करना इत्यादि कामोंसे मनुष्य रोगी होता है। और दुर्गतिमें जाता है ॥ ८८-८९ ॥

प्राणिना रक्षको मर्त्यः अन्त्यशल्येन वर्जितः । निजापरकुलस्यैव वर्द्धकारी च यो नरः ॥ ९० ॥
निरोगी स भवत्येव परप्राणस्य रक्षणात् । सदाकाले महाशर्मभोक्ता नास्त्यत्र संशयः ॥ ९१ ॥
किंचिद्वस्तुमदृष्टं च मानवो यो हि भूपते । दृष्टं हि कथयत्येव परदोषप्रदस्तथा ॥ ९२ ॥
समये जिनपूजायाः पश्यति स्त्रीस्तन तनुम् । आभरणं चाननं सुरूपलावण्यादिकम् ॥ ९३ ॥
जात्यन्धो भवत्येव परजन्मनि जन्मनि । स पुमान् नात्र सन्देहः सदा दुःखस्य भाजकः ॥ ९४ ॥
वृद्धत्वेपि नराधीश स्त्रीक्रीडामक्षपोषण । मुञ्चति यः पुमान् नैव रसैर्नानाविधैस्तथा ॥ ९५ ॥
स मृत्वा हि भवत्येव अन्धश्च परजन्मनि । महादुःखाब्धिभोगी च मरणातेहवारतः ॥ ९६ ॥
दुर्गन्धाढ्यमशुद्धं च उच्छिष्टं परकल्पनात् । मन्त्राकर्षेण ह्यानीत शूद्रस्पृश्य विवासितम् ॥ ९७ ॥

प्रश्न—निरोग कौन कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! समस्त प्राणियोको औषध दानसे रक्षण करना । शल्य रहित धर्म सेवन करना । अपने-अपने कुटुम्ब तथा समस्त जीवोके कुटुम्बोकी वृद्धि चाहना, दान-पूजादि कार्योंमें हर्षित होना, दूसरेकी प्राणोंकी रक्षा इत्यादि पुण्य कार्योंसे, जीवको निरोगता प्राप्त होती है । वह जीव सदाकाल महान् सुखोका भोक्ता होता है ॥ ९०-९१ ॥

प्रश्न—जन्मांध कौनसे पापोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! बिना देखी हुई वस्तुको देखी हुई बतलाना, दूसरोके दोषोको देखते रहना । धर्मात्मा पुरुषोंसे [illegible] । भगवान्‌की पूजाके समय स्त्रियोके स्तन, मुख और आभूषणोको देखकर प्रसन्न-चित्त होना इत्यादि पापकार्योंसे मनुष्य जन्मांध होता है । और वह सदैव दुःखको प्राप्त करता है ॥९२-९४॥

[illegible] वृद्ध होकर भी कामक्रीडामें तत्पर रहना । इन्द्रियोके पोषणमें ही निमग्न रहना । पुष्ट [illegible] धर्मकृत्यको भूल जाना, दूसरोकी आँखें फोड़ना इत्यादि पापोसे [illegible] होता है और महादुःखके सागरमें डूबता है ॥ ९५-९६ ॥

प्रश्न—[illegible] (शीतगलित) कौनसे कारणोंसे होता है ?

[illegible] जो मुनि, [illegible], व्रती, संयमी पुरुषोंको दुर्गन्ध, अशुद्ध, उच्छिष्ट, दूसरोके लिए

ईदृग् न्नादपानं च व्रतिना वा मुनीशिना । आर्यिकाणा ददात्येव यो मनुष्यो नराधिप ॥ ९८ ॥
निघमो जायते तस्माद्दोपात् दुर्गतिकारणम् । व्रतयुक्ताय नो देयं अतोऽशुद्धं च वस्तुकम् ॥ ९९ ॥
मनुष्यो मगधाधीश मधुस्थानस्य य कुधी । घात करोति दाह च अग्निना हि करोत्यहो ॥ १०० ॥
करयेव खलु जीवस्य शरीर ज्वालयत्यहो । वा ग्राम सदन चैव भूधर जीवसभृतम् ॥ १ ॥
प्रज्वालयत्यरण्य च तथा ह्युपवनादिकम् । सैव कुष्टी भवत्येव परपात्रैव निश्चयात् ॥ २ ॥
जात्याद्यष्टमदाना च करोति य. पुमान् मदम् । परसद्मनि स दासो भवति नात्र सशय. ॥ ३ ॥
अष्टभेदमदस्यैव प्रयोगाच्च कियत्प्रमा. । दोपा भवन्ति अस्मिन् वै तान् शृणु कथयाम्यह ॥ ४ ॥
जात्या मदेन अस्यैव नोचजातिर्भवत्यहो । कुलस्य मददोपेण कुकुलस्यैव प्राप्तिता ॥ ५ ॥

संकल्प पूर्वक बनाया हुआ, मन्त्रके द्वारा लाया और शूद्रजनसे स्पर्श किया हुआ भोजन पान देता है वह भोग-रहित होता है। और मायाचारके पापसे दुर्गतिमे अनन्त संसार तक भ्रमण करता है। व्रती पुरुषोंको अशुद्ध अन्न देनेसे महान् पापका अस्राव होता है। इसके समान अन्य पाप नहीं है। इसलिए मन, वचन, कायकी शुद्धिका उच्चारण कर फिर भी अशुद्ध और शूद्र जनसे स्पर्श किया आहार पान देना, दाताको पुण्यके स्थान पर धर्मकार्यमें मायाचारी परिणामोंके कारण महान् पापबंध होता है। इसलिए ऐसा पापका कार्य कदापि नहीं करना चाहिए ॥ ९७-९९ ॥

प्रश्न—कोढी कौनसे पापसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! मधुमक्षिकाके छताओंके नीचे अग्नि लगाकर जीवोंको मारना, नगरका दाह करना, ग्राम, घरमें, पर्वतमें अग्नि लगा देना, शूकर आदि प्राणियोंसे भरे हुए वन जला देना। धर्म समझ कर सती दाह करना, धर्म समझ कर पर्वतमे अग्नि दाह करना, वन या जंगलमे अग्नि लगवा देना, जीवोंको भयानक त्रास देना, इत्यादिक पापसे कोढ़ी होता है ॥ १००-१-२ ॥

प्रश्न—दास कौनसे पापोंसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो जाति, कुल, ज्ञान, बल, वीर्य, तप, ऐश्वर्य और रूप इन आठके मदों (अभि-मान) को धारण कर दूसरे धर्मात्मा जीवोंका अपमान करता है वह मरकर दूसरोंके घरमे दास होता है। आठ

मूर्खत्व जायते चास्य ज्ञानमदस्य कारणात् । ऐश्वर्यमदतोय च दासो भवति निश्चयात् ॥ ६ ॥
निर्वलो च भवत्येव वलगर्वस्य दोषत. । वित्तहर्पेण अस्याप्तिर्भवत्येव दरिद्रता ॥ ७ ॥
अत्यातकी तपस्याया मदेन भवति ह्यय । कुरूपी च सुरूपस्य मदस्य करणात्तथा ॥ ८ ॥
एभिरुन्मत्तचित्त य करोत्येव नरेश्वर । मृत्वा सैव खरो भूत्वा दासो भवति स पुन ॥ ९ ॥
पादेन ताडयत्येव ठणचारीन् नगोत्तम । मानवो यः भवत्येव सैव खज परत्र हि ॥ १० ॥
गडुलो जायते चाय केन दुःकर्मणा जिन । मानुज. सर्वपापाग्निमेव पुष्पोपमप्रभो ॥ ११ ॥
सौरभेयान् तथा छागान् लुलायान् च क्रमेलकान् । गसभान् वाहयान् चैव तथा चानेकपान् नृप ॥ १२ ॥
इत्यादिजीवमदोहान् तृणभक्षणतत्परान् । अपराधविनिर्मुक्तान् वचनालापवर्जितान् ॥ १३ ॥
पीडयत्यतिभारस्यारोपणेन नराधमः । अतिनिर्दयभावाढ्यो योहि परस्य पोडद. ॥ १४ ॥
अत्रैव कुब्जको भूत्वा करोति गमन सदा । यष्टिकाभ्या च दृग्भ्या वै भुक्त्वा दु.खमनारतम् ॥ १५ ॥
मृत्वा पश्चाच्च गत्वा हि श्वभ्रे तत्रापि निप्रभम् । अशर्म पापपाकेन तस्मादपि च स. पुमान् ॥ १६ ॥

मदमेंसे किस मदसे कौनसे दोप होते हैं उनको मैं कहता हूँ सो सुनो। १. जातिका मद करनेसे नीच होता है। २. कुलका अभिमान करनेसे कुकुलीन होता है। ३. ज्ञानका मद करनेसे मूर्खता आती है। ४. ऐश्वर्यका मद करनेसे दरिद्री होता है। ५ बलका मद करनेसे निर्वल होता है। ६. तपका मद करनेसे रोगी होता है। ७. रूपका मद करनेसे कुरूपी होता है। और शरीरका मद करनेसे (साधारण दृष्टिसे) दास होता है। इस प्रकार उन्मत्त चित्त हुआ जो इन भेदों को करता है वह मरकर गधा होकर पुनः दास होता है॥ ३-९ ॥

प्रश्न—लंगड़ा किस कारणसे होता है?

उत्तर—हे राजन्! जो पांवों (चरणों) से दूसरोंकी चांदमें ठोकर मारता है वह खजा होता है॥१०॥

प्रश्न—कुबड़ा कौनसे पापसे होता है?

उत्तर—हे राजन्! कुत्ता, बकरा, भैंसा, ऊंट, गदहा आदि तृणके भक्षण करनेवाले निर्दोष मूक प्राणियों पर शक्तिसे अधिक भार लादना, पीड़ा देना, निर्दय भावसे ताड़ना करना, अन्न-पानादिका निरोध करना इत्यादि पापोंसे मनुष्य यहां पे कुबड़ा होकर सदा गमन करता है॥ ११-१५ ॥

पश्चात्—यह कुबड़ा होकर पापरूपी (निरपराधी) पशुओंको अतिशय पीड़ा देनेके पापसे मरकर नरकमें

आगत्य कुब्जको नून भवति नात्र सशय । पूर्वपापप्रयोगेण अशर्मवस्तुभक्षक ॥ १७ ॥
दारिद्रयाढ्य नर दृष्ट्वा यो धनी स्वात्मनि नृप । जुगुप्सा च करोत्येव द्रव्योत्करमदात् खलु ॥ १८ ॥
परभवे भवत्येव मृत्वाऽसौ मानवर्जित । अन्यैश्चाप्नोति धिक्कार सर्वस्थानेषु तदघात् ॥ १९ ॥
लकहस्तेन य मर्त्यो मापयित्वा ददात्यहो । परेषामशुक भूप महाकपटमडित ॥ २० ॥
हीनतुलकया चैव धान्यादिवस्तुसचय । यच्छति अन्यमर्त्याना हीनमानेन वा तथा ॥ २२ ॥
गृह्णाति परधान्यादिवस्तुसहतिमजसा । वृद्धतुलकया वृद्धमानेनातीवलोभत ॥ २२ ॥
स हि मृत्वा भवत्येव परजन्मन्यघोदयात् । अगहीनो महादु ख भाजनो नात्र सशयः ॥ २३ ॥
स्वकरेण कदाप्यत्र दान स्नान च पूजनम् । मानुजो नो करोत्येव य स भवति टुटकः ॥ २४ ॥

दुःखोंको प्राप्त होता है । और वहाँसे निकलकर फिर भी पापोदयसे कुबड़ा होता है । इसलिये मूक और निरपराधी पशुओंको सताना अच्छा नही है ॥ १६-१७ ॥

प्रश्न---धिक्कारका पात्र कौन होता है ?

अर्थ---हे राजन् ! जो दरिद्री दीन मनुष्योको देखकर अपने मनमें धनमदसे उसका तिरस्कार करता है वह मनुष्य मरकर धिक्कारका पात्र होता है । उसका सर्वत्र अपमान होता है ॥ १८-१९ ॥

प्रश्न---अंगहीन कौनसे पापोंसे होता है ?

अर्थ---हे राजन् ! जो मनुष्य तृष्णाकी गृद्धतासे कमती तोलता है और बढ़ती लेता है । मापसे कपड़ा आदिको कमती माप कर देता है । बढती लेता है । धान्यादिक वस्तुओको बढ़ती मापकर लेता है, कमती देता है । इस प्रकार जिसकी निष्ठा मनकी लोभवृत्तिसे मलिन रहती है वह मरकर या उसी भवमें हीनांग होता है ॥ २०-२३ ॥

प्रश्न---टूंटा कौनसे पापसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो अपने हाथसे श्रीमज्जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका अभिषेक पूजा और मुनिगणोंको दान वैयावृत्य आदि नहीं करता है वह टूंटा होता है ॥२४॥

तीर्थनाथस्य तीर्थं भो करोति नैव यो नरः। स हि पगुर्भवत्येव परतीर्थस्य सेवनात् ॥ २५ ॥
जिनेन्द्रगुणसभूता रागविद्या शिवप्रदाम् । य विगायति नैवात्र मानवो भूपते ननु ॥ २६ ॥
भडरागममद्भूता गायति चातिहर्षत । रागविद्या नर. सैव मूको भवति निश्चयात् ॥ २७ ॥
यो हि सयमयुक्ताना नराणा गुणिना तथा। शीलालकृतगात्राणा जिनधर्मोपदेशिनाम् ॥ २८ ॥
दिगबरमुनीन्द्राणा तथाहि ब्रह्मचारिणाम् । आर्यिकाणा तथा भूप श्रावकाणा सुधर्मिणाम् ॥ २९ ॥
उत्तादीना च य मर्त्य. अपवाद ददात्यहो। करोति पापदा निंदा वा हास्य शर्मनाशकम् ॥ ३० ॥
म मृत्वा तद्धि पापेन कुरूपो परजन्मनि । भवत्यपरमर्त्यौघे निंदनीयः सदा खलु ॥ ३१ ॥

प्रश्न—पंगु कौनसे पापसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो मनुष्य देवाधिदेव श्री तीर्थंकर परमदेवके पवित्र तीर्थोंकी यात्रा अपने पैरोंसे न कर अन्य मिथ्या कल्पित तीर्थोंका पर्यटन करता है उसके सत्य धर्ममें श्रद्धा न होनेके कारण और मिथ्यात्वके सेवन करनेके कारण तीव्र पापका आस्रव कर पंगु होता है ॥ २५ ॥

प्रश्न—मूक कौनसे पापसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो मनुष्य श्री जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंकी गानविद्याको न गाकर, भंडराग और बीभत्स रागोत्पादक भंड गानोंको अति हर्षसे गाता है और उसमें अनुराग करता है वह मिथ्यात्व सेवन करनेके कारण मूक होता है ॥ २६-२७ ॥

प्रश्न—महान् कुरूपी कौनसे पापसे होता है ? और जनतामें अपवाद किसका होता है ?

अर्थ—हे राजन ! संयमको धारण करनेवाले परम गुणी संत पुरुष, शील (ब्रह्मचर्य) से विभूषित, जिनेन्द्र मार्गके प्रकाशक, दिगम्बर मुनिगण, ब्रह्मचारी, आर्यिका, श्रावक और श्राविका आदि चतुःसघका अप- [illegible] करनेसे, उनकी मिथ्या निंदा करनेसे और उनका हास्य आदि कुभाव करनेसे [illegible] निन्दा सर्वत्र होती है। इस पापके समान अन्य कोई भी पाप नहीं है। इस [illegible] और कोढ़ राग आदि भयकर दुःसह वेदना शरीरमें इस प्रकारके [illegible] ॥ २८-३१ ॥

एपामितरतो भूप महारूपी भवत्ययम् । तदेव शर्मभोक्ता च महासारविभूपित ॥ ३२ ॥
जन्तो कस्यैव पीडा च अतितीक्ष्णासिना पुमान् । वा कुन्तेन करोत्येव कारापयति ह्यन्यतः ॥ ३३ ॥
बहुभिर्वेदनाभिश्च सयुक्तो भवति नृप । आजन्मात्ययपर्यन्तपरपीडान्न किं भवेत् ॥ ३४ ॥
अन्यस्मिन् य: पुमान् जीवे पोडिते व्याधिभिः सदा । तेषा हि प्राणिना चैव मोचापयति व्याधितः ॥ ३५ ॥
भेषजैः वा रसैर्मन्त्रै अन्योपायोत्करै. तथा । कारुण्यहृदय कृत्वा सदा परदयारत. ॥ ३६ ॥
स भवति नराधीश परजन्मनि मानव । वेदनारहितो नूनं परपीडानिवारणात् ॥ ३७ ॥
कृषिकर्ममनन्ताना जीवाना क्षयकारकम् । य· करोति तथा त च कारापयति अन्यतः ॥ ३८ ॥

प्रश्न—सुरूपी और मनोहर कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! चार प्रकारके संघकी मन, वचन, कायसे प्रशंसा करना, सराहना करना और चतुः-संघको मोक्ष मार्गका प्रकाशकारी समझकर अतिशय आदर करना, पूज्य मानना और सदैव उसकी भक्तिमें तत्पर रहना इससे मनुष्य सुरूपवान् सुन्दर और कीर्तिशाली होता है ॥ ३२ ॥

प्रश्न—जीवोको दुस्सह पीड़ा कौनसे पापसे होती है ?

अर्थ—हे राजन् ! जो जीवोको बिना कारण ही त्रास देता है । तलवार, कुंता, चाकू, बरछी आदि शस्त्रोंसे अन्य जीवोंको पीड़ा देता है वा अन्य किसीसे ऐसी भयानक पीड़ा जीवोंको दिलवाता है । समस्त जीवोंको दुःखी करनेकी क्रूर भावना रखता है वह आजन्म पीड़ाको प्राप्त होता है । पापसे क्या नहीं होता है । जो दूसरोको पीड़ा देगा, उसको अवश्य ही पोड़ा प्राप्त होगी ॥ ३३-३४ ॥

प्रश्न—वेदना रहित कौनसे पुण्यसे होता है ?

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो व्याधि, दुःख और पीड़ासे सन्तप्त, वेदनासे आक्रांत जीवोको देखकर उनकी पीड़ाको दूर करता है, जो दूसरोंको दुःखोंसे छुड़ाता है जो रोग, व्याधिके समय औषधि, मन्त्र आदिसे उनके दुःखोंका नाश करता है और जो समस्त जीवोंपर सदैव दयाभाव रखता है, वह वेदना रहित होता है ॥३५-३७॥

प्रश्न—मोही कौनसे कारणोंसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! खेती आदि हिंसक व्यापार स्वयं करना अथवा तीव्र मोहके कारण हिंसक व्यापार

कृतस्य कारितस्यैव पापस्य गदित जिनैः। समानैव फल जैन राद्धाते सर्ववेदिभि. ॥ ३९ ॥
कृपिकर्ममम पाप नो पर भुवनत्रये । रामठ शृङ्गवेरादि कन्दवारक्रिय तथा ॥ ४० ॥
जवागूज मधूच्छिष्ट सज्जिकामश्मज तथा। गोपरस तथा नागभस्म क्षार च पिंजर ॥ ४१ ॥
चपल गन्धक चैव शिलिग्रीव च अब्धिज। तिलोद्भवरस चैव लाक्ष जीवस्य घातकम् ॥ ४२ ॥
इत्यादीना करोत्येव क्रय वा विक्रय तथा। कुटुम्बपोषणार्थं च धान्योत्करस्य यो नरः ॥ ४३ ॥
तीव्रमोही कुटुम्बेषु मोक्षज्ञानविवर्जित. । हाहाकारकरो दु.खे सदैव दुर्मतिस्तथा ॥ ४४ ॥
तीव्रोदयो भवत्येव यस्यैव मोहकर्मणः । ज्ञानदर्शनयोर्नून अत्येवावरणस्तथा ॥ ४५ ॥
अतिकौटिल्यता चैव त्रयाणा मगधाधिप । सदा शोको दिने भोगी स्त्रियाः सद्धर्मवर्जित. ॥ ४६ ॥
एभि दु.कर्मभि सैव पचेन्द्रियोन्यजन्मनि । भवत्येकेन्द्रियोनन्तदु खवारस्य भाजनः ॥ ४७ ॥
महागूढ च आत्मोत्थ चिन्मय कर्मवर्जितम्। यः पुमान् जीवतत्व च सदा निश्चलसस्थितम् ॥ ४८ ॥

दूसरोंसे कराना, इसी प्रकार अदरख, कन्द, गूलर आदि अनन्त जीव मिश्रित पदार्थोका व्यापार करना, मदिरा, मांस, शहद आदिका व्यापार करना कराना, रायगुड़िया (जीव विशेष) का रस निकाल कर व्यापार करना कराना, जीवोंकी चर्बीका व्यापार, गन्धक, लोहा, लाख आदिका व्यापार, महुआ (मधुपुष्प) का व्यापार, मशीनोंके द्वारा महान् हिंसक होनेवाले व्यापार, चमड़ेका व्यापार आदि निंद्य और हिंसाजनक व्यापारोका करना कराना या ऐसा उपदेश देना, तीव्र मोहोदयसे पापकी प्रवृत्तिमें लग जाना आदि कारणोसे मोही होता है जो [illegible] कारण है ॥ ३८-४४ ॥

प्रश्न—एकेन्द्रिय कौनसे पापोंसे होता है ?

उत्तर—हे राजन्! जो [illegible] जीवोंके दर्शन-ज्ञानका आवरण करता है, मन, वचन, कायकी [illegible], [illegible] करता है, जो सद्धर्मका लोप करता है, जो आर्त्तध्यानसे [illegible] करता है, जो अपनी प्रवृत्ति धर्मरहित करता है वह [illegible] हो जाता है ॥ ४५-४७ ॥

प्रश्न—[illegible] करता है ?

उत्तर—[illegible], आत्मज और कर्मोसे रहित आत्माका जिसके श्रद्धान नहीं है,

ईदृश कर्मकर्तारं भोक्तार तत्फलस्य च । व्ययमपि च अभव्यानामप्राप्तं च कदाप्यहो ॥ ४९ ॥
जानाति स्वहृदि नैव धर्माधर्मफलं तथा । लोकाकाशमलोकं च सर्वज्ञ दोषवर्जितम् ॥ ५० ॥
मुनीनां सकलाचार स्वरूपं च चतुर्गतेः । कर्मकर्मफल चैव कर्मणो बंधन तथा ॥ ५१ ॥
व्यवहारनयस्यैव स्वरूप नाकदायकम् । निश्चयस्य नयस्यैव स्वरूपं मोक्षदायकम् ॥ ५२ ॥
सैव भो मगधाधीश एभि कुकर्मभि. खलु । तिष्ठत्येव सदा काले ससारे दु.खसंभृते ॥ ५३ ॥
उक्तदोपान् निजे चित्ते इतरत्वेन यो नर । जानात्येव नराधीश भव्यभावेन मडितः ॥ ५४ ॥
बहुकाल च स नैव भवारण्येतिदु.खदे । भ्रमति शीघ्रतो मोक्षे यात्येव ह्यघनाशत ॥ ५५ ॥
भजनाज्जिनबिंबाना आलयाना च भो नृप । उपसर्गान्मुनीन्द्राणामागमानाच नाशतः ॥ ५६ ॥

जो चिद्रूप आत्माके अस्तित्वको नहीं मानता है, जिसके अन्तरंग परिणाम तीव्र अज्ञान मिथ्यात्वसे सत्य पदार्थोंकी श्रद्धासे रहित हैं, जो लोकाकाशादि तत्त्वोंको नहीं जानता है, जो मुनिधर्मके चारित्रको नहीं जानता है और जो चारो गतियोंका स्वरूप कर्मका फल, कर्मोका स्वरूप, कर्मबन्धका स्वरूप, व्यवहारनयका स्वरूप, निश्चयनयका स्वरूप, मोक्षका स्वरूप आदिके स्वरूपको नहीं जानकर अन्यथा श्रद्धान करता है, मिथ्यात्वभावोसे तत्त्वोंके स्वरूपका अन्यथा श्रद्धान करता है, पदार्थोके स्वरूपको नहीं जानता है वह चिरकाल संसारमें परिभ्रमण करता है ॥ ४८-५१ ॥

प्रश्न——संसारके परिभ्रमणसे कौन शीघ्र ही छूटता है ?

अर्थ——हे मगधेश्वर ! जो सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है । जो मुनिधर्म व गृहस्थ धर्मको मोक्षोपयोगी समझकर विशुद्ध भावोसे धारण करता है सापेक्ष व्यवहारनय स्वर्गको देनेवाला व निश्चय मुक्तिदायक है इस प्रकार जो निश्चयनय और व्यवहारनयसे आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है । जो भव्यभावोंसे सदैव आनन्दित रहता है । जो प्रशम-संवेगादि गुणोको धारण करता है वह शीघ्र ही संसारसे मुक्त होता है और आत्मीक अविनश्वर सुखको प्राप्त होता है । बहु काल तक दुखदायी संसार रूप वनमे वह भटकता नहीं ॥ ५२-५५ ॥

प्रश्न——मोहकी गाँठ किस कारणसे दृढ़ होती है ?

अर्थ——हे राजन् ! श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान्को प्रतिमाओंका भंग करना, दुष्ट बुद्धिसे उनका अपमान

एभिस्त्रिभिः कर्मभिश्चास्य कर्मणा च दृढा खलु । ग्रंथी सबध्यतेऽनंतभवदुःखप्रदायिका ॥ ५७ ॥
सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानचारित्राणा च यः पुमान् । त्रिशुद्ध्या पालयत्येव निश्चयव्यवहारतः ॥ ५८ ॥
तपोयोगेन कृत्वैव ग्रथनः ह्यष्टकर्मणाम् । नाश यात्येव भो भूप सदा शर्मभयेऽक्षये ॥ ५९ ॥
च्युतोपमे निराधारे वृद्धिह्रासविवर्जित । सिद्धसदोहसयुक्ते ह्यतातीतगुणालये ॥ ६० ॥
इन्द्रनागेन्द्रभूपेन्द्रवृन्दपूज्येक्षविच्युते । ईदृशे परमे स्थाने दुर्लभे चान्यलिंगिनाम् ॥ ६१ ॥
प्रदोषो निह्नवश्चैव तथा मात्सर्यसज्ञक । अन्तरायाभिधश्चैव आसादनोपघातकौ ॥ ६२ ॥
एभि षट्कर्मभिश्चास्य वधो भवति भूपते । द्वयोर्हि ज्ञानदर्शनावरणयोर्भवप्रदः ॥ ६३ ॥
पृथक् पृथक् शृणु त्वं च षण्णा हि लक्षणं नृप । निर्विकल्पतया वक्ष्ये कर्मबन्धविघातकम् ॥ ६४ ॥

करना, श्रीजिनदेवके मन्दिरका विध्वंस करना, मुनियोको उपसर्ग करना, जिनागमको अवर्णवाद लगाना या जिनागमको मिथ्या कल्पित सिद्ध करना इत्यादि भयंकर पापोसे मोहकी गाँठ दृढ़ होती है जिससे जीव अनन्त-काल पर्यंत घोर दुःखोको प्राप्त होता है ॥ ५६-५७ ॥

प्रश्न—मोहकी गांठ किस कारणसे छूटती है ?

अर्थ—हे राजन्! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्‌चारित्र आदि आत्मिक गुणोको मन, वचन, कायकी विशुद्धिसे व्यवहार और निश्चयसे धारण करनेसे मोहकी गाँठ शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। तपोयोगसे अष्टकर्मों-को नाशकर अक्षय सुखको प्राप्त होता है। जिससे आत्मीक सत्य सुख प्रकट होता है ॥ ५८-५९ ॥

अर्थ—मोहकी ग्रन्थी नष्ट होनेपर जीवको उपमा रहित अनुपम स्वभावरूपसे प्राप्त अनन्त गुणोसे परिपूर्ण इन्द्र, नागेन्द्र, [illegible] पूजित अतीन्द्रिय और अविनाशीक मोक्ष सुख प्राप्त होता है जिसकी प्राप्ति एक जैन [illegible] ही होती है ॥ ६०-६१ ॥

प्रश्न—ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव कौन-कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन्! प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात इन छह कर्मोंसे ज्ञाना-वरण और दर्शनावरणका आस्रव होता है। इनका स्वरूप आगे पृथक्‌पृथक् बतलाते हैं ॥ ६२-६३ ॥

अर्थ—[illegible] पृथक्‌पृथक् [illegible] आगे बताते उसे सुनो ॥ ६४ ॥

सम्यग्दर्शनसद्ज्ञानधारकस्य च नु खलु । चारित्रपालकस्यैव त्र्येकस्य धारकस्य वा ॥ ६५ ॥
सभाया च कृता नून मर्त्येन केनचिदिग्म् । प्रशसा परमा तस्य अहो धन्योऽधुना स च ॥ ६६ ॥
श्रुत्वेन नो करोत्येव पुमान् कोप्येव तस्य वे । पैशून्यदोपितातस्थ परोदयविघातकः ॥ ६७ ॥
प्रशसा च वदत्येव चापवाद तु तस्य वे । प्रदोपस्यैव एतद्धि जानीहि लक्षण नृप ॥ ६८ ॥
केनचित्पुरुतेणैव प्रोक्त भो बुधसत्तम । भवता च गृहे ह्यस्ति अमुक पुस्तक शुभम् ॥ ६९ ॥
मा देहि त पठित्वा च लिखित्वेव पुनश्च वे । दास्यामि भवता तद्धि द्वापरो नात्र किञ्चनः ॥ ७० ॥
किमपि कारण धृत्वा ह्यहकार च स्वहृदि । विद्यमानेपि ज्ञानादौ व्याहरत्येव स कुधीः ॥ ७१ ॥
नो जानामि इद ज्ञानमस्मत्पार्श्वे च निश्चयात् । पुस्तकोप्येव स नास्ति सा कलाप्येव मानवः ॥ ७२ ॥
एव योहि करोत्येव ज्ञानस्याच्छादन पुमान् । नास्ति चेति कथन तत् ज्ञानस्य विद्यते खलु ॥ ७३ ॥

प्रश्न—प्रदोषका लक्षण क्या है ?

अर्थ—हे राजेन्द्र ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और उनका पालन करनेवाले भव्यप्राणियोंकी सभामें प्रशंसाको सुनकर सहन नहीं करना अथवा उन गुणोमें अनुराग नहीं होना, गुणोंमें रुचि नहीं प्रकट करना सो प्रदोष है । ईर्ष्या या असहिष्णुताके लिए दूसरे पुण्य पुरुषोंके उत्तम सम्यग्दर्शनादि गुणोंके अभ्युदयको सहन न कर मनमें द्वेष बुद्धिसे उसका अपवाद करना, निन्दा करना सो प्रदोष है । इससे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है ॥ ६५-६८ ॥

प्रश्न—निह्नव दोषका लक्षण क्या है ?

अर्थ—हे राजन् ! किसी पुरुषने अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये किसी पुरुषके पास ज्ञानवृद्धिका साधन पुस्तक आदि की याचना की, माँगी । परन्तु मेरी पुस्तकादिकोंसे यह ज्ञान सम्पादन कर महत्त्वशाली बन जायेगा जिससे मेरी प्रतिष्ठा या गौरवका नाश होगा, इस प्रकारके दुष्ट भावोंको हृदयमें धारण कर किसी भी बहानेसे निषेध कर देना कि मेरे पास वह पुस्तक नहीं है । इस प्रकार विद्यमान ज्ञान साधनोंको छुपाकर मनकी कुटिलतासे निषेध करना सो निन्हव है । इसी प्रकार शास्त्रकी चर्चाका अपनेको ज्ञान होनेपर भी उक्त प्रकार दुष्ट अभिप्रायको रखकर निषेध कर देना कि मुझे यह बात मालूम नही है । सो निन्हव है ।

सम्यग्ज्ञानके प्रचारको रोकना, सम्यग्ज्ञानकी वृद्धिका नाश करना, सम्यग्ज्ञानियोंका महत्व

प्राप्नोति सैव दुर्दोषं निन्हवाह्वं भवप्रदम् । मानवो मगधाधीश बोधापलपनाच्च वै ॥ ७४ ॥
विद्यते गहनार्थोय कठस्थो भवतां खलु । ग्रथो मां पाठय धीर चाग्रवर्द्धनहेतवे ॥ ७५ ॥
योग्योह पठने तस्य पाठने तस्य निश्चयात् । योग्यस्त्वमसि नान्योहि महामतिप्रधारकः ॥ ७६ ॥
एव श्रुत्वापि तस्यैव वाच पुसे च तस्य वै । दानयोग्याय केनापि हेतुना दीयते न सत् ॥ ७७ ॥
य॰ स लभते भो भूप दोप मात्सर्यसंज्ञकम् । मात्सर्यहेतुतो नून भवभ्रमणकारणम् ॥ ७८ ॥
सदमि विद्यमाने च व्याख्यानमागमस्य वै । केनचित् कारणेनैव तस्मिन्कोपि करोत्यहो ॥ ७९ ॥
प्रश्नेदग मनोज्ञत्वावा येनैव ह्यागमस्य च । अतरायो भवत्येव स्वकार्यवशात तथा ॥ ८० ॥
अन्या वाहि करोत्येव कुर्वता ह्यन्यदायकाम् । मौखर्यत्वेन यो मर्त्य स्वमदेन तथा नृप ॥ ८१ ॥

गिरा देना सो सब निन्हव दोप है । इससे अनन्त दुःख प्रदायी कर्म (ज्ञानावरण और दर्शनावरण) का आस्रव होता है ॥ ६९-७४ ॥

प्रश्न—मात्सर्य दोप किसे कहते है ?

अर्थ—हे राजन् ! किसी शिष्यने आकर कहा कि हे स्वामिन् आपको शास्त्रोका गहन अर्थ सब कठस्थ है । मै अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिये आपसे पठन-पाठन और अभ्यास करना चाहता हूँ । मै इसके योग्य हूँ । और आप भी सब प्रकार यथेष्ट योग्यताके धारक हो, यह विद्या आपके सिवाय अन्यत्र मुझे प्राप्त नही होगी । इस प्रकार प्रार्थना करनेपर जो मनकी मत्सरतासे सम्यग्ज्ञानके शास्त्रोका पठन-पाठन नही करावे अथवा किसी अन्य [illegible] योग्य ज्ञानको प्रदान करनेमे द्वेष करे सो मात्सर्य दोपका धारक है । इससे ससारका भ्रमण होता है ॥ ७५-७८ ॥

प्रश्न—[illegible] दोपका लक्षण क्या है ?

[illegible]—हे राजन् ! [illegible] सम्यग्ज्ञानका उत्तम व्याख्यान हो रहा है । जिसको श्रवण कर अनेक [illegible] इस परमागमके सर्वोत्कृष्ट व्याख्यानको मनकी दुष्टतासे रोक देना अथवा [illegible] मनकी दुष्टतासे परमागमके व्याख्यानमें [illegible] नष्ट कर देना [illegible] लगाकर परमागमके व्याख्यानमे विघ्न [illegible] रोक देना या किसी उपायसे अन्यके द्वारा नष्ट करा देना सो

अंतरायाभिधं दोषमहसतनिदायकम् । उपार्जयति सो नूनं शास्त्रविच्छेदकारणात् ॥ ८२ ॥
करोति नो यो मूढ मतो ज्ञानस्य मानव । कायेन विनयं चैव हस्तकुड्मलतस्तथा ॥ ८३ ॥
पद्मासनाच्च स्तवनात् स्मरणाच्च प्रकाशनात् । प्रनधाना च सोप्येव तदाछादनत. खलु ॥ ८४ ॥
आसादनाख्य दुर्दोषमाप्नोति मगधाधिप । सर्वदु खप्रदं हेयं जैनतत्वविदावरे ॥ ८५ ॥
सुज्ञाने वाच्यमाने हि सदसि गुरुणा नृप । य. कोपि कथयत्येवं मदमात्सर्यकारणात् ॥ ८६ ॥
इद पाठमशुद्ध न कल्पोक्तमिव दृश्यते । अनुक्त भासते नून सम्बन्धोऽय कथ धृत ॥ ८७ ॥

अन्तराय दोष है । मूर्खता और अभिमानसे परमागमका विच्छेद करना सो भी अन्तराय दोष है । यह अनन्त पापका प्रदान करनेवाला भयंकर दोष है ॥ ७९-८२ ॥

प्रश्न—आसादन दोषका स्वरूप क्या है ?

अर्थ—हे राजन् ! परम उत्कृष्ट और सर्व प्रकारसे सर्वदा निर्दोष ऐसे परमागमका मन, वचन, कायसे विनय नही करना, हाथ नहीं जोड़ना, पद्मासनसे वंदना भक्ति नहीं करना, पूजा नहीं करना, ऊँचे स्थानपर विराजमान नहीं करना, परमागमके उपकारको भूल जाना और अन्य समाजमें परमागमका प्रभाव कुंठित हो ऐसे आचरण करना, मनसे परमागमको हितरूप नहीं समझना, वचनसे उत्तम प्रबंधमें दूषण लगा देना सो सब आसादन नामका दोष है ।

प्रशस्त ज्ञान और उस ज्ञानको धारण करनेवाले भव्योत्तमका आदर सत्कार कर महत्त्व नहीं प्रकट करना सो आसादन नामका दोष होता है । सर्व दुखोंको देनेवाला है, छोड़ने योग्य है ऐसा जैन तत्त्वके ज्ञाताओं ने कहा है ॥ ८३-८५ ॥

प्रश्न—उपघातका दोषका लक्षण—

अर्थ—हे राजन् ! सभामें उत्तम और सर्वथा निर्दोष परमागमका भाषण होनेपर जो अहङ्कार या मात्सर्य भावसे (किसी प्रकारकी मलिनतासे) उस सत्यार्थको स्वीकार नहीं कर 'यह पाठ नहीं है', 'यह अर्थ ठीक नहीं है' अथवा 'पदार्थका स्वरूप नहीं है' इस प्रकार ज्ञानका घात करना सो उपघात है ।

आगमके वाच्यार्थमें या पदार्थके स्वरूपमें मनकी कुटिलतासे अन्यथा रूप प्रतिपादन करना सो उपघात

इत्याद्यगुणवृद्धेश्च आगमस्यैव योधमः । दूपण च ददात्येव मनुजो भो नृपोत्तम ॥ ८८ ॥
सैव नून लभत्येवोपघाताह्व कुदोपकम् । जिनवाक्यविघातत्वात्स्वशब्दस्यैव पोषणात् ॥ ८९ ॥
एतेहि षड्विधा दोषा ज्ञानावरण-दर्शना-वरणयोर्हि भवत्येव आस्रवा भवदायकाः ॥ ९० ॥
आचार्ये शत्रुता चैव अकालेऽध्ययन तथा । अरुचिपूर्वकं ग्रन्थपठन पठतोपि च ॥ ९१ ॥
आलस्यकरण नूनमनादरेण तस्य च । व्याख्यानश्रवणमुन्मनीकत्व स्वगुरोस्तथा ॥ ९२ ॥
वाच्यमाने प्रथमानुयोगे धर्मप्रभावके । तत्रैव कथयत्येव कोपि पैशुन्यदोषतः ॥ ९३ ॥
वाचनीय सभामध्ये मोक्षमार्गप्रदं शुभ । द्रव्यानुयोगनामच सभाया नो पर खलु ॥ ९४ ॥
बहुश्रुतेष्टगर्वस्य विवान चापमानन । परपक्ष पोषयत्येव मिथ्योपदेशकी तथा ॥ ९५ ॥
स्वस्य पक्षस्य लोकस्य पुष्टकर्मविवर्जित । ख्यातार्थं पूजनार्थं च लाभार्थमागमस्य च ॥ ९६ ॥

नामका दोष है । आगममें दूपण या आगममें असत्यार्थ पदार्थकी नियुक्ति कर देना भी उपघात कहा जाता है। अपने अहङ्कारको सिद्ध करनेके लिए अपने मिथ्या वचनोंको सत्य कहना और आगमके सत्य वचनोंको मिथ्या बतलाना सो उपघात है । इस प्रकार ये छह दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके आस्रवके कारण व संसार बढानेवाले हैं ॥ ८६-९० ॥

ऊपर बतलाये हुए निन्हवादि दोष ज्ञानावरण और दर्शनावरणके बंधके कारण हैं ।

अर्थ—आचार्यके शत्रुता करना, अकालमें पठन-पाठन, शास्त्र श्रवण करनेमें मनके परिणामोंको ग्लानि करना, [illegible] करनेमें प्रमाद प्रकट करना, गुरुकी चुगली या निन्दा करना, अथवा गुरुके समक्ष मिथ्या भाषण करना सो ज्ञानावरणी कर्मबंधके कारण हैं। सभामें प्रथमानुयोगका व्याख्यान हो रहा हो, उसको श्रवण [illegible] 'शास्त्र सभामें तो द्रव्यानुयोगका ही ग्रन्थ पढना चाहिये, वही मोक्षमार्गका [illegible] प्रथमानुयोग शास्त्रमें अरुचि उत्पन्न करा देना या प्रथमानुयोग शास्त्रोंको मिथ्या ठह- [illegible] अपना गर्व प्रकट करना अथवा उनका अपमान करना॥९०-९५॥

[illegible] आगमानुसार तत्त्व-तत्त्व पदार्थोंका [illegible] प्रमाण कहने पर से [illegible], अपने पक्षको पुष्ट नहीं करते हैं। इस प्रकार अपने [illegible] मान, बड़ाई, पूजा, लाभ और

नोपदेश ददात्येव अगम्बद्ध · · (निरर्थक) । कपटेन ज्ञानपाठी चागमाना च विक्रयी ॥ ९७ ॥
दूषण न ददात्येव सम्यग्दृष्टे ह्यघप्रदम् । प्रशसा न करोत्येव कुशास्त्राणा च मानवान् ॥ ९८ ॥
दीर्घनिद्रागतो निद्रामयुक्तो धर्मनिंदक । महाआलस्यवान् चैव जुगुप्सी निंदकी तथा ॥ ९९ ॥
दर्शनावरणस्यैव आस्रवाश्न इमे बुधे । इत्याद्या शिववधस्य कर्तार. समता' खलु ॥ १०० ॥
दु खशोकेन तापेन आक्रदेन वधेन च । तथा हि रोदनेनैव अहो मगधमडन ॥ १ ॥
आत्मपरोभयत्वेन असद्वेद्यस्य बधनः । भवत्येव च नु त्व च एतेषा वर्णन शृणु ॥ २ ॥
आधिव्याध्यादिके जाते स्वस्य परस्य वा तनो । सक्लिष्टपरिणामेन चितन क्रियतेत्र यत् ॥ ३ ॥
सैव दु खाभिध दोषं लभत्येव नरेश्वर । वा कारितानुमोदेनाशुभमार्गस्य दीपकम् ॥ ४ ॥

स्वार्थके लिए शास्त्रका उपदेश देना । अपने स्वार्थके लिए मिथ्या उपदेश देकर सत्य बतलाना, असम्बन्ध और कपटाचारसे विरुद्ध पाठ पठन करना, आगमका क्रय-विक्रय करना, सम्यग्दृष्टि जीवोको दूषण प्रदान करना, मिथ्या शास्त्रोंकी प्रशंसा करना इत्यादि बहुतसे कारणोंसे ज्ञानावरण कर्मका आस्रव होता है ॥ ९६-९८ ॥

अर्थ—दिवसमे सोना, दीर्घ निद्रा ग्रहण करना, शास्त्र पढ़ते-पढ़ते शयन करना, धर्मकी निन्दा करना, जिनदर्शनादिक शुभ कार्योंमे आलस करना, दूसरोंके दर्शनमें व्याघात पहुँचाना, निंदा करना, मुनिगणोंके पवित्र शरीरको देखकर ग्लानि करना इत्यादि कारणोंसे दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है ॥ ९९-१०० ॥

प्रश्न—असाता वेदनीय कर्म कौन-कौनसे कारणोंसे होता है ?

अर्थ—हे मगधेश्वर ! दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, रोदन ये सब अपनी आत्मामे, पर जीवमें अथवा दोनोंमे उत्पन्न कर देनेसे असाता वेदनीय कर्मका आस्रव होता है । आगे इनका विशेष खुलासा प्रकट करते है, सो सुनो ॥ १-२ ॥

अर्थ—आधि, व्याधि, पीड़ा और तीव्र वेदना आदि होनेपर संक्लेश परिणामोंके द्वारा बार-बार उस दुःखका अनुभव करना अथवा ऐसा दुःख दूसरोंको देना अथवा दुःख देनेकी अनुमोदना करना, दुःखके कारणों-को उपस्थित कर देना सो सब दुःख है । इस प्रकार अपनेको और दूसरे जीवोंको दुःख देना सो सर्व असाता वेदनीय कर्मका आस्रव है ॥ ३-४ ॥

पुत्रकाता कुटुवाना विच्छेदे स्वस्य वा नृप । हस्त्यश्वधानद्रव्याणा बहुमोदप्रदायकाम् ॥ ५ ॥
महाशोक करोत्येव तेषा प्राप्त्यै सदैव हि । शोकाख्य बंधयत्येव दोषं जन्मनि जन्मनि ॥ ६ ॥
केनचिन्निद्यकार्यस्य कारणात्स्वस्य जायते । अपवादो महान् लोके तं श्रुत्वा ह्यात्मनि सदा ॥ ७ ॥
पश्चात्ताप करोत्येव नैव मुचति त पुन. । स पुमान् भजते तापाभिध दोष स्वदु खदम् ॥ ८ ॥
केनचित्कारणेनैव विलापाक्रदनं तथा । नेत्राश्रुपातपतन पूत्कारकरण नृप ॥ ९ ॥
स्थितोहि रोदन चैव करोत्येव विकारणे । आक्रदनाख्य सो दोष लभते भवदु खदम् ॥ १० ॥
झपापात हि यो अद्रेः पावके च प्रवेशन । अब्धौ च पतन नद्या श्वासोच्छ्वासप्ररोधनम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगके होनेपर शोक होता है। पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब आदि सजीव पदार्थोंके वियोग होनेपर वा अपने ही वियोग होनेपर अथवा बहुत आनन्ददायक हस्ती, घोड़ा, धन, धान्य आदि पदार्थोंके वियोग होनेपर जो वेदनारूप शोक होता है उसको शोक कहते हैं। दुःखका विशेष रूप ही शोक है। शोक अपनेमें करना या दूसरेमें करना सब ही असाताके कारण इससे असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है ॥ ५-६ ॥

अर्थ—कोई भी निंद्य कार्य करनेसे अथवा किसी भी अनुचित कार्यके हो जानेपर संसारमें अपवाद (निंदा) हो जानेसे जो पश्चात्ताप, बार-बार आत्म परिणामोंमें संक्लेश रूप ग्लानि हो सो पश्चात्ताप है। कभी-कभी धन-धान्यादिके नष्ट हो जानेपर, व्यापारमें हानि होनेपर, कार्यका विपरीत परिणाम होनेपर भी पश्चा-[illegible] [illegible] है। यह भी एक प्रकारका दुःखका ही रूप है। यह भी असातावेदनीय कर्मका कारण है ॥ ७-८॥

[illegible] किसी भी कारणसे ऐसा विलापपूर्वक रोना कि जिसको श्रवण कर दूसरोंके मनमें आघात [illegible] [illegible] दीनताके साथ रुदन करना, अपने परिणामोंका [illegible] नेत्रोंसे पूत्कार पूर्वक [illegible] ऐसा रुदन करना सो सब आक्रदन [illegible] दूसरोंके चित्तमें विकार या क्षोभ हो [illegible] असातावेदनीय कर्मका आस्रव होता है। संसारके दुःखोंको देने [illegible] ॥ ९-१० ॥

[illegible] परिणामोंसे मरना या दूसरोंको मारना, पर्वतसे गिर कर प्राणोंका

करोत्येव तथा नूनं खादत्येव विषादिकम् । असिना स्वस्य हस्तेन स्वात्मानं घातयत्यहो ॥ १२ ॥
इत्यादिभि नराधीश स्वस्य प्राणस्य पापधी- । वियोगं च करोत्येव वधाह्व सैव निश्चयात् ॥ १३ ॥
दोष ह्यनन्तसंसारपरिभ्रमणकारणम् । प्राप्नोति आत्मघातस्य करणान्नात्र संशय- ॥ १४ ॥
परमक्लेशसयोगात् ईदृश रोदन नृप । यः करोति पुमान् नूनं महादुःखस्य दायकम् ॥ १५ ॥
परेषां श्रवणाद्यस्य रोदन भवति सदा । दोष परिवेदनाख्य लभते भवदु खदम् ॥ १६ ॥
पैशुन्यात् पापकार्यस्य प्रेरणात् चापवादत- । तिरस्कारस्य करणात् परेषां निन्दनात् तथा ॥ १७ ॥
परद्रव्यापहरणात् अधर्मिजनसेवनात् । कार्यादृते च अनर्थदण्डस्य करणात् पुनः ॥ १८ ॥
जीवनार्थं च शास्त्राणामभ्यासकरणात्तथा । इत्याद्यन्यदपि नूनमस्याश्रवा भवत्यहो ॥ १९ ॥

नाश करना, अग्निमें प्रवेश करना, सती होना, नदीमें गिर कर प्राणोंका घात करना, श्वासोच्छ्वास क्रियाको रोक कर अपघात करना, विषादिक भक्षण कर प्राणोंका नाश करना, तलवार, बन्दूक आदि शस्त्रोंके द्वारा प्राणघात या आत्मघात करना, धर्म समझ कर प्राणोंका वियोग करना इत्यादि अनेक प्रकारसे संक्लेश परिणामपूर्वक मरना, दूसरोंको मारना या मरवाना सो सब वध है । इससे भी असाता वेदनीय कर्मका बंध होता है ॥ ११-१२ ॥

अर्थ—आत्महत्या अथवा परघात करनेसे अनन्त संसारका बंध होता है । सबसे भयंकर पाप आत्महत्या है । जो धर्म समझ कर आत्महत्या करते हैं वे अनन्त संसारमें परिभ्रमण करते हैं ॥ १३-१४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! ऐसे संक्लेश और दुःख परिणामोंसे रोना कि जिसको श्रवण करते ही दूसरोंको भी रुदन हो जावे । अपने और दूसरोंके परिणामोंको क्लेश कारक, वीभत्स रूपसे करुणापूर्ण रुदन करना सो परिवेदन नामका दोष है । इससे भी असाता कर्मका आस्रव होता है ॥ १५-१६ ॥

अर्थ—चुगली करना, पाप कार्योंकी प्रेरणा करना, दूसरोंमें दोष लगा कर निन्दा करना, दूसरोंका तिरस्कार करना, दूसरोंकी निन्दा करना, दूसरोंके द्रव्यको लूट लेना, पापी अधर्मी और अपने धर्मसे पतित ऐसे निंद्य मनुष्यकी सेवा करना, बिना प्रयोजन हिंसा आरम्भ करना, अनर्थदण्डके कार्य करना, अपनी आजीविकाके लिये विद्याभ्यास करना इत्यादि बहुतसे अन्य कारण भी असाता वेदनीय कर्मके आस्रवके कारण होते हैं ॥ १७-१९ ॥

भूतव्रत्यनुकम्पा च दानं सरागसंयमः । योगाना क्षांतिः शौचश्च एतेहि मगधाधिप ॥ २० ॥
आश्रवाहि सद्वेद्यस्य महाशर्मप्रदायकाः । भेद श्रृणु च तेषा हि वक्ष्यहं च पृथक् पृथक् ॥ २१ ॥
सर्वभूतेषु चित्तेन कायेन वा हृदा तथा । दयाभावं करोत्येव यो नाहि भव्यभावयुक् ॥ २२ ॥
एव विचारयत्येव चतुर्गतिभवा इमे । भूताः सर्वे सदैवोच्चैः कर्मोदयवशात् खलु ॥ २३ ॥
निजनिजैव भुंजति दुःखौघ पारवर्जितम् । भविष्यति कदा मुक्तिः एतेषां दुःखतो ननु ॥ २४ ॥
स पुमान् भूतकपाख्य गुणं शर्मप्रदायकम् । लभते मात्र सदेहः सद्दयापरिणामतः ॥ २५ ॥
पचाणुव्रतयुक्ताना दृष्ट्वा सद्धर्मवृद्धये । यः पुमान् स्वात्मनि नित्य दयाभाव ह्यघापहम् ॥ २६ ॥
करोति परम भूप बाल वृद्ध तपस्विनाम् । धर्मस्य ज्ञानद चैव जिनधर्मोपदेशकम् ॥ २७ ॥

प्रश्न—सातावेदनीय कर्मके आस्रव कौन-कौनसे है ?

अर्थ—प्राणी मात्र पर अनुकम्पा, व्रती पुरुषो पर विशेष विनयके साथ अनुकम्पा, दान, सराग, संयम, क्षांति, शौच इत्यादि सातावेदनीय कर्मके कारण हैं। इनका स्वरूप भेद पृथक्-पृथक् मैं आगे कहता हूँ सो सुनो ॥ २०-२१ ॥

प्रश्न—भूत अनुकम्पाका क्या स्वरूप है ?

अर्थ—हे राजन्! मन, वचन, कायसे समस्त जीवोपर दयाभावोका रखना अर्थात् जीवमात्रमें भेदाभेद [illegible] दयाभावसे सब पर दया प्रदर्शित करना सो भूत अनुकम्पा है ॥ २२ ॥

[illegible]—ऐसा विचार करना कि जीव अपने कर्मोंके विपाक (फल) से चारो गतिमें दुःखको प्राप्त हो [illegible] हो। ये जीव कब दुःखोंसे छूट जावे। उनको सन्मार्ग- [illegible] नाशको प्राप्त हो [illegible] समस्त जीवोपर परम करुणा- [illegible] समस्त जीवोपर देनेकी इच्छासे [illegible] भूत अनुकम्पा है ॥ २३-२५ ॥

[illegible] है ?

[illegible] श्रावक या पाँच महाव्रतके [illegible], तपस्वी, व्रती और श्रेष्ठ चारित्र- [illegible] प्रदर्शित करना, उनके पवित्र [illegible]

परपीडा च जानाति आत्मपीडामिव सदा । परोपकारकरणे हि दयार्द्रचित्तधारकः ॥ २८ ॥
व्रत्यनुकपाभिधं सैव गुण ससाग्नाशकम् । प्राप्नोति मगधाधीश अनुकपान्न किं भवेत् ॥ २९ ॥
ससारहेतुहतार दान पात्राय योजयेत् । चतु प्रकारं यो भावात् गुण दानाभिधं लभेत् ॥ ३० ॥
ससारवर्द्धकान्येव द्रव्यकर्माणि वा तथा । भावकर्माण्यपि यो हि त्यजते मनसादित ॥ ३१ ॥

गुणोंकी चाहना प्रकट कर पूज्य भावसे उनके दुःखोंका नाश करना, उनकी पीड़ाको शांत करना, वृद्ध, बाल, तपस्वी गणोंकी सेवा वैयावृत्य, रोगी और असमर्थ संयमीको धर्म साधनमे लगाये रहना, धर्मात्मा साधर्मी भाइयोंकी आदरभावसे सेवा सुश्रूषा करना, ज्ञानी, विद्वानोको धर्मके अंग समझकर उनका आदरभाव करना, पाठक, उपाध्याय और धर्मके स्वरूपको व्यक्त करनेवाले भव्य जीवोंको सहायता कर धर्ममार्गमें दृढ़ बनाये रखना, दूसरोंकी पीड़ाको आत्मपीड़ा समझनेवाले भव्य जीव साधर्मी भाइयोंको सब प्रकारसे सुखी बनाना, परोपकार दयाभावसे करना इत्यादि अनेक प्रकारसे धर्म अगोंकी दृढ़ता करना सो व्रती अनुकंपा है। संसारका नाश करनेवाला एक यही गुण है। इस गुणसे समस्त पापकर्म एक क्षण मात्रमें विलीन हो जाते है और अनंत पुण्यकर्म संपादन होता है ॥ २६-२९ ॥

प्रश्न—दानका स्वरूप क्या है ?

अर्थ—हे राजन् ! जिस दानसे संसारके बन्धनोंका नाश हो वही सत्यदान है बाकी कुदान है। दान पात्रमें ही दिया जाता है। पात्रमें प्रदान किया हुआ दान सत्यदान कहलाता है। कुपात्र और अपात्रमें प्रदान किया हुआ दान कुदान कहलाता है।

चार प्रकारके पात्रमें (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) चार प्रकारका दान संसारका नाश करता है। और व्यतिरिक्त अपात्रमे प्रदान किया हुआ दान ससारको बढ़ाता है ॥ ३० ॥

प्रश्न—सराग संयम किसको कहते है ?

अर्थ—हे राजन् ! संसारको बढानेवाले द्रव्यकर्म और भावकर्मोको मनकी विशुद्ध वासनासे नहीं छोड़ना सो सराग संयम है।

भावार्थ—बाह्य वचन और कायकी क्रिया संयमरूप हो, परन्तु मनमें संकल्प-विकल्पोंकी भावना हो,

सो हि सरागसञ्ज च गुण शिवप्रदं नृप । लभते भावशुद्धित्वात् क्रमान्मोक्षपद खलु ॥ ३२ ॥
षड् वै जीवनिकायेषु दयापरिणामकारणात् । षडिन्द्रियाणा बधत्वात् परसतोषकारणात् ॥ ३३ ॥
स्वात्मता सर्वभूतेषु निवृत्तिता ह्यघात्तथा । आच्छादनत्वात् परेषा दोषाणा धर्मदेशनात् ॥ ३४ ॥
क्रियते यः पुमान् स्वस्मिन् गुणान् चेमान् सुखप्रदान् । सयमाख्य गुण सैव प्राप्नोति चेलनाप्रिय ॥ ३५ ॥
सयमेन ह्यय प्राणी शोभते नरनायक. । सर्वपापक्षय कृत्वा मोक्षधाम व्रजत्यहो ॥ ३६ ॥
सयमेन विना सर्वा क्रियाः हि निष्फला मता. । मुनीना वा गृहस्थाना तपोदानादिका. खलु ॥ ३७ ॥
तरिताः तरति भो भूप तरिष्यति नरोत्तमा· । ये हि चानेन लोकेस्मिन् नान्योपायोस्ति किंचन· ॥ ३८ ॥

द्रव्य कर्म ओर भावकर्मोके परित्याग करनेमें मनको विशुद्धता नही हो सो सराग संयम है । राग सहित संयम सो सराग सयम हे । यह सराग संयम क्रमसे मोक्षके सुखको प्रदान करनेवाला है ॥ ३१-३२ ॥

प्रश्न—संयमका स्वरूप क्या है ?

अर्थ—चेलनाप्रिय श्रेणिक महाराज! छह प्रकार (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) के जीवोकी रक्षाके लिये अपने परिणामोकी विशुद्धताको धारण कर अपने मन और इंद्रियो को रोकना अथवा इन्द्रियोके विषयोका परित्याग करना, दूसरोको सन्तोष भाव प्राप्त हो ऐसा सरलतासे दयाभाव प्रदर्शित करना, समस्त जीवोंका अपनी आत्माके समान समझ कर समस्त जीवो पर दयाभाव रखना, [illegible] रक्षा करना, पापकार्योंसे भयभीत होना, दूसरोके दोषोको ढाँकना, धर्मोपदेशके द्वारा दयाभावका प्रचार करना इत्यादि कार्योंसे सयम भावना प्रकट होती है ॥ ३३-३५ ॥

भावार्थ—आत्माके परिणामोको विशुद्ध बनानेके लिये मन और इन्द्रियोको वश करना, विषय कषायो- [illegible]

[illegible] जीवकी शोभा है । सयमके पालन करनेसे ही जीव कर्मोका [illegible] मुनि हो, गृहस्थ हो, सयमके बिना समस्त जप, तप, दान आदि क्रियाएं [illegible] । सयमसे ही संसारसमुद्रसे पार करते हैं । [illegible] सयमके बिना अन्य कोई नहीं है ॥ ३६-३८ ॥

क्रोधमानादिकानां न निवृत्तिर्यत्र वै । क्षांतिर्भवति भो नूनं सर्वशर्मविनाशिका ॥ ३९ ॥
य इमां धारयत्येव सैन क्षान्त्यभिध गुणम् । सर्वसम्पत्तिकर्तारं प्राप्नोति मनुजोत्तम ॥ ४० ॥
क्रियते यद्विरमणं लाभस्यालोभवस्तुतः । परलोकनिदानस्य वा पुमान् हि विशुद्धित ॥ ४१ ॥
सैन शौचाभिध नूनं गुणं ह्यङ्गीकरोत्यहो । आत्मशुद्धकर भूप निर्ममत्वस्य कारणात् ॥ ४२ ॥
जिनेन्द्रबिंबसत्स्नानकरणाच्च रसोत्करे । तत्पूजनात्सुद्रव्यौघैः स्तवनान्नमनात्तथा ॥ ४३ ॥
वैयावृत्यविधानाच्च बालवृद्धतपस्विनाम् । साधर्मिजनसंसर्गात् स्वस्य कुलस्य पोषणात् ॥ ४४ ॥
मोचनात् परबधस्य परदुःखनिवारणात् । क्षुधिताय प्रदानाच्च भोजनस्योदकस्य च ॥ ४५ ॥
मुनीनां त्यक्तसंगानां हस्तपादादिमर्दनात् । तेषां पादारविंदानां धोवनात्प्राशुकैर्जलै ॥ ४६ ॥
वस्त्राभरणदानाच्च गृहिणां ब्रह्मचारिणाम् । दयादानस्य सद्दानादन्येषां सर्वप्राणिनाम् ॥ ४७ ॥
इत्यादिगुणसंदोहधारणादस्य नु नृप । भवति आश्रवो नूनं सद्वेद्यस्यैव संप्रदः ॥ ४८ ॥

अर्थ—क्रोध आदि विकार त्रयकी निवृत्ति होना सो क्षांति है। जो इसको धारण करता है वह ही क्षमा आदि गुणोंको प्राप्त करता है, मनुष्योंमे श्रेष्ठ वह सर्व सम्पत्तिको प्राप्त करता है ॥ ३९-४० ॥

भावार्थ—क्रोध, मान, माया आदि विकारोंको मनकी पवित्रतासे रोक लेना, उत्पन्न नहीं होने देना सो क्षांति है। क्षांतिसे समस्त दुःख नाशको प्राप्त होता है।

अर्थ—हे राजन् ! लोभका त्याग करना ही सो शौच है। समस्त वस्तु मात्रसे निर्ममत्व भावको धारण कर अपनी पवित्र आत्मामें लवलीन होना सो शौच है। इससे महान् पुण्यकी प्राप्ति होती है ॥ ४१-४२ ॥

अर्थ—श्रीमज्जिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका भक्तिपूर्वक शुभभावोंसे पंचामृत (दही, दूध, घी, शर्करा, सर्वौंषधि) से अभिषेक करना, पूजन, वंदना, स्तोत्र आदिके द्वारा भगवान्के गुणोंका स्मरण करना, प्रभुको भक्तिसे नमस्कार करना, वृद्ध, बाल, रोगी, तपस्वियोंकी वैयावृत्य करना, साधर्मी भाइयोंकी सेवा-सुश्रूषा और दान मान समर्पण करना, अपने कुल और कुटुम्बी जनोंका नीतिपूर्वक पालन करना, दूसरे जीवोंको बंधनोंसे मुक्त करना, भूखे जीवोंको भोजन पान करुणाभावोंसे देकर सन्तोषित करना, दीन असमर्थ लोगोंकी करुणाभावसे सहायता करना, रोगी और पीड़ातुर जीवोंको कष्टसे छुड़ाना, मुनिजनोंके हाथ पाँव आदिको दबाकर सेवा करना, भक्ति करना, वैयावृत्यके द्वारा उनकी यथोचित सेवा करना, उनके चरणकमलोंको प्राशुक निर्मल जलसे धोवना,

केवलिश्रुतसंघानामवर्णवादतोऽस्य नु. । तथाहि धर्मदेवानां भवत्यावरणो ननु ॥ ४९ ॥
भूप दर्शनमोहस्य यस्यैव कारणात् खलु । सम्यग्दर्शनसंप्राप्तिः नो भवति कदाप्यहो ॥ ५० ॥
एषा संक्षेपतः कुर्वे वर्णनं च पृथक् पृथक् । शिवद त्वं शृणु भूप स्वचित्तस्य समाधिना ॥ ५१ ॥
दुर्बुद्धिधारकाः केचित् ब्रुवन्त्येव मनोक्तितः । महामिथ्यात्वसंमग्नाः सदा द्वापरसंभृता ॥ ५२ ॥
कोट्यादिपूर्ववर्षाणि जीवति भोजनादृते । कथं केवलिनश्चेमे इदं पश्यत सज्जना ॥ ५३ ॥
गुप्तत्वेन सदाहारं भुंजति सकला इमे । अतो हि संशयो नास्ति देवार्च्या. केवलेक्षणा ॥ ५४ ॥
सामान्यपुरुषोप्येव विना न्यादेन अत्र हि । महातो तद्वृते तेहि कथं तिष्ठति भो बुधाः ॥ ५५ ॥

जैनधर्म अनुयायी गृहस्थोंको वस्त्राभूषण प्रदान करना, ब्रह्मचारी आदि संयमी जनोंको वस्त्र आदिका देना, दयादानका करना इत्यादि अनेक शुभ कारणोंसे सातावेदनीय कर्मके आस्रव होते हैं ॥ ४३-४८ ॥

प्रश्न—दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रवके कौन-कौनसे कारण हैं ?

अर्थ—हे राजन्! केवली, श्रुत, चतुर्विध संघ और धर्ममें अवर्णवाद लगाना, असत्स्वरूप कल्पना करना यो दर्शन मोहनीय कर्मके आस्रव हैं। इनसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति कभी नहीं होती है। आगे इन सबका खुलासासे [illegible] बतलाते हैं। उसको ध्यान एकाग्र कर सुनो ॥ ४९-५१ ॥

प्रश्न—केवली भगवान्‌को आवरण किस प्रकार लगाया जाता है ?

[illegible]—हे राजन्! चार घातिया कर्मोंको नाश कर केवली भगवान् अनन्त चतुष्टय युक्त होते हैं। [illegible] अनन्त चतुष्टयता (अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त ही वीर्य और अनन्तसुख) तब ही प्राप्त [illegible] अपने ध्यान, संयम और योग द्वारा समस्त दोषोंका नाश कर देते हैं। केवली भगवान् [illegible] राग, द्वेष, [illegible], रोग, निद्रा, शोक, उपसर्ग आदि एक भी दोष नहीं रहता है। इसलिये [illegible] प्रभावसे देव, नागेन्द्र और समस्त त्रिलोकके जीव उनको सर्वो- [illegible] भक्तिसे पूजा स्तवन और गुणगान करते हैं। परन्तु ऐसे [illegible] करते हैं। [illegible] नहीं होता। [illegible] मनुष्य पुरुषके समान [illegible] बिना आहारके [illegible] नहीं रह सकते

आतका हि भवत्येव तेपा शातिकमंजसा । भेषजैश्च प्रकुर्वंति देवाः तत्सेवका ह्यत ॥ ५६ ॥
उपसर्गापि जायन्ते किञ्चित्पापोदयाच्च वै । निर्जराः तद्विनाश च कुर्वन्ति नात्र सशयः ॥ ५७ ॥
ते नग्नापि तथाप्येव षोडशाभरणान्विता । सर्वेषा च प्रदृश्यन्ते देवातिशयमण्डिता ॥ ५८ ॥
तुम्बी वा कम्बल दण्ड रक्षन्ति ते न सशयः । कालभेदेन वर्त्तेत तेषा ज्ञानोपि निश्चयात् ॥ ५९ ॥
केवलज्ञानिनामेव सर्वेषु महता खलु । तारकाणा च सर्वेषा निर्दोषाणा विमानिना ॥ ६० ॥
निर्लिपाधिपनागेन्द्रखचरेन्द्रनरेन्द्रभि । पूज्यपादारविन्दाना गुणवता गुणेष्वपि ॥ ६१ ॥

इसलिये गुप्त आहार ग्रहण करते होंगे । लुक-छिपकर देवगण या उनके भक्त गण आहार करा देते होंगे । एक साधारण पुरुष आहारके बिना एक वर्ष नही रह सकता, तो महान् पुरुष कोटि वर्ष पर्यंत किस प्रकार सजीवित रह सकते है ॥ ५२-५५ ॥

अर्थ—केवली भगवान्को रोग भी होता है। जब भोजन करते हैं तब उसका विकार कफ, वात और पित्त अवश्य ही रोगोंकी उत्पत्ति करेंगे । और उसकी शांति देवगण करते हैं । अथवा उनके भक्तगण अनेक प्रकारकी औषधियोंके द्वारा शांति करते हैं ॥ ५६ ॥

अर्थ—केवली भगवान्के उपसर्ग भी होते हैं । क्योकि अभी उनके पापका कारण असातावेदनीय कर्मका उदय मौजूद है । असाता कर्मके उदयसे दुःख और उपसर्गोका होना स्वाभाविक बात है । पापसे क्या नहीं होता है । भगवान्के असाताका उदय होना यह भी तो पाप है ॥ ५७ ॥

अर्थ—केवली भगवान् यद्यपि नग्न हैं तो भी उनकी शोभा देवगण षोड़श भूषण पहना कर करते है। क्योंकि भगवान् त्रिलोकके प्रभु हैं और वे नग्न रहें तो उनका अतिशय ही क्या रहा ? और उनकी प्रभुता ही महान् कैसी मानी जावे ? क्योकि महान् वही है जो उत्तमोत्तम पदार्थोंसे सुसज्जित रहता हो ॥ ५८ ॥

अर्थ—केवली भगवान् तुम्बी, दण्ड और कम्बल रखते हैं क्योंकि इसके बिना वे प्रभु शौच क्रिया किस प्रकार करें। तथा भयका निवारण किस प्रकार करें एवं शीत आदि की बाधासे अपनी रक्षा किस प्रकार करें ।

अर्थ—केवली भगवान्का ज्ञान भी कम बढ़ (न्यूनाधिक) हो जाता है । कालभेदसे केवली भगवान्के ज्ञानमें हीनता प्रकट होती है । भगवान्के शयन समय ज्ञान ठीक-ठीक नहीं रहता है और जाग्रत अवस्थामें वे सावचेत रहते हैं ।

इत्यादिगुणयुक्ताना येऽधमाः कल्पयंत्यहो । असद्भूताभिध दोषमनंतभवदायकम् ॥ ६२ ॥
प्राप्नुवन्ति नूनं ते हि केवल्यावरणाभिधम् । दोषं भो मगधाधोश भवाकूपारवर्द्धकाः ॥ ६३ ॥
प्राशुकस्य पलस्यैव मधोः मद्यस्य वा तथा । नवनीतस्य वा प्राप्ते नो दोषः किमपि खलु ॥ ६४ ॥
मातृस्वस्रादिकस्यैव मैथुने कन्दभक्षणे । रात्रिभोजनपानादौ अहो नास्ति कदाप्यहो ॥ ६५ ॥
कामबाधा यदा साधोः उत्पद्यते तदैव हि । सेवनीय च वित्तस्य स्त्रियं दासी च कन्यकाम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इस प्रकार केवली भगवान्‌में अनेक प्रकारकी असत् कल्पना अपने मनोनीत भावोंसे कितने ही अज्ञानी करते हैं । परन्तु केवली भगवान्‌में उक्त प्रकारकी असत् कल्पना किसी प्रकार भी सम्भावित हो नहीं सकती है । जबकि केवली भगवान्‌ने समस्त कर्मोंका प्रचण्ड राजा मोहनीय कर्मका ही नाश कर दिया है तब फिर उनके दोषोत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है । समस्त दोष मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं । उसके अभाव-में दोषोंकी सत्ता रह नहीं सकती ।

इसलिये भगवान्‌में दोष नही होते हुए भी कल्पित कर मिथ्या स्वरूप मानना सो केवलीका अवर्णवाद है । इनसे मोहनीय कर्मका आस्रव होता है । जिससे अनन्त ससारका बंध हो ॥ ५९-६३ ॥

अर्थ—मास पकाकर प्राशुक होता है । उसका भक्षण करनेमें धर्मशास्त्रकी आज्ञा है । इसी प्रकार मद्य, मधु (शहद) और नवनीतके सेवन करनेमें कोई भी हानि नही है, दोष नहीं है । इस प्रकार मलिन और [illegible] निरन्तर परिपूर्ण पदार्थोंका सेवन करना पवित्र मानना और ऐसी शास्त्रकी आज्ञा बतलाना यह श्रुत (शास्त्र) का अवर्णवाद है ॥ ६४ ॥

अर्थ—माता, बहिन, पुत्री आदि परस्त्रीके सेवन करनेमें मूलकन्दके भक्षण करनेमें, रात्रिमें भोजन-पान [illegible], [illegible] हानि नहीं मानना, इस प्रकार नीति और सदाचार विरुद्ध पदार्थोंका सेवन करना और [illegible] मानना सो श्रुतका अवर्णवाद है ॥ ६५ ॥

अर्थ—[illegible] साधु (मुनिराज) को कामपीडा उत्पन्न हुई हो, तो वह अपनी पीडाको वेश्या, दासी [illegible] । इसमें कुछ भी पाप नहीं है । यही साधुका धर्म है

ना साधो· सेवका नून स्ववैयावृत्यमिद्धये । अर्पणोयाश्च स्ववामा· कामार्तायैव साधवे ॥ ६७ ॥
अर्पणं न करोत्येव स्वस्त्रिया· साधवे च य । सैव स्वधर्मतो बाह्यो मतो नास्त्यत्र सशय· ॥ ६८ ॥
इत्याद्ये ये व्रजन्त्येव उन्मार्गे चाक्षपोषकाः । केचित् पृच्छन्ति तानेव ह्यहो कुमार्गपोषका ॥ ६९ ॥
क्वाचार सर्वनिंद्य च भवद्भिः ह्यघकारकम् । इद कस्यानुसारेण आगमस्य च स्वीकृतम् ॥ ७० ॥
अगीकृत च अस्माभि यन्नून सकल बुधा· । आचरण तद्धि शास्त्रोक्त तदृते न. किमपि नो ॥ ७१ ॥
इमे सर्वे च सप्रोक्ताः आगमेपु न सशयः । स्त्रीसेवनादिका. कार्या नो निंद्यातो भजामहे ॥ ७२ ॥
शास्त्रादृते किमप्येव नास्त्येवाचरण खलु । अस्माक शास्त्रमर्यादात्सर्वमस्ति क्रियादिकम् ॥ ७३ ॥

कि पीडाको किसी प्रकार भी शांत कर सुखी रहे । ऐसी आज्ञा धर्मशास्त्रकी बतलाना, इस प्रकार अपने मन-
की मलिनतासे धर्मशास्त्रमे मिथ्या दोष लगाकर कहना सो श्रुतका अवर्णवाद है ॥ ६६ ॥

अर्थ---अथवा साधुकी कामपीड़ाको शांत करनेके लिए उनके भक्तगणोंको अपनी-अपनी सुन्दर स्त्रियों
का दान कर देनेमें विशेष वैयावृत्य होता है । जो भक्त इस प्रकार अपनी सुन्दर स्त्रीको साधुकी कामपीड़ाको
शांत करनेके लिए प्रदान करता है वह धर्मको स्थिर करनेवाला वैयावृती है । कदाचित् कोई भक्त इस प्रकार
कामपीड़ाकी शांतिके लिए अपनी स्त्रीको साधुके लिए नहीं प्रदान करे तो वह अपने धर्मसे बाह्य है, इसमे जरा
भी सन्देह नहीं है । इस प्रकार अपने-अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिए महान्‌से महान् भयङ्कर पापको भी
उत्तम मानना और उसको धर्मशास्त्रकी आज्ञा बतलाना यह सब श्रुतका अवर्णवाद है ॥ ६७-६९ ॥

अर्थ---इस प्रकार धर्मशास्त्रमें मिथ्या अवर्णवाद लगानेवालोंसे कितने ही विचारशील मनुष्योंने पूछा
कि हे नीति और सदाचारकी पवित्र मर्यादाको अपने स्वार्थसे नष्ट करनेवाले हो और इसीलिए पवित्र धर्म-
शास्त्रको बदनाम कर अपना मतलब सिद्ध करनेवाले हो, यह निंद्य पापकारक मलिन आचरण कौनसे आगम-
से कहते हो और आचरण करते हो ? ॥ ७० ॥

अर्थ---यह श्रवण कर पापीने कहा कि जो कुछ हम आचरण करते हैं, वे सब धर्मशास्त्रसे ही करते
हैं । धर्मशास्त्रकी आज्ञाविरुद्ध कुछ भी नहीं करते है । "कामपीड़ित साधुको स्त्री देना", मांस, मद्य, मधु, नव-
नीत आदिका भक्षण करनेमें हानि (पाप) नहीं बतलाना इत्यादि जितने कार्य है वे सब शास्त्रमें बतलाये हैं ।

इत्युक्तेन गुणवतो महतो हि श्रुतस्य च। असद्भूत च दुर्दोषं ददाति यो हि मानव. ॥ ७४ ॥
श्रुतावर्णवादाह्वं सो हि दोष कुदुःखदम् । स्वीकरोत्येव भो भूप शास्त्रदोषप्रदानतः ॥ ७५ ॥
यथा हि पर्वतो विप्र· गतो हि सप्तमावनी। कथयित्वैव जीवौघा घातयोग्या इमे खलु ॥ ७६ ॥
तथा हि किं न यास्यन्ति ग्रन्थदोपस्य कारणात्। ते मूढा इन्द्रियाणा च पोषकाः शास्त्रनिंदकाः ॥७७॥
धूर्ता. पशूपमाश्चेमे शूद्रा दिगम्बरा.. खलु। तथा त्रयीवहिर्भूताः शुचित्वकर्मवर्जिताः ॥ ७८ ॥
निर्लज्जा मललिप्तागाः अत्रैव दु खभाजनाः। परत्रापि भविष्यन्ति महादु खस्य भाजना. ॥ ७९ ॥
महता कथयत्येव य पुमान् सैव निश्चयात्। सघावरणवादाख्यं दुर्दोष च लभत्यहो ॥ ८० ॥

इसमें सन्देह नहीं मानना चाहिए। शास्त्रविरुद्ध चलनेमें हम भी पाप समझते हैं। परन्तु हमारे शास्त्रोंमे उक्त समस्त क्रिया करनेकी आज्ञा दी है। इस प्रकार परम पवित्र धर्मशास्त्रमे असद्भूत दोषोको लगाना सो श्रुतका अवर्णवाद है ॥ ७१-७४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! यह श्रुतावर्णवाद महान् पापका आस्रव करनेवाला है। पर्वत ब्राह्मण समान सातवें नरकमें ले जानेवाला है। पर्वतने भी जीवहिंसाको धर्म बतलाया था और उसने शास्त्रमें लिखा है कि गुरुजोने धर्मशास्त्र [illegible] प्रकार बतलाया है, इस प्रकार श्रुतमें मिथ्या स्वकल्पित दोषोका लगाना सो सब श्रुतका अवर्णवाद है ॥ ७५-७६ ॥

प्रश्न—संघका अवर्णवाद क्या है ?

उत्तर—हे राजन् ! पवित्र और सर्वोत्कृष्ट सदाचारको पालन करनेवाले, कुल और जातिसे अतिशय [illegible] को अपने शरीरसे धारण करनेवाले, शांत, मन और इन्द्रियोको विजय करने [illegible] दिगम्बर [illegible] धूर्त, पशुसम शूद्र कहना, मलिन बतलाना, निर्लज्ज कहना, [illegible] अवर्णवाद है। ऐसे असद्भूत दोषोकी कल्पना कर मिथ्या निन्दा [illegible] महान् दुःखोको प्राप्त करता है ॥ ७८-८० ॥

[illegible]

निर्गुणोय खलु धर्मो जिनोक्तो धर्मवर्जितः । वर्तन्ते ये हि लोकेस्मिन् पुरुषाः तद्विधायकाः ॥ ८१ ॥
तेहि सर्वेपि चाग्रेहि भविष्यन्त्यसुरा खलु । अतोय सर्वतो वाह्यः सप्रोक्तो वेदधारिभि ॥ ८२ ॥
वेदधर्म्मेण सर्वेहि लोकाः तरन्ति चान्यतः । नो तरन्ति कदाप्येव अस्माद्‌बाह्याः परे मताः ॥ ८३ ॥
महति गुणवति चैव तारके भव्यदेहिनाम् । ईदृशे सर्वदेवेन्द्रै पूज्ये धर्मेच्युतोपमे ॥ ८४ ॥
केवलज्ञानसम्पन्नै. प्रणीते दोपवर्जिते । यः पुमान् स्थापयत्येव दोषं पूर्वोक्तसंज्ञकम् ॥ ८५ ॥
धर्मविरणवादाह्व दोष प्राप्नोति सैव वै । अनन्तभवदुःखाना कारकं मगधाधिप ॥ ८६ ॥
सर्वज्ञोक्तसम धर्मं नो पर भुवनत्रये । मोक्षद पापहन्तार मताऽन्ये दुःखदायकाः ॥ ८७ ॥
पिबन्त्येव इमे सर्वे निर्जरा नात्र सशय' । मद्य अदन्ति मास च मधु वा चामृतोपमम् ॥ ८८ ॥
होमस्य सकलाते हि सामग्री स्वात्मतोषदाम् । स्वीकुर्वन्त्येव रक्त च सद्योजात च निश्चयात् ॥ ८९ ॥

प्रश्न—धर्मका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

अर्थ—हे मगधेश्वर ! श्रीजिनेन्द्रदेव द्वारा प्रतिपादित (अहिंसा परमो धर्मं) अहिंसास्वरूप सर्वोत्तम पवित्र सदाचार विशिष्ट इन्द्र, नरेन्द्र, विद्याधरादि त्रिलोकके उत्तम पुरुषोंसे सेवनीय ऐसे पवित्र जैनधर्मको निर्गुण बतलाना, अधर्म स्वरूप बतलाना, उसके धारण करनेवाले मरकर असुर, राक्षस आदि होंगे ऐसा असद्‌भूत दोष लगाना, जैनधर्म वेदको नहीं मानता है अतएव नास्तिक है, धर्मबाह्य है, ससारके समस्त जीव वेदसे ही तरेंगे, अन्य धर्मसे नहीं। इस प्रकार अपने अज्ञान भावोंसे हिसा (पशुबलि) करनेवाले वेदके धर्मको सत्य समझ कर परम दयामयी सत्य जैनधर्मंमे असद्‌भूत दोषोकी कल्पना करना और असत् दोषोंको अपनी मनोनीत कल्पनासे पवित्र जैनधर्ममे लगाना सो समस्त धर्मका अवर्णवाद है ॥ ८१-८६ ॥

अर्थ-—हे मगधाधिपति ! तीन लोकमें सर्वज्ञके द्वारा कहे गये जैनधर्मसे श्रेष्ठ कोई अन्य धर्म नही है । यह जिनधर्म मोक्षको देनेवाला और पापोका नाश करनेवाला है। इससे भिन्न अन्य मत दुःखोंके देनेवाले हैं॥८७॥

प्रश्न—देवोंका अवर्णवाद किस प्रकार होता है ?

अर्थ—हे श्रेणिक ! देवोंका शरीर वैक्रियक होता है इसलिए उनके शरीरमें मद्य, मांस आदिका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। देव स्वयं पवित्र होते हैं। वे मद्य, मांसका सेवन नहीं करते है । परन्तु मिथ्यात्व कर्मके

एषामथ च सर्वेहि रचिता जन्तवोखिला: । स्वयंभुवा अतो नूनं होमविधिरपि तथा ॥ ९० ॥
देवार्थं मारयन्त्येव ये जीवा. तेहि सत्पदम् । प्राप्नुवन्त्यत्र सन्देहो नास्त्येव तद्धि शर्मणात् ॥ ९१ ॥
होमाग्नौ पतिता येहि वामा वा पुरुषोत्करा: । हस्त्यश्वा सौरभेयाश्च अजावृन्दा नपुसका: ॥ ९२ ॥
तेहि सर्वे गता नाकलोके शर्माब्धिसभृते । एषा मास च देवाहि स्वीकुर्वन्ति सदैव हि ॥ ९३ ॥
होमकाले अतो यज्ञविधि. प्रोक्त· स्वयभुवा । नास्त्यत्र सशयो नूनं नानाशर्मप्रदायकम् ॥ ९४ ॥
इत्यादि नक्तितो येहि ब्रुवन्ति तेहि निश्चयात् । लभन्ते दुःखद दाप देवस्यावर्णवादजम् ॥ ९५ ॥

उदयसे ऐसे पवित्र देवोको मद्यपायी बतलाना, मांस भक्षी कहना, मधुसेवी कहना, सो देवोका अवर्णवाद है ॥ ८८-८९ ॥

अर्थ—इसी प्रकार (देवोंके विषयमें) होमके समय देवगण तत्काल काटे हुए बकरा आदि पशुओंका रक्तपान करते हैं । उनका मास भक्षण करते हैं । इसीके लिए समस्त जानवर या प्राणी बनाये गये है ॥९०॥

अर्थ—जो देवोको प्रसन्न करनेके लिए जीवोको मार कर बलिदान देते है वे सत्पथके गामी है । इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए । उनको स्वर्गके सुख प्राप्त होते हैं । इसलिए देवोके सामने पशुओको मार कर चढ़ाना यह उत्तम धर्म है ॥ ९१ ॥

अर्थ—स्त्री, पुरुषोंके हाथसे होममें पड़े हुए हाथी, घोड़े, कुत्ते, बकरे, नपुंसक, मनुष्य और दूसरे प्राणी मर कर नियमसे स्वर्गको प्राप्त होते हैं ।

होमके [illegible] हुए जीवोंका मांस देवगण स्वीकार कर भक्षण करते हैं । इसीलिए ब्रह्माने ऐसे जीवोंकी सृष्टि निर्माण की है ।

[illegible] ब्रह्माने जीवोंको स्वर्गकी प्राप्तिके लिए होम विधि बतलाई है । और होममें जीवोंको मार [illegible] है ।

[illegible] जावें तो देवगण कुपित हो जायेंगे । इसलिए उनको [illegible] ॥ ९२-९४ ॥

[illegible] करने वालोंके लिये मिथ्या [illegible] कर [illegible] प्रकट [illegible] नहीं है ।

अदोषे दोषकथनादस्य सुरेभि कर्मभि । मिथ्यात्वाभिधमोहस्य आश्रवा हि भवन्त्यहो ॥ ९६ ॥
शृणु चारित्रमोहस्य कारण कथयाम्यहम् । तीव्रभावो भवत्येव कषायोदयतो ननु ॥ ९७ ॥
यस्य तस्यैव चारित्रमोहस्य भवति खलु । बन्धो भो मगधाधीश सर्वदु.खप्रदायक ॥ ९८ ॥
[1]व्रतिना शीलयुक्ताना मुनीना ब्रह्मचारिणाम् । वृथैव दूषण दु:ख ददात्येवापवादकम् ॥ ९९ ॥
स्वस्य वा हि परस्यैव करोत्युत्पादन वृथा । कषायस्यैव यो नून तथा हि धर्मध्वमकम् ॥ १०० ॥
मात्सर्यं चैव पैशुन्य निन्दा हास्य च धर्मिणाम् । शीलव्रतस्य त्याग हि विभ्रमोत्पादक तथा ॥ १ ॥
अन्तराय च सद्धर्मकार्ये क्रोधादिक तथा । सन्यासिजगमादीना सेवा वा व्रतधारणम् ॥ २ ॥

इस प्रकार केवली, श्रुत, संघ, धर्म, देवके सर्वथा निर्दोष स्वरूपमे दोष कहना, असद्भूत कल्पना करना सो मिथ्यात्व कर्मका कारण है । अनन्त संसारको बढ़ानेवाले मिथ्यात्वका आस्रव इससे होता है ॥ ९५-९६ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! चारित्र मोहनीय कर्मके आस्रव बतलाते है—कषायोके उदयसे परिणामोंमे तीव्र कषाय पूर्व संक्लेश भावोंके होनेसे चारित्र मोहनीय कर्मका आस्रव होता है । कषायोंका उदय और तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय कर्मके बंधके कारण है । और सर्व दुःखोंके देनेवाले है ॥ ९७-९८ ॥

अर्थ—व्रती, सयमी, सदाचारी, मुनि, ब्रह्मचारी, आर्यिका, श्रावक, श्राविकाओ पर व्यर्थ दूषण लगा देना, उनकी निन्दा हो और धर्मका प्रभाव घटे ऐसा कार्य या अपवाद प्रकट कर देना, धर्मको ध्वस करनेवाली हँसी या कथा कह कर जीवोंको सन्मार्गसे हटानेका प्रयत्न करना, धर्मात्मा पुरुषोसे मात्सर्यभाव रखना, उनकी चुगली कर उनको सन्मार्ग से गिरानेके भाव रखना, शीलव्रतोंके धारक पुरुषोको शीलका माहात्म्य घटानेके

---

१ कुशिक्षा और विषयोंकी अनर्गल प्रवृत्ति जिस समय उत्पन्न होती हे, उस समय मनुष्यकी बुद्धिमे कुत्सित स्वार्थके वश दुर्वासना हो जाती है जिससे वह विवेकको भूलकर निर्दोष और पवित्र पुण्यपुरुषोको अपने समान पापी बनानेका प्रयत्न करता हे । उत्तम सदाचारीके गुणोको उनके सन्मानको उनके आदर्श चरित्रसे उत्पन्न हुए निर्मल यशको देखनेमे असमर्थ होता हे। इसलिए किसी प्रकार मै उनकी निन्दा कर जगत्मे उनकी महिमाको न बढने दूँ, इस प्रकारकी धारणासे अनेक प्रकारके दोष असद्भूत दोष मनोनीत भावोसे कल्पित कर जगत्के सामने रखता हे। परन्तु इसमे संयमी या पवित्र चारित्रके धारक मुनिगणोकी हानि नही होती है। उनका यश और अधिक उज्ज्वल होकर विश्वव्यापी बनता है। परन्तु इस प्रकार कुत्सित कर्मसे अपनी आत्माको वह अवश्य ठग कर नरकादि दुर्गतियोका पात्र बनाता हे।

इत्यादिभिर्नराधीश अस्य जीवस्य निश्चयात् । बंधश्चारित्रमोहस्य भवत्यनन्तदुःखदः ॥ ३ ॥
अस्योदये हि अस्यैव नो भवत्येव श्रेणिक । चारित्रपालने शक्तिश्चाल्पमात्रापि नुर्ननु ॥ ४ ॥
वन्धो भवति भो भूप तीव्ररागस्य कारणात् । परद्रव्यापहरणात् निश्चलवैरकारणात् ॥ ५ ॥
मिथ्यादर्शनससर्गात् शीलव्रतादिनाशनात् । अत्यैव कृष्णलेश्यत्वादत्यन्तरौद्रध्यानतः ॥ ६ ॥
वालवृद्धपशूना च वन्धनान्मारणात्तथा । हिंमादिक्रूरकार्यस्य करणात्प्रेरणात्तथा ॥ ७ ॥
विपयाणामतिगृद्धत्वादनृतस्य च पोपणात् । सेवनात्पररामाया निशाभोजनकारणात् ॥ ८ ॥
अगालितजलस्नानकरणात् कन्दभक्षणात् । मधुमद्यादिमासानामदनाज्जिननिन्दनात् ॥ ९ ॥
नर्कगत्यायुपश्चास्य कर्मणः पुरुषस्य वै । इत्यादिकर्मतो नून सदा दुःखविधायकः ॥ १० ॥

अभिप्रायसे विभ्रम उत्पन्न कर देना, धर्मकार्यमें अन्तराय कर देना, संन्यासी, पाखण्डी, कपाली और बाह्य पुरुषोंकी सेवा करना इत्यादि सर्वचारित्र मोहनीयके आस्रव हैं। हे श्रेणिक! महाराज इस कर्मके उदयसे चारित्र पालन करनेकी अल्पमात्र भी शक्ति नहीं होती है ॥ ९९-४ ॥ +

प्रश्न—नरक गति कौन-कौनसे कार्योंसे होती है ?

[illegible]—हे राजन्! तीव्र रागका करना, तीव्र मोह युक्त परिणामोंको रखना, दूसरोंके द्रव्यका अपहरण [illegible], निश्चल वैर बाँधना, मिथ्यादृष्टियोंका संसर्ग करना, ब्रह्मचर्यका नाश करना अथवा दूसरोंके ब्रह्मचर्य-[illegible] नाश करना, कृष्ण लेश्यामय होना, अत्यन्त आर्त-रौद्र ध्यानका सतत् चिंतवन होना, बाल-वृद्ध पशुओंको [illegible] [illegible] प्राणियोंको मारना, असमर्थ दीन पशुओंको मारना, हिंसादि पाप कार्योंमें [illegible] [illegible] करना, विषयोंमें अतिशय लुब्धता (विशेष अनुराग) रखना, पर-[illegible] [illegible], बिना छने पानीसे स्नानादि समस्त क्रियायें करना, कन्दमूलका सेवन [illegible] [illegible] सेवन करना, श्री जिनेन्द्र भगवान् और उनके पवित्र [illegible] इत्यादि कार्योंसे सदा दुःखदायक नरक गति (नरकायु) [illegible] ॥

वचनात्परमर्त्यस्य असत्यानन्दधारणात् । नीलकापोतलेश्यत्वात् सदार्त्तध्यानकारणात् ॥ ११ ॥
लोपनात् सद्गुणानां च इतराणां च कीर्तनात् । अनर्थवचनस्येव कथनात्परपीडनात् ॥ १२ ॥
करणात् कृत्रिमवस्तो दूतत्वाच्च परस्य वै । लोपनात् वचनस्यैव अन्यथैव प्रजल्पनात् ॥ १३ ॥
मायाकुकर्मभिश्चैव इत्याद्यैर्भववृद्दैः । तिर्यग्योनिसमं नूनं दुःकर्मान्यो नहि नृप ॥ १४ ॥
तैर्यग्योन्यायुषो बन्धो भवत्यस्यैव प्राणिनः । अनन्तानन्तदुःखानां दायको वा भयप्रदः ॥ १५ ॥
विनीतप्रकृतित्वाच्च परद्रव्यस्य हापनात् । स्वभावभद्रसम्भावात् असूयत्वात्परस्य च ॥ १६ ॥
शोषणात्स्वतनो व्रतध्यानाद्यैः शुद्धकर्मभिः । अन्तकाले चासक्लेशभावस्य करणात्तथा ॥ १७ ॥
भाषणान्मिष्टवाक्यानां त्रसजीवादिरक्षणात् । शिकतारेखसमानक्रोधस्य धारणात्तथा ॥ १८ ॥
षट्कर्मपालनाच्चैव मिथ्यादर्शनवर्जनात् । क्रयाणां विक्रयाणां च शुद्धानां कार्यकारणात् ॥ १९ ॥

प्रश्न—तिर्यंच कौन-कौनसे पापोसे होता है ।

अर्थ—हे मगधेश्वर ! तिर्यञ्च आयु समान अन्य दुष्कर्म अन्य नही है । मायाचारी रखना, दूसरोंको ठगना, झूठ वचन बोलना, नील-कपोल लेश्याके परिणाम रखना, आर्त्तध्यानके परिणाम बनाये रखना, दूसरोंके सद्गुणोंका लोप करना और अपनी अपने आप प्रशंसा करना, अनर्थकारी वचनोंका बोलना, दूसरोको पीड़ा देना, कृत्रिम वस्तुका उत्पन्न करना, दूतकर्म करना, अन्य जीवोको ठगना, मिथ्या प्रलाप करना, मिथ्या प्रजल्प करना, मायाचारसे ठगना इत्यादि पापकर्मोंसे अनन्तानन्त दुःखोको देनेवाली, भयप्रद ऐसी तिर्यञ्च आयुका आस्रव होता है ॥ ११-१५ ॥

प्रश्न—मनुष्य आयुका बंध कौन-कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! नम्र स्वभाव रखने, सरल भाव रखनेसे, दूसरोके द्रव्यकी चोरी, अपहरण आदि नहीं करनेसे, स्वभावसे, भद्रपरिणामी होनेसे, अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह रखनेसे तथा ईर्ष्या रहित परिणामसे, मनुष्य आयुका आस्रव होता है ॥ १६ ॥

अर्थ—सब जीवोके साथ दया परिणाम रखना, व्रत ध्यानादिकके द्वारा अपने शरीरको कृश करना, उत्तम शुभाचरणोका पालन करना, अन्त समयमें असंक्लेश परिणामोंका रखना, मिष्ट हितकारी वचनोंका प्रतिपादन करना, त्रसजीवोंकी रक्षा करना, बालूके समान क्रोधके परिणाम होना, षट्कर्मोंका पालन करना,

मिश्रपरिणामतश्चैवाल्पसक्लेशभावतः । जिनेन्द्रपूजनान्नित्य गुरूणा सेवनात्तथा ॥ २० ॥
श्रवणाज्जिनशास्त्राणा लिखित्वा अर्पणाच्च वै । गुरवे स्वस्य हस्तेन वा धनेनोपदेशत. ॥ २१ ॥
भवभोगागशर्मादौ उदासीनस्य कारणात् । कापोतपीतलेश्यत्वात्परजीवस्य रक्षणात् ॥ २२ ॥
मानाभावात् मृदुभावादल्पारम्भस्य धारणात् । तथाल्पपरिग्रहत्वाच्च यथाविनयपालनात् ॥ २३ ॥
इत्यादिकर्मतश्चास्य मानुपस्यैव आयुप । बन्धो भवति भो नून शर्माशर्मप्रदायकः ॥ २४ ॥
पालनात् द्वादशाना च व्रताना धर्मसग्रहात् । मूलादिगुणव्रताना अङ्गीकारस्य कारणात् ॥ २५ ॥
धारणात् स्वेदमल्लाना वुभुक्षत्वस्य रोधनात् । सहनत्वाच्च तृष्णायाः भूशयनस्य कष्टत. ॥ २६ ॥
कष्टेन ब्रह्मचर्यस्य धारणात् बन्दिदुर्गृहे । परितापादिकाना च सहमानादिहादृते ॥ २७ ॥
एकदण्डी त्रिदण्डीना सन्यासितापसा पुन. । तथा परमहसाना परिव्राजादिका पुनः ॥ २८ ॥
इत्यादीना च वालाना सदाहिंमादिकारकाम् । परममिथ्यादृष्टीना तपसः सेवनादपि ॥ २९ ॥

मिथ्यात्वका परित्याग करना, व्यापारमे नीति और श्रेष्ठ निष्ठका रखना, परिणामोंमे असंक्लेशताको धारण करना, जिनेन्द्र भगवान्का नित्य पूजन करना, गुरुओंकी सेवा-सुश्रूषा वैयावृत्य करना, जिनवाणी शास्त्रोंका उद्धार करना, अपने द्रव्यका जिनशासनकी वृद्धिमें उपयोग करना, संसार भोग और देहसे विरक्त भावोंका धारण करना, पर पदार्थोंसे उदासीन रहना, कापोत-पीत लेश्याके परिणाम होना, समस्त जीवोंकी दया पालना, निरहङ्कार भाव व सरस परिणाम तथा कोमल भावोंका होना, गुरुजनोंका विनय करना इत्यादि कार्योंसे मनुष्य आयुका आस्रव होता है ॥ १७-२४ ॥

प्रश्न—देवगतिका आस्रव कौन-कौनसे भावोंसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! वारह प्रकारके व्रतोंका पालन करना, धर्मका सेवन करना, आठ व अठाईस (श्रावक व मुनि अपेक्षा) मूलगुणोका पालन करना आदि उत्तम चारित्रके धारण करनेसे देव आयुका आस्रव होता है । स्वेद मलको धारण करनेवाली दीक्षा लेना, भूख, प्यास आदि बाधाओंका सहन करना, पृथ्वी पर शयन करना, वन्दीगृह आदिके निमित्तसे ब्रह्मचर्य पालना, अकाम निर्जराके कारण उत्पन्न करना, परिताप, धूप, गर्मी, शीत आदि बाधाओंका सहन करना, एकदण्डी, त्रिदण्डी, संन्यासी, बावा आदिके अज्ञान भेषोंको धारण कर मिथ्या तपश्चरण करना, परमहंस परिव्राज बनकर नग्न होकर तपश्चरण करना, बाल तप, बाल

कायक्लेशव्रतस्यैव धारणात्कष्टसेवनात् । तथा हि शुद्धसम्यक्त्वात् नित्येज्याकर्मकारणात् ॥ ३० ॥
इत्यादिहेतुतश्चास्य देवानामायुषो नृप । प्राप्तिर्भवति नुर्नून सदाशर्मप्रदायक. ॥ ३१ ॥
केचिद्देवा च मध्येहि कर्मवन्धा नरेश्वर । कुदेवयोनिकर्त्तार. केचित्सुदेवदायका. ॥ ३२ ॥
पराधीनस्य मृत्यत्वात् बालादितपसस्तथा । अय जीवः प्रयात्येव कुदेवयोनिषु सदा ॥ ३३ ॥
महाव्रताणुव्रतत्वात् सम्यक्त्वशुद्धभावत. । यात्येव शुद्धदेवाना पदेपु वार्चनादित ॥ ३४ ॥
शुद्धभावेन सप्राप्तिर्भवत्यस्यैव निश्चयात् । परमशातभावस्य इतरेणेतरस्य हि ॥ ३५ ॥
सिद्धिर्भवति मोक्षस्य चित्तशुद्धयाहि अस्य नु । तथाहि इतरत्वेन श्वभ्रनिकोतकस्य वै ॥ ३६ ॥
मत्वेति सकला भव्या दानेज्याव्रतसचयम् । परिणामस्य सशुद्धया कुर्वीध्व च सदैव हि ॥ ३७ ॥

चारित्र और बाल (हठ) योग ध्यान आदि क्रियाकांड करना, हिंसादि क्रूर भाववाली दीक्षाको धारण कर कष्ट सहना, मिथ्यादृष्टियोके मलिन आचरणोको धारण कर कष्ट सहन करना, काय-क्लेशका सहन करना, कष्ट पूर्वक व्रतोका धारण करना इत्यादि कारणोसे देव आयुका आस्रव होता है ।

शुद्ध सम्यग्दर्शन, शुद्ध चारित्रका पालन, नित्य भगवान्की पूजादिक शुभ कर्मोका पालन, शुभ भाव, कषायोंकी शांतता ध्यानकी प्रवृत्ति सामायिक आदि व्रतोंका पालन इत्यादिक कारणोसे सदा सुखदायक उत्तम देव आयुका आस्रव होता है ॥ २५-३१ ॥

अर्थ—-देवोके भवनत्रिक और कल्पवासी ऐसे दो भेद हैं । भवनत्रिक सर्व कुदेव कहलाते है और कल्पवासी सुदेव (सम्यग्दृष्टि) कहलाते है । पराधीन और परवशसे व्रतोंका पालन करनेसे या बालतप (अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका) तपश्चरण करनेसे कुदेव गतिका आस्रव होता है ॥ ३२-३३ ॥

अर्थ——सम्यग्दर्शन सहित शुद्धभावोंके धारण करनेसे और सम्यग्दर्शन पूर्वक महाव्रत-अणुव्रत आदि धारण करनेसे उत्तम देवायुका बंध होता है । विशुद्ध भावोसे उत्तम देव आयुका बध होगा और मलिन भावों से कुदेव आयुका बंध होगा ॥ ३४-३५ ॥

अर्थ——इस जीवको मोक्षकी प्राप्ति सम्यग्दर्शनादिपूर्वक चित्तशुद्धिसे होती है । जिनके ऐसी चित्तकी शुद्धि प्राप्त नहीं हुई है और मिथ्यात्वके उदयसे चित्तकी मलिनता प्रतिसमय मलिन हो रही है, ऐसे जीवोंको

भावशुद्धया च यो मर्त्यश्चाल्पमात्रमपि बुधाः । दानपूजादि सत्कार्यं करोति सैव निश्चयात् ॥ ३८ ॥
लभत्येव वरा पंक्ति शर्मणा च फलस्य हि । अन्तरेण विनाचाग्रे जन्मनि जन्मनि सदा ॥ ३९ ॥
योगाना वक्रत्वाच्चैव विसंवादाच्च भो नृप । कुनाम्नश्च भवन्त्येव अस्याश्रवाश्च कर्मण. ॥ ४० ॥
सक्षेपतश्च एतेपा श्रृणु व्याख्यानमजसा । त्याज्यं ससारभीतैश्च दयार्द्रचित्तधारकैः ॥ ४१ ॥
कायेनाऽन्यत्करोत्येव वचसान्यद्ब्रवीत्यहो । अन्यद्धि चिन्तयत्येव दुर्मनसा सदैव हि ॥ ४२ ॥

नरक या निगोद गतिका बंध होता है । इसलिए जिस प्रकार हो भावोंकी शुद्धि सदैव निर्मल रखनी चाहिये । जिनके भाव निर्मल नहीं रहते हैं वे व्रत, तप करने पर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं कर सकते हैं । और जिनके भाव निर्मल है वे बिना व्रत, तपके भी सुगतिका लाभ सम्पादन करते है । इसलिए हे भव्यजीवों ! अपने-अपने भावोंको भगवान्की पूजा, दान, अभिषेक, प्रतिष्ठा महोत्सव, जिनधर्मकी प्रभावना आदिसे विशुद्ध बनाओ, जिससे भव-भवमे उत्तम सुखकी प्राप्ति होती रहे ॥ ३६-३८ ॥

प्रश्न—कुनाम कर्मका आस्रव कौन-कौनसे कारणोसे होता है ?

अर्थ—हे राजन् ! मन, वचन, कायकी कुटिलता, सार्धाम भाइयोंके साथ विसंवाद करना इत्यादिक कार्योसे कुनामकर्मका आस्रव होता है । आगे इसका विशेष खुलासा करते है ॥ ३९-४० ॥

अर्थ—कायसे कुछ अन्य कार्य करना, वचनसे कुछ अन्य ही भाषण करना और मनमे कुछ अन्य ही भाव रखना (अर्थात् मन, वचन और कायकी कुटिलता रखना, मायाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना) सो योगोकी वक्रता कहलाती हे । इस प्रकार योगोंकी वक्रतासे कुनामकर्मका आस्रव होता है ।

(मन, वचन, कायकी कुटिलता) आत्मगत हो तो वह योगोंकी वक्रता कही जाती है । और वही दूसरोके लिए उत्पादिका हो तो उसीको विसंवाद कहेगे । संसारसे भयभीत, दयालु चित्तधारकोंके द्वारा इनका त्याग करना योग्य है ॥ ४१-४२ ॥

भावार्थ—अन्य मनुष्यके परिणामोमें कुटिलता उत्पन्न कर वाद-विवाद करना या अन्यके लिए अपने परिणामोमें कुटिलता लाकर वाद-विवाद करना सो विसंवाद है ।

एव हि त्रिविधाना च योगाना यस्य वक्रता। भवत्येव हि तस्यैव योगवक्रत्वमुच्यते ॥ ४३ ॥
मता आत्मगतत्वाच्च अस्यैव योगवक्रता । तस्य परगतत्वाच्च विसवादोहि सम्मत ॥ ४४ ॥
स्वस्य कौटिल्ययोगेन स्वस्मिन् कर्माणि य पुमान् । वध्यते कुटिलान्येव स्वात्मदु खकराण्यहो ॥ ४५ ॥
सैव प्राप्नोति दोष च योगवक्रत्वमहदम् । विसंवादस्य भेदोत्र कथ प्रोक्तो द्वितीयक ॥ ४६ ॥
सम्यक् प्रवर्त्तते कश्चित् क्रियासु मनुजोत्तम । परमाभ्युदयदायकेपु हि भद्रभावयुक् ॥ ४७ ॥
पुमास वर्तमान त तत्रैव कोपि दुर्मति । दृष्ट्वा हि मानव स्वस्य विपरीतस्य तैस्त्रिभि. ॥ ४८ ॥
मिथ्या प्रेरयति ह्येव माकार्षी. भो नरोत्तम । त्वमेव च इद कार्यं मयोक्त त्व कुरु सदा ॥ ४९ ॥
इमे कार्या हि दातारो नो शिवस्य कदाप्यहो । कुर्वाणाश्च त्वया नूनं मया प्रोक्ताः हि शर्मदा. ॥ ५० ॥
इत्येव नाहि यो भूप मोचापयति यन्नरम् । शुभकार्यात्तथा त च दुर्मार्गे पातयत्यहो ॥ ५१ ॥
सैव तत्कर्मतो नून विसवादाभिध नृप । प्राप्नोत्येव महादोषमशुभनामकारकम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—अपने मन, वचन, काय अपने ही (आत्म कार्यके लिये) कार्यके लिए कुटिलताको धारण करे, मायाचार पूर्ण मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति बनी रहे वह योगोकी वक्रता है। इस प्रकार योगवक्रतासे कुनाम-कर्मका आस्रव होता है ॥ ४३ ॥

अब शङ्का यह होती है कि दूसरा भेद विसंवाद है वह जुदा क्यों बताया है? इसलिये आगे विसंवाद-का स्पष्टार्थ करते हैं—

अर्थ—एक भद्रपरिणामी भव्यजीव श्री जिनागमकी आज्ञानुसार सम्यक् प्रकारसे एक शुभ क्रियामें प्रवृत्त हो रहा है और शुभाचरणोको पालन कर रहा है। उसकी इस शुभ प्रवृत्तिको देखकर कोई दुष्ट जीव विपरीत भावोको धारण कर अपने मन, वचन, कायकी कुटिलतासे कहे या मिथ्या प्रेरणा करावे या मिथ्यामार्गमें (स्व मनकल्पित असन्मार्गमे) ले जानेके लिए मीठी बातोसे समझावे कि, आप यह काम क्यों करते हो? यह तो ठीक नही है। इससे आपकी हानि होगी। इस कर्मके करनेसे लाभ नही है। इस पूजाभि-षेक, ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये दान देनेसे मोक्षकी प्राप्ति नही होगी। यह मत करो और मै बतलाऊँ वह कार्य करो जिससे सुख मिले, लाभ हो। इस प्रकार उस भव्यजीवको शुभ कार्यसे छुडाकर कुमार्गमें पात करा देवे, पाप कार्योंमें लगा देवे सो विसंवाद कहलाता है ॥ ४४-५२ ॥

मिथ्यादर्शनतश्चैव पैशून्यत्वतस्तथा । धारणात्कूटमानाना तुलकायाश्च कूटतः ॥ ५३ ॥
कूटेन परद्रव्यस्य हरणान्मानकारणात् । वचनार्थं परेषा च वेपोज्वलत्वधारणात् ॥ ५४ ॥
दु मन्त्रतन्त्रयोगेन तथा चूर्णरसेन वै । सौभाग्योत्पादनादन्यद्वशीकरणकार्यतः ॥ ५५ ॥
दावानलप्रदानाच्च इष्टकोच्चयपाचनात् । तदोपदेशानुमोदात्तत्कर्तुः व्यवहारत- ॥ ५६ ॥
आरामखण्डनाच्चैव वृक्षाना लूयनात्तथा । वापिकाकूपकामारकरणाद्वास्य कारणात् ॥ ५७ ॥
देवागमगुरूणा च पूजाद्रव्यस्य भक्षणात् । परकुतूहलोत्पादनात्परेषा विडबनात् ॥ ५८ ॥
क्रोधाद्याना चतुर्णा च वर्द्धनात्परपापदात् । पापकर्मोपजीवित्वान्महाआक्रोशधारणात् ॥ ५९ ॥

भावार्थ—विसंवादका यह अभिप्राय है कि मायाचारको धारण करनेवाले मनुष्योंकी मनकी दुष्टतासे जो स्वार्थसिद्धिके लिए वचनकी मीठी-मीठी प्रवृत्ति और कार्यकी मोहक चेष्टा जिससे सामनेवाला अपने अभिप्रायको नही जानकर अपनी बातोमे और अपनी चेष्टामें फँस जावे और इससे सन्मार्गको छोड़कर पाप मार्गमें लग जावे वह विसंवाद कहलाता है।

अर्थ—मिथ्यादर्शनके प्रभावसे अशुभ नामका सदैव आस्रव होता है। चुगली करना, झूँठे माप करने के गज-पाली-मानी आदि माप रखना, कमती बढ़ती तोलना, मायाचारसे दूसरोकी द्रव्य हर लेना, दूसरोंको ठगनेके लिये ऐसी सोसायटी बनाना, कुशिक्षाके अभिमानसे दूसरोको पीड़ाकारक मन्त्र-तन्त्रोंकी रचना करना, दूसरोको ठगनेके लिये ऊँचा भेष धारण करना। झूँठे मन्त्र-तन्त्र व चूर्ण रसका प्रयोग कर पाप कर्मकी चेष्टा करना, पुत्र-पौत्रका लोभ देकर दूसरोकी स्त्रियोको वश करना, दावानल लगाकर बतलाना, ईंधनका ढेर लगा कर जलाना, (होली बनाकर जलाना) अथवा ऐसे ही पापिष्ठ कार्योंकी अनुमोदना करना, ऐसा पापिष्ठ उपदेश देना, कुमार्ग या पापमार्गमें ले जानेवाले मिथ्या लेख लिखना। ऐसे व्यवहार करना कि जिससे कुमार्गकी वृद्धि हो, जीव हिंसाके कार्य करना, बागबगीचा करवाना, वृक्षोके जंगलके काटनेका ठेका लेना, कुँआ, बावड़ी, तालाब आदि खोदनेका पापारम्भ करना या कराना और उसमें धर्म मानना। देव-शास्त्र-गुरु सम्बन्धी द्रव्यका भक्षण करना, दूसरोको कौतूहल उत्पन्न करनेवाले वचन कहना, दूसरोकी विडम्बना करना, क्रोध, मान, माया, लोभ कषायोको बढाना या ऐसे भावोसे कषायोत्पादक कार्य करना, पाप मार्गका उपदेश देना, मिथ्या मार्गकी

इत्यादिकार्यतो भप भवन्त्यग्येत आश्रवा । दुर्नामवारकर्तार अशुभनामकर्मण ॥ ६० ॥
कारणात् त्वं शृणु भप शुभनामकस्च कर्मण । तद्विपरीतत्वेनास्यैव आश्रवा हि भवत्यहो ॥ ६१ ॥
त्रयाणां चैव योगाना ऋजुभावस्य कारणात् । परेषां सज्जनानां हि अविसवादनात्तथा ॥ ६२ ॥
सार्धमिजनसमिलनादत्यन्तहर्षधारणात् । अभ्युत्थानस्य करणात् अत्यादरत्रजल्पनात् ॥ ६३ ॥
मायाभावस्य सत्यागात् प्रमादवर्जनात्तथा । परपैशून्यसत्यागात् स्थिरचित्तस्य धारणात् ॥ ६४ ॥
परप्रशसनत्वाच्च आत्मनिन्दनकारणात् । जल्पनात्सत्यवाक्याना कूटसाक्षित्ववर्जनात् ॥ ६५ ॥
वर्जनात्परद्रव्यस्य अल्पारम्भपरिग्रहात् । सन्तोषाच्च परेषां वै परदुःखविमोचनात् ॥ ६६ ॥
रूपादिमदनिर्नाशात् उज्ज्वलवेषधारणात् । सदस्त्र जल्पनाच्चैव मृदुवचनभाषणात् ॥ ६७ ॥
सघस्य सेवनाद्धर्मकार्यस्य करणात्तथा । जिनयात्राप्रतिष्ठाना जिनधर्मोपदेशनात् ॥ ६८ ॥

प्रशंसा कर उपदेश देना, पापकर्मकी आजीविका बतलाना, आक्रोशको धारण कर कुचेष्टा करहा, कामवासना से मन, वचन, कायकी कुचेष्टा करना, कामके रागसे हँसना, विभ्रम उत्पन्न करना इत्यादिक कुकार्योंसे अशुभ नामकर्मका आस्रव होता है ॥ ५३-६० ॥

अर्थ—हे राजन्! शुभनामकर्मके आस्रवको सुनो । जो-जो कारण अशुभ नामकर्मके आस्रवके बतलाये है । उसके विपरीत कारण शुभ नामकर्मके आस्रव है । तो भी विशेषतासे स्पष्ट बतलाते है । मन, वचन, काय योगोंकी सरलता, परिणामोकी कोमलता, सज्जन पुरुषोंके साथ अविसंवाद, साधर्मी भाइयोके मिलने पर अतिशय हर्ष, भाव संयमी जनोके संयोग होनेपर खड़ा होना, अत्यन्त आदरके साथ नम्र भावोंसे वचनालाप करना, मायाचार परिणामोका परित्याग करना, प्रमादका परित्याग करना, चुगली और निन्दाका परित्याग, चित्तकी स्थिरताका धारण करना, धैर्यसे धर्म सेवन करना, दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करना, अपनी आत्मनिन्दा करना, सत्य वचनोंका संभाषण, कूट, कर्कश, गुह्य, हास्य और कामोत्पादक वचनोंका परित्याग, झूँठी साक्षी का परित्याग करना, दूसरोंकी द्रव्यका अपहरण नहीं करना, अल्प आरम्भ और परिग्रह रखना, सन्तोषपूर्वक शांत भावोसे रहना, दूसरोंके साथ वैर भावका परित्याग करा देना, जीव मात्रके साथ मैत्रीभाव प्रकट करना, अन्य जीवोंको दुःखोंसे छुड़ाना, अपने स्वरूपका अभिमान नही करना, अभिमानका परित्याग करना, ब्रह्मचर्यादि उत्तम भेषका धारण करना, सत्य भाषण करना, मृदु वचनोंका उच्चारण करना, चतुर्विध संघको सेवा

अवशीकरणाच्चैव परसौभाग्यवर्द्धनात् । हास्यत्यागात्परेषां च अकूतूहलकारणात् ॥ ६९ ॥
इष्टकापाकदावाग्नेः वर्जनात् धनरक्षणात् । निर्मापणात्तथा जैनबिम्बाना धातुवस्तुभिः ॥ ७० ॥
तत्प्रमादादस्य करणात् जीर्णोद्धारणात्तथा । भ्रामणात्तद्रथस्यैव पुरवाह्यवने शुभे ॥ ७१ ॥
तन्नामस्तवनाच्चैव अविडम्बस्य धारणात् । चतुर्णां च प्रशमनात् क्रोधाद्याना सदैव हि ॥ ७२ ॥
अपापकार्यजीवित्वात् परवस्तुविवर्जनात् । परापवादसत्यागात् परुषवाक्यलोपनात् ॥ ७३ ॥
बुभुक्षुसत्वदानाच्च जिनगुणस्य गायनात् । मृगादिपशुजातीना बन्धनिर्नाशितात्तथा ॥ ७४ ॥
अस्यैव आश्रवाश्चेमे भवत्येव नरेश्वर । इत्यादिशुभसभावात् शुभनाम्नश्च कर्मणः ॥ ७५ ॥
सदैव शुभनामं च प्राप्नोत्येव अयं पुमान् । एभिः सुकर्मभिर्नूनं सदा शर्मप्रदायकैः ॥ ७६ ॥

करना, धर्मकार्यमें अत्यन्त हर्ष सहित उत्साहित रहना, तीर्थयात्रादि धर्म कार्योंमें तत्पर रहना, श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमा आदिका प्रतिष्ठा महोत्सव करनेमें समुत्सुक होना, श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के शासनकी वृद्धिके लिए सत्य धर्मका उपदेश करना, दूसरोंको ठगनेके लिए वशीकरण आदि प्रपंच नहीं करना, समस्त जीवोंको सुखी करनेका प्रयत्न करना, हास्य और कौतूहलका त्याग करना, वनमें अग्नि नहीं लगाना, होली इत्यादि हिंसक क्रियाका परित्याग करना, जैन मूर्ति निर्माण कर प्रतिष्ठापूर्वक श्रीजिनालयमें विराजमान करना, जैन चैत्यालयका बनवाना, श्री जिनमन्दिरकी स्थापना करना, श्रीजिनागमकी वृद्धि और रक्षाके लिये सरस्वती भवन खोलना, गुरुओंकी सेवाके लिये वसतिका (मठ), गुफा आदिका बनवाना, प्राचीन जीर्ण-शीर्ण श्रीजिन-मन्दिरका जीर्णोद्धार करना, भगवान्‌का रथ महोत्सव करना, जलयात्रा, विधान करना, अष्टोत्तर कलशोंसे प्रभु (श्रीजिनदेव) का महाभिषेक करना, अनेक प्रकारके गीत नृत्योंके द्वारा भगवान्‌के गुणोंका स्मरण करना, रात्रि जागरण कर प्रभुके गुणोंका गान स्तुति भक्तिके द्वारा करना, हिंसादि पंच पापोंका परित्याग करना, क्रोधादि कषाय भावोंको छोड़ना, पाप कार्योंकी आजीविका नहीं करना, पशुओंके बंधन छुड़ाकर अभयदान करना, दूसरोंका अपवाद नहीं करना, भूखोंको अन्नदान देना, दीन, अपंगु, अन्धा, कोढ़ी, दुःखी जीवोंकी रक्षा करना, जीवोंको पापमार्गसे बचाना, श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के भक्त साधर्मी भाइयोंकी सेवा-सुश्रूषा-विनय तथा आदरभाव करना, भोजन पानादिकसे सन्तुष्ट करना, स्थिरभाव करना, वात्सल्य प्रकट करना, जिनमार्गकी प्रभावना प्रकट करना इत्यादिक शुभ कार्योंसे शुभनामकर्मके आस्रव होते हैं ॥ ६१-७६ ॥

तीर्थंकराभिधो गोत्र. अस्यैव परमेश्वरः । बध्यते कर्मभि कैश्च निर्लिपाधिपवदित ॥ ७७ ॥
पोडशभावनाभिश्च भव्योत्तमस्य अस्य वै । श्रीतीर्थंकरगोत्रस्य बधो भवति भूपते ॥ ७८ ॥
तेषा नामानि त्व भूप शृणु एकाग्रमनसा । अनतशर्मसदानि सर्वपापाग्नितोयदे. ॥ ७९ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धिमहृनिकर शैलेति वज्रोपमा—माद्या सर्वव्रतेपु मोक्षसुखदा भव्यैर्नरै सधृताम् ॥ ८० ॥
दोपै सर्वविवर्जिता मुनिवरो यो धारयत्येव भो । नून सैव लभत्यहो वरमति सद्भावना भूपते ॥ ८१ ॥
यो रत्नत्रयपालकेषु मुनिषु अत्यतहर्षात्सदा । कुर्यादेव विनाकपायसुहृदा निर्वाणशर्मप्रदम् ॥ ८२ ॥
नानाशर्मप्रदायक च विनय प्राप्नोति सैव ध्रुव । सर्वेषु विनयाभिधा मुनिनुता सद्भावना श्रेणिकः ॥ ८३ ॥

प्रश्न—श्रीमत्तीर्थंकर प्रभुका गोत्र कौनसे शुभ कार्योसे होता है ?

अर्थ—हे मगधेश्वर ! इन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र आदि समस्त त्रिलोकी जीवोंसे सदैव पूजित पंचकल्याणोके द्वारा जगत्में परमाश्चर्यको प्रकट करनेवाले ऐसे श्री तीर्थंकर प्रभुका गोत्र षोडश भावनासे बंध होता है । उनका स्पष्टीकरण विशेष स्वरूपके द्वारा बतलाते हैं उसको हे राजन् ! एकाग्र मनसे सुन जिससे पापोंका नाश हो ॥ ७७-७८ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! समस्त पापरूपी पर्वतोके नाश करनेके लिये वज्रके समान, समस्त व्रतोमें मुख्य भव्यजीवोसे सदैव आराध्य, समस्त दोषोसे रहित, समस्त जीवोका उपकार करनेवाली यह दर्शनशुद्धि भावना है । जो मुनीश्वर इस पवित्र भावनाको परिणामोकी विशुद्धतासे धारण करता है वह श्रीतीर्थंकर गोत्रका बन्ध अवश्य ही करता है । पच्चीस दोष रहित, आठ गुणों सहित निर्मल परिणामोसे श्रीजिनदेव जिनागम और श्रीजिनगुरुका श्रद्धान पूर्वक सम्यग्दर्शनको धारण करना सो दर्शनविशुद्धि है ॥ ७९-८१ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! रत्नत्रय और रत्नत्रयको पालन करने वाले मुनिजनोकी अतिशय भक्तिपूर्वक और अत्यन्त हर्षके साथ निष्कपाय शुद्ध भावोसे विनय करना, उनके गुणोमें आसक्त होना, हाथ जोड़कर नमस्कार करना, अंतरंग परिणामोसे अतिशय पूज्य मानना, लोकोत्तम शरणभूत और मोक्षमार्गके हितकारी समझना सो विनय नामकी भावना है। इससे सर्व सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ८२ ॥

अर्थ—देव शास्त्र और गुरुको सत्य प्रमाणित मानकर आत्महितके लिये सेवा भक्तिपूर्वक विनय करना

सर्वेपु योहि धत्ते असमगुणनिधि. शीलव्रतेषु मौनी । अनतीचारत्वमेवानुदिनं सचवैश्यैवशुद्धया नरेन्द्र ॥ ८४ ॥
अनतीचारत्वसंज्ञा परमपददा भावना धर्मबीजा । वद्या इन्द्रादिदेवैः सकलमलहरा पालयत्येव नूनम् ॥ ८५ ॥
ज्ञान दोषविवर्जित जिनमुखादुत्पन्नमेव शुभं । पापापापविभेदक रविप्रम त्रेधा विशुद्धया मुनिः ॥ ८६ ॥
काले काले सदैव सु पठति यः ईदृशं धर्मबीज । शुद्धा सैव सुभावनामघहरा ज्ञानाभिधा शप्रदाम् ॥ ८७ ॥
संसार दुःखमूल बुधजननिकरै सर्वकालेषु हेय । निस्सार शर्महीन सकलविधिकर पारहीन अभव्यै. ॥ ८८ ॥

चाहिये। इसीप्रकार जिनधर्म, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय धर्मको धारण करनेवाले भव्यजीव आदि की यथायोग्य विनय करना चाहिये॥ ८३ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! जो भव्यजीव समस्त व्रतोमें अतीचार नहीं लगाता है, मन, वचन, कायकी विशुद्ध भावनासे सम्यक् श्रद्धापूर्वक पालन करता है और अपने व्रतोंको सर्वोत्कृष्ट समझ कर निर्मल भावोंसे निस्पृह (निर्वांछा) पूर्वक पालन करता है वह समस्त उत्तम सुखोंको प्रदान करनेवाली, देवोसे पूजित शीलव्रतेषुअनतीचार नामकी भावनाको धारण करता है ॥ ८४-८५ ॥

अर्थ—हे श्रेणिक ! जो भव्यजीव दोष रहित, श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के मुख कमलसे उत्पन्न हुए सम्यग्ज्ञानका मन, वचन, कायकी विशुद्धिसे कालमे पठन-पाठन, मनन, स्वाध्याय करता है वह ज्ञान भावनाको धारण करता है ॥ ८६-८७ ॥

भावार्थ—श्रीजिनागमका श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भावोंसे पठन-पाठन करना सो ज्ञानभावना है। जिनागम ही धर्मका बीज है। पापोका नाश करनेवाला है और आत्मा आदि अमूर्तीक अतीन्द्रिय पदार्थोको प्रकाशने के लिये सूर्यके समान है। कल्याण मार्ग इससे ही प्रकट होता होगा। वस्तुका यथार्थ परिज्ञानसे ही प्राप्त होगा। इस प्रकारके भावोसे श्रीजिनागमका अभ्यास करना और इसके सिवाय अन्य ज्ञानको संसारका मार्ग समझकर त्याग करना सो ज्ञानभावना है। अपने बालक-बालिकाओको भी जिनागमका अभ्यास सबसे प्रथम कराना चाहिये। अन्य ज्ञानके अभ्याससे बुद्धि मलिन और संस्कार मलिन होते हैं।

अर्थ—संसार दुःखका मूल है। विचारशील भव्यजीव इस संसारको सर्वथा हेय और निस्सार समझते हैं। इसमें रचमात्र भी सुख नही है। समस्त उत्तम कार्योका नाश करनेवाला है। उसका पार पाना अभव्योंसे

एव चित्ते विचार सकलविधिहर यो मुनिर्भावशुद्ध्या । सैव सवेगसंज्ञा सुभजति नृपते भावना कुर्वते हि ॥ ८९ ॥
शक्त्यनुसारतोवै सकलसुखकर पुण्यबीजं सुदानम् । पात्रात्र यच्छति य सकलमतिप्रद शुद्धभावाद्यतेन्द्र. ॥ ९० ॥
त्यागाख्या सैव नून लभति च नृपते भावना भावशुद्ध्या । अहाना वारनाशे ह्यसुखप्रवहरा वज्रतुल्या सदैव ॥ ९१ ॥
प्रोक्त श्रीजिननायकैर्मु निनुत ससारपारप्रदम् । नानाकर्मविनाशक मुनिवरो यः शक्तिलोपादृते ॥ ९२ ॥
पालत्येव विशुद्धितो हि अमल द्विपट्प्रम सत्तप । सैव भो मगधाधिप सुतपजा ता भावना सेवते ॥ ९३ ॥
साधूना साधुबुद्ध्या अमलगुणप्रदा यः करोति नरेन्द्र. । तेपामुत्पन्नविघ्नेनशनतपबलात् शोलसपद्युतानाम् ॥ ९४ ॥
योगाना धारणाद्वै अतिकठिनशिलातिष्ठनाच्चोपसर्गात्, दुष्टाना योगतो वै व्रनयमनिवहपालकाना सदैव ।
राद्धातालापबोधे परमसुखप्रदै पापसतापहारै, वान्योपायैर्मु नीन्द्र तदुपशमन भो वाहि विघ्नस्य नाश ॥ ९५ ॥

कठिन है। ऐसे संसारको अपना हितरूप न समझ कर संसार सम्बन्ध भोगोपभोगोपर ममत्व भावका त्याग करना और संसारकी चाहना मन, वचन, कायकी शुद्धिसे नहीं करना सो संवेग भावना है। संसारसे विरक्तता और आत्मभावना सो सवेग भावना है ॥ ८८-८९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक भावोकी विशुद्धिसे मन, वचन, काय और द्रव्यकी शुद्धिसे दान देना सो त्याग भावना है। इस प्रकार नित्य ही पात्रमे दान देनेकी उत्कट भावना और अत्यन्त हर्षित परिणाम त्यागभावनाके उत्पादक हैं। इस प्रकारकी भावनासे समस्त सुख प्राप्त होते हैं ॥ ९०-९१ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! श्री जिनेन्द्र भगवान्ने संसारका नाश करनेके लिए और समस्त कर्मोका विध्वंस करनेके लिए अत्यन्त पवित्र बारह प्रकारका तप प्रतिपादन किया है। उसको जो यतीश्वर भावोंकी विशुद्धिसे अपनी शक्तिको नही छिपाकर धारण करते है वे तपोभावनाका पालन करते हैं ॥ ९२-९३ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! शील, संयम, व्रत, तपयुक्त साधुगणोके व्रत, नियम, तपादि अनुष्ठानमें आनेवाले विघ्नोका दूर करना, अतिशय कठिन पाषाण आदि पर योग धारण करनेपर आये हुए दुस्सह उपसर्गोके विघ्नोको दूर कर रत्नत्रय की रक्षा करना। आधि-व्याधि और दैवी उपसर्ग आ जाने पर संयम और रत्नत्रयकी रक्षा करना, दुष्ट मनुष्य, तिर्यञ्च और देव आदिसे होनेवाले उपद्रवोंसे रत्नत्रयकी रक्षा करना, मरणादिक भयङ्कर

वंद्या पूज्या मुनीन्द्रैः शुभगगुणप्रदा भावना मोक्षवीजा, साधुसमाधिसंज्ञा परमहितकरा सैव प्राप्नोति नूनम् ।
वृद्धाद्यानां मुनीना परमगुणवता क्रियते यो मुनीन्द्रः, पादादिमर्दनाद्धि सकलसुखप्रदा सैव भूपेन्द्र नूनम् ॥ ९६ ॥
वैयावृत्यं च सैव लभति च शिवदा सर्वव्रतेषु सारा, वैयावृत्याख्ययुक्ता सकलविधिहरा भावना भव्यवद्याम् ।
विधीयते यत्स्नपनादिजाप्य स्तवं तथा तद्गुणचिंतनं च, श्रीमदर्हता शुभभावशुद्धया सदैव काले मुनिसत्तमोहि ॥ ९७ ॥
सैव नरेन्द्र भजते विशुद्धा भक्ति मन.पापविभञ्जकानाम् । तन्नाभजा ता शुभभावना हि सत्सातदा भव्यनरैः प्रपूज्याम् ॥ ९८ ॥
आचार्याणा करोति परमरुचिवशात्पादपद्मस्य पूजा–मभ्युत्थानं तदाप्ते सन्मुखप्रगमन सभ्रमस्य विधानम् ।
आज्ञादान च तेपा पुनः प्रणतयो यतीन्द्रः त्रिशुद्धया, प्राप्नोति भावना स. सकलमुनिनुता सूरिभक्त्याख्ययुक्तां ॥ ९९ ॥

उपद्रव उपस्थित होने पर शास्त्रोंका उत्तम धर्मोपदेश, सम्यग्ज्ञानका सदुपदेश, संसारकी निस्सारता आदिका प्रदर्शन कर रत्नत्रयकी रक्षा करना, समाधिमरण समय संक्लेश परिणामोंसे सद्बोध द्वारा रक्षा करना, सो सब साधुसमाधि है । इस भावनासे आत्मा स्थिर, शांत और आत्म भावनामें लवलीन रहता है ।

अर्थ—हे राजन् ! वृद्ध, बाल, असमर्थ रोगी ऐसे परम गुणवान् मुनीश्वरोंकी हृदयसे भक्तिपूर्वक सुश्रूषा, पाद मर्दन आदि अनेक प्रकारसे वैयावृत्य करना सो वैयावृत्य भावना है । रोगी मुनियोको औषधि (प्रासुक और रोगको नाश करनेवाली) प्रदान करना, असमर्थ और शीतादिसे पीड़ित मुनियोको वसतिकादि प्रदान कर वैयावृत्य करना, बाल मुनियोको जिस प्रकार धर्ममे दृढ़ता प्राप्त हो, वैसे वैयावृत्य करना चाहिये ।

अर्थ—हे राजन् । जो श्रीमान् जगत् पूज्य अरहन्त भगवान्की प्रतिमाको साक्षात् अरहन्त मानकर भक्तिपूर्वक विशुद्ध भावोंसे (मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक) पञ्चामृताभिषेक पूर्वक पूजा करना, गुणगान करना, स्तवन करना, पूजन करना, वन्दन करना, अष्टविधार्चन करना आदि समस्त रूपसे श्रीजिनेन्द्र भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करना सो सब अरहन्त भक्ति है ॥ ९४-९८ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो हृदयकी विशुद्धि और भक्तिभावनासे आचार्य परमेष्ठीके चरण-कमलोंकी पूजा करना, आचार्य महाराजको सामने आते ही (देखकर) खड़े हो जाना, हाथ जोड़कर विनयसे नमन करना, उनके पीछे-पीछे विनयसे चलना, उनकी आज्ञाको शिरसा वंद्य समझ कर बहुत सन्मानपूर्वक धारण करना,

शास्त्राब्धिपारगेषु सुमनिषु मतिमान् यो विधत्तेनुराग, वचनालापैरनल्पै गुणयश कथनैरभ्युत्थानादिकैश्च ।
नैव बहुश्रुतजा सदा सुखप्रदा भो भूपते भावना, लभते सयमधो सुभगगुणयुक् द्वापरो नात्र भव्य ॥ १०० ॥
शुद्धे श्रीमज्जिनोक्ते सकलसुरगणैर्माननीये प्रपूज्ये, भव्याना तारके हि अमलमतिप्रदे तत्वदीपे मनोज्ञे ।
भवेदक्षे करोति मुनि च प्रवचने भावशुद्धयानुराग-माप्नोति शर्मदा यः प्रवचनसुनामजा वरा भावना स ॥ १०१ ॥
आवश्यकानि मुनिसत्तमाना यो विभृते षट् शिवदायकानि । काले च काले सकलार्द्दहान्यै त्रिशुद्धितो वै मुनिसत्तमश्च ॥ १०२ ॥

उनका योग्य सन्मान कर सदैव अर्चना करना, उच्च आसन देकर अभ्यर्थना करना और उनकी सेवा-सुश्रूषा करना सो आचार्यभक्ति है ॥ ९९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो समस्त शास्त्रके पारगामी और आगमको जाननेवाले ऐसे उपाध्याय परमेष्ठीको भक्ति करता है, उसके बहुश्रुतभक्ति होती है । उपाध्याय परमेष्ठीकी आज्ञाको शिरोधारण करना, विनय करना, सेवा-सुश्रूषा करना, हाथ जोडना, नमस्कार करना, मधुर वचनालापसे सन्तोषित करना, पाद मर्दन करना इत्यादि अनेक प्रकारसे भक्ति की जाती है ।

जिसके आगम पर पूर्ण विश्वास है ऐसे भव्यजीव अपना हित आगमसे ही मानकर आगमके ज्ञाता उपाध्याय परमेष्ठोकी पूजा भक्ति कर समस्त सुखको प्राप्त होते हैं ॥ १०० ॥

अर्थ—हे राजन् ! जैनागम समस्त देव, इन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रोसे पूज्य है । भव्य जीवोको ससार-समुद्रसे पार करनेके लिये समर्थ है, उत्तम निर्दोष ज्ञानका प्रदान करनेवाला है, जगतका उपकार करनेवाला है, समस्त तत्त्वोका प्रकाश करनेवाला है । ऐसे सर्वोत्कृष्ट जिनागमकी भाव शुद्धिसे श्रद्धा कर भक्ति करना सो श्रुतभक्ति है ।

एक श्रुतभक्तिसे जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । देशनाके बिना किसो जीवका हित नही हुआ है । इसलिये जिनागमपर पूर्ण श्रद्धान रखकर आत्मकल्याण करना चाहिये ॥ १०१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! षट् आवश्यक क्रियाओंका पालन करना नितान्त आवश्यक है । जो भव्यजीव शरीरादिके अस्वस्थ हो जानेपर और (गृहादिकके) आवश्यक कार्य उपस्थित होनेपर भी षट् आवश्यक क्रियाओंके पालन करनेमें प्रमादी नहीं होता है वह इस भावनाको पालन करता है ।

सो भावना सभजते हि आवश्यकापरिहाण्यभिधा विशुद्धाम् । सामायिकाद्यानि सुशुद्धकानि तेषा च चित्तस्थ अतो हि कार्या ॥१०३॥
शुद्धैव ज्ञानयोगात्पुनः जिनस्नपनाद्वा चतुर्दानदानात्, विद्यामन्त्राच्च तत्रादतितपकरणात्तीर्थयात्राविधानात् ।
इत्यादिहेतुतोवै परममतिप्रयुक् यः करोति त्रिशुद्धया, श्रीमज्जैनेन्द्रधर्मस्य च खलु नृपते सुप्रभावं मनोज्ञम् ॥ १०४ ॥

सामायिकादि षट् आवश्यक कर्मोको जो अपना मुख्य कर्तव्य समझता है और समस्त कार्योंको छोड़-कर समस्त प्रकारकी क्रियाओंको रोककर मन, वचन, कायको एक भावनासे षट् आवश्यक कर्मोका पालन है वह इस श्रेष्ठ भावनाका आराधक होता है। इसलिये जिस क्रियाका जो समय है उस समय वह आवश्यक क्रिया अवश्य ही करनी चाहिये ॥ १०२-१०३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो भव्य जीव सर्वोत्कृष्ट जिनागमके ज्ञानके द्वारा समस्त मत-मतांतरके असत् (मिथ्या) तत्त्वोको खंडन कर सत्य और प्रमाणित अनेकांत स्वरूप तत्त्वोका प्रकाश कर जैनशासनकी दृढ़ता करता है वह मार्गप्रभावना प्रकट करता है । अथवा शास्त्रार्थके द्वारा जैन मतकी सर्वोत्कृष्टताका प्रकाशना सो मार्गप्रभावना है ।

भगवान्‌की प्रतिमाका विशुद्ध भावोसे और उत्सव, गीत, नृत्यादि पूर्वक पंचामृताभिषेक, जलयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, रथमहोत्सव और चतुःसंघको दान प्रदानके द्वारा महान् प्रभावना की जाती है ।

इसी प्रकार मन्त्रकी शक्तिसे अनेक प्रकारके चमत्कार बतलाकर, धर्मका प्रभाव प्रकट कर, समस्त दुर्वादि और जड अज्ञानी जीवोको सन्मार्गमें लगा देनेसे भी प्रभावना होती है ।

इसी प्रकार जप, तप, तीर्थयात्रा, जिनमन्दिर निर्माण आदि धार्मिक कार्योकी महिमा प्रदर्शन करनेसे मार्गप्रभावना होती है ।

अथवा चतुःसघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) निकालकर धर्मका उद्योत करनेसे भी मार्गप्रभा-वना होती है ।

जीवोको अभयदान प्रदान करनेसे और परोपकारके लिये करुणादान करनेसे भी प्रभावना होती है ।

इस प्रकार जैनधर्मकी महिमा अन्य मिथ्यामतियोमें प्रकट कर देनेसे धर्मका प्रभाव प्रगट होता है । अपनी शक्तिके अनुसार जैनधर्मका प्रभाव प्रकट करना सो मार्गप्रभावना है ॥ १०४ ॥

प्राप्नोति सैव नून शिवपदजनका चित्तपापारिहत्री, मार्गप्रभावना च जिनवरपददा धर्मवृद्धेः प्रयोगात् ।
वृद्धया धर्मस्य लोके किमपि न भवति दुःखपवित्‍. शरीरे, शक्त्यानुसारयोगात्समुनिवरगणे सर्वदैव प्रकार्या ॥ १०५ ॥

पुत्रे भूप करोति य सुहृदा स्नेह महानंदद, स्ववत्से हि यथा च श्रृगिणि तथा सद्य प्रसूता मुदा ।
धर्मे जैनेन्द्रगम्ये भजति प्रवचनवत्सलत्वाख्ययुक्ता, सैव सच्छर्मकारा परमगुणप्रदा भावना भो मुनीन्द्रः ॥ १०६ ॥
एतानि मगधाधिप हृदि सदा जानीहि तीर्थंकरस्यैव, तानि पोडशकारणानि सुखदान्येवाहुः सुकर्मणः ।
अस्यैवाश्रवकारणानि सकललेखादिवद्यस्यवै, ससारातपघातकस्य सुमते हे हि भवत्येव च ॥ १०७ ॥
लोपन सद्गुणाना च इतराणा प्रकाशनम् । एभिर्हि कर्मभि सैव चतुर्भि दुःखदायके. ॥ १०८ ॥
लभते नीचगोत्र च श्रृणु त्व वर्णन ह्यथ । एतेपामेकचित्तेन प्रवक्ष्येह पृथक् पृथक् ॥ १०९ ॥
परनिंदाभिध दोप भजते परनिंदनात् । अय पुमान् न सदेहः अनतभवदुःखदम् ॥ ११० ॥

अर्थ—धर्मकी वृद्धि, धर्मकी स्थिरता और धर्मकी महिमा प्रकट होनेसे यह भावना सर्वोत्कृष्ट है । समस्त पापोंके नाश करनेवाली है और समस्त प्रकारके सुखोंको प्रदान करनेवाली है ॥ १०५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो भव्यजीव श्रीजिनेन्द्र देवके पवित्र धर्मको धारण करनेवाला है और जिसके देव-शास्त्र-गुरुका पूर्ण श्रद्धान है उसको अपना दीनबंधु समझ कर गाय और बछड़ेके समान प्रेमभाव करना, उसको साधर्मी भाई मानकर आदर सत्कार करना सो प्रवचनवात्सल्य भावना है ॥ १०६ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उपर्युक्त दर्शनविशुद्धयादि षोडषकारण भावनाएँ तीर्थंकर गोत्रके आस्रव करनेवाली हैं । देवोंसे पूज्य और लोकोत्तम महिमाको प्रदान करनेवाली हैं और ससारके समस्त पापोको नाश करनेवाली है इसलिये भावोकी विशुद्धिसे नित्यही भावना भानी चाहिये ॥ १०७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोंके सद्गुणोंको ढक देना, अपने सद्गुणोका प्रकाश करना, दूसरोके मिथ्या दोषोको प्रकट करना और अपने दोषोंको ढक देना इससे नीच गोत्र कर्मका आस्रव होता है जिसका स्पष्टीकरण करते है सो एकाग्र मनसे श्रवण करना चाहिये ॥ १०८-१०९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! दूसरोंको निंदा करना, दूसरे जीवोके परोक्षरूप अपवाद या मलिन वचन बोलना, बुराई करना, उसको निंदा कहते है । (समाचार पत्रोंमें भी यह निन्दाकी जा सकती है) मनकी कुटिलतासे दूसरोंका अभ्युदय सहन नही होनेके कारण उसको गिरा देनेके भाव प्रकट करना सो निंदा है ।

विधीयते च यः स्वस्य प्रशसा परमा सदा। प्रशसाख्यं च दुर्दोषं सैव संप्राप्यते नृप ॥ १११ ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तस्य पूज्यस्य महतस्तथा । परोपकारतुश्च जिनधर्मरतस्य च ॥ ११२ ॥
पालकस्यैव शीलस्य धर्मोपदेशकस्य च। मुनेः वा श्रावकस्यैव वीतरागमतस्य च ॥ ११३ ॥
इत्यादिसद्गुणानां च धारकस्य नरस्यहि। सद्गुणान् तस्य यो मर्त्यः पैशुन्यागुणदूपितः॥ ११४ ॥
आच्छादयति यो भूप महान् दुर्बुद्धिमण्डितः। सद्गुणोच्छादनाख्यं च दोषं भजते खलु ॥ ११५ ॥
केनचित्कारणेनैव कस्यैव पुरुषस्य च । किमपि आगतं दोष प्रकटं त करोत्यहो ॥ ११६ ॥
असद्गुणोद्भावनं च स दोप भजते पुमान्। महादुःखस्य कर्त्तारं नीचगोत्रप्रदायकम् ॥ ११७ ॥

हे राजन्! जो अपने गुणगान अपने आप करना अथवा अपनेमे गुण नहीं रहनेपर मिथ्यारूपसे करना, अपनी प्रशंसा कीर्ति और बड़ाईके लिये कहना सो आत्मप्रशंसा है ॥ ११०-१११ ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यक्तप, और सम्यक्चारित्र सहित महान् पूज्य पुरुष तथा जगत्के जीवोंको सन्मार्गमें लगानेवाले श्रेष्ठ उपदेशक, श्री जिनधर्मको पालन करनेवाले, मिथ्यामार्गका परित्याग करानेवाले, शील धर्मको बढ़ानेवाले, ब्रह्मचर्यकी महिमाको व्यक्त करनेवाले, धर्मका उपदेश देनेवाले, ऐसे मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, जिनधर्म धारक भव्य जीवोके उन सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करनेवालोंको मनके दुष्परिणामोंसे ढक देना, उनकी प्रशसा और उनका आदरभाव नहीं करना सो सद्गुणोच्छादन नामका दोष है।

गुणोकी प्राप्ति गुणोंमें और गुणी जनोमें अनुराग करनेसे होती है। परन्तु जिस मनुष्यका मन दुष्ट है वह मनकी दुष्टतासे उन गुणी जनोका आदर नहीं करता है और न उन सर्वोत्कृष्ट गुणोंको धारण करनेकी भावना ही व्यक्त करता हे वलिक उन गुणोको ढांकता है। ऐसे समय वह सद्गुणोच्छादन नामके दोषको प्राप्त होता है ॥ ११२-११५ ॥

अर्थ—हे राजन्! किसी एक कारण विशेषसे (अनिवार्य कारण विशेषसे) किसी एक भव्यजीवको कोई भी दोप लग गया हो तो उसको प्रकट कर देना सो असद्गुणोद्भावन नामका दोष है। अथवा मिथ्या दूषण लगाकर प्रकट करना सो भी असद्गुणोद्भावन नामका दोप है। इससे नीच गोत्रकर्मका आस्रव होता है॥११६-११७॥

चत्वारि खलु कर्माणि एतानि मगधेश्वर। अस्य मलिनगोत्रस्य आस्रवकारणान्यहो ॥ ११८ ॥
भवत्येव पुनः त्वं च शृणु अन्यानपि नृप। कारणानस्य संक्षेपात् दुःगोत्रकर्मदायकान् ॥ ११९ ॥
करणाद्यातिमदस्यैव कुलरूपमदस्य च। शिल्पिज्ञानबलस्यैव तपश्चैश्वर्यकस्य च ॥ १२० ॥
परेषामपमानस्य चापवादस्य कारणात्। वृथा हास्यैव करणात् परवधस्य दानतः ॥ १२१ ॥
उद्घाटनाद्गुरूणां च पराभवस्य कारणात्। दोषाणां कथनात्तेषां तथापमानकारणात् ॥ १२२ ॥
निर्भर्त्सनं पुनस्तेषां भजत्ययोढनात्तथा। स्तुतेरकरणाच्चैव अनभ्युत्थानस्य कारणात् ॥ १२३ ॥
इत्याद्या हि नरस्यास्य आस्रवाश्च भवन्त्यहो। महादुःखस्य दातारो नीचगोत्रस्य दायकाः ॥ १२४ ॥
आत्मनो निन्दनाच्चैव परेषां च प्रशंसनात्। सद्गुणोद्भावनाच्चैवासद्गुणोच्छादनात्पुनः ॥ १२५ ॥
तथा नीचैर्वृत्तित्वादनुत्सेकाच्च अस्यहि। भवन्ति आस्रवा उच्चगोत्रस्यैव इमे शुभाः ॥ १२६ ॥
नीचवृत्तेस्तथा स्वामिन् अनुत्सेकस्य लक्षणम्। किं स्याद्धि तच्छृणु त्वं च महाशर्मप्रद नृप ॥ १२७ ॥
स्वात्मनो गुणवृद्धेषु ज्ञानाद्येः यो हि मानवः। प्रह्वीभावं करोत्येव चित्तशुद्ध्या नरेषु हि ॥ १२८ ॥

अर्थ—हे मगधाधिप! उपर्युक्त चार कारण नीच गोत्रके आस्रव करनेवाले हैं। १. कुलमद, २. जातिमद, ३. रूपमद, ४. शिल्पिज्ञानमद, ५. बलमद, ६. तपमद, ७. ऐश्वर्यमद, ८. ऋद्धिमद आदि आठ प्रकारका अभिमान, दूसरोका अपमान करना, दूसरोका तिरस्कार करना, वृथा हँसना, दूसरोकी हँसी कर नीचा दिखाना, दूसरोका वध-बन्धन करना, गुरुओंके दोषोका उद्घाटन करना, पराभव करना, गुरुओकी निन्दा करना, गुरुओको अवर्णवाद लगाना, अपमान करना, गुरुको देखकर खड़े नही होना, हाथ नही जोडना, नमस्कार नहीं करना, धर्मका अनुराग नही करना, धर्मकी निन्दा, मजाक और हँसी करना, श्रेष्ठ आचरणोकी हँसी करना, निन्दा करना, चारित्र धर्मका लोप करना इत्यादि अनेक नीच गोत्रके आस्रव हैं ॥ ११८-१२४ ॥

अर्थ—अपनी निन्दा करना, दूसरोके गुणोकी प्रशंसा करना, अपने गुणोंका आच्छादन करना और दूसरोके गुणोको प्रगट करना, दूसरोंके दुर्गुणोंको ढाँकना, अपने दुर्गुणोको निकालनेका प्रयत्न करना इत्यादि कारणोसे ऊँच गोत्रका आस्रव होता है ॥ १२५-१२६ ॥

प्रश्न—हे भगवन्! नीचवृत्ति नामक गुणका क्या लक्षण है ?

अर्थ—हे राजन्! जो अपनेसे अधिक गुणवान्, चारित्रवान् और सम्यग्दर्शनादि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न

नमस्कार तथा हर्षादभ्युत्थान सुभाषणम् । उपवेशन तस्माद्धि नीचस्थानेपु नन्ददम् ॥ १२९ ॥
नीचैर्वृत्यभिध सैव गुणमाप्नोति शोभनम् । नम्रत्वात्सर्वकार्याणा सिद्धिर्भवति निश्चयात् ॥ १३० ॥
ज्ञानसत्तपोयुक्तोपि तथान्यगुणमण्डित. । तथापि नो करोत्येव यो मद स्वात्मनि नृप ॥ १३१ ॥
सैव सभजते नूनमनुत्सेकाभिध गुणम् । ससारवनदावाग्नेः सदृश मोक्षशर्मदम् ॥ १३२ ॥
एभिः षट्कर्मभिश्चास्य बन्धो भवति भूपते । उच्चगोत्रस्य मर्त्यस्य नाकमोक्षस्य दायकः ॥ १३३ ॥
अष्टाना मदसत्यागात्परेपा मानवर्द्धनात् । अनहास्यैव करणात् मृदुवचनभापणात् ॥ १३४ ॥
अपरिवादनस्यैव करणाज्जिनपूजनात् । सुपूज्याना नराणा च सत्कारादिककारणात् ॥ १३५ ॥
गुरूणा सद्गुणाढ्यानामनुद्धतप्रवर्तनात् । तेपा च स्तवनादभ्युत्थानस्य करणात्तथा ॥ १३६ ॥
स्थानार्पणाच्च सन्मानविधानाद्गुणख्यापनात् । निवारणात्परेपा च पीडादिकर्मणस्तथा ॥ १३७ ॥

हो उसको देखकर हर्ष करना, गुणी और संयमी देखकर प्रमोद भावना प्रकट करना, धर्मात्मा भाईको देखकर हर्षित होना, मनकी प्रफुल्लता प्रकट करना, गुरुजन (गुणोसे वृद्धिगत) को देखकर नमस्कार करना, उच्चासन देना, हाथ जोडना, मिष्ट सम्भाषण कर उनके नीचे बैठना, दृष्टिको नीचा कर विनयभावसे रहना, उनकी आज्ञाको शिरसा वंद्य समझना, भोजन पान, दान, सन्मान आदि द्वारा उनकी पूजा करना, स्तुति करना, प्रशंसाकर उनके गुणोको महान् पूज्य मानना सो नीचवृत्ति नामका गुण है ॥ १२७-१३० ॥

अर्थ—अपनेमें निर्दोष ज्ञान और उत्तम तप विद्यमान होनेपर भी अथवा अन्य चारित्रादि उत्तमोत्तम गुण विद्यमान होनेपर भी अभिमान नहीं करना और अपने परिणामोंको सरल व कोमल रखना सो अनुत्सेक नामका गुण है। इस प्रकार षड् कारणोसे स्वर्ग मोक्षका दायक उच्चगोत्रका आस्रव होता है ॥ १३१-१३३ ॥

अर्थ—आठ प्रकारके मदोंका परित्याग करना, गुणवान् व्यक्तियोंका योग्य सन्मान करना, उनका आदर-भाव-प्रशंसा-गुणकीर्तनादिक करना, दूसरोंकी हँसी नहीं करना, सदैव मीठे वचन बोलना, दूसरोको तिरस्कार करनेके भाव नहीं करना, मुनिजनके स्वभावसे मलिन और रत्नत्रयसे पवित्र ऐसे शरीरको देखकर ग्लानि नहीं करना, श्रीजिनेन्द्र देवकी प्रतिमाका नित्य पूजन, अभिषेक और इसी प्रकार स्तवन, गुणकीर्तन करना, पूज्य पुरुषोंका सत्कार करना, गुरुओके साथ नम्र भावोसे विनीत स्वरूपमें रहना, उद्धतताका परित्याग करना, गुरुओकी पूजा, सन्मान प्रभावनाके साथ शुद्ध भावोसे करना, अभ्युत्थान प्रणामाञ्जलि करना, उच्चा-

इत्यादयोपि अस्यैव वध्यन्ते आस्रवाश्च नुः । महागोत्रस्य कर्तारः शुद्धभावान्नराधिप ॥ १३८ ॥
एभि सुकर्मभिश्चाय पट्खण्डपालकस्य च । बलभद्राच्युतस्यैव कामदेवस्य भूपते ॥ १३९ ॥
इत्यादिकस्य सशुद्धे नाना सम्पद्विभूपिते । नरोत्तमस्य भो नून सद्गोत्रे सुरवन्दिते ॥ १४० ॥
उत्पद्यते महाशर्म तत्र भुक्त्वा ह्यनुक्रमात् । निहत्य कर्मसन्दोह तपसा याति सत्पदम् ॥ १४१ ॥
महत्कुलोद्भवा मर्त्या ये भवन्ति शुभोदयात् । सारवीर्यादिसम्पन्ना तेजसा भास्करोपमा ॥ १४२ ॥
चन्द्रप्रभसमा कात्या प्राप्नुवत्येव ते तथा । शिवशर्म निराबाध कर्मातीत च्युतोपमम् ॥ १४३ ॥
पचभि कर्मभिश्चैव भवति आस्रवोऽस्य नु । नानादु खप्रदँनूनमन्तरायस्य कर्मणः ॥ १४४ ॥
दानस्य चैव लाभस्य भोगोपभोगकस्य च । वीर्यस्यैव करोत्येव विघ्न स्वस्य कुवुद्धित ॥ १४५ ॥

सन प्रदान करना, उनके गुणोका यशोगान करना, दूसरोंके दुःखोको निवारण करना, गुरुओको योग्य वसतिका गुफा बनवाकर प्रदान करना और गुरुओके लिए योग्य औषधि बनाकर प्रदान करना इत्यादिक शुभ कार्योसे ऊँच गोत्रका कर्मास्रव होता है ॥ १३४-१३८ ॥

अर्थ——इस प्रकार उपर्युक्त शुभ कार्योसे चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, कामदेव आदि पदवी धारक पुरुषोंके ऊँच गोत्रको प्राप्त होता है । जिस गोत्रमें उत्पन्न हुए पुरुषोंकी देवगण भी नित्य सेवा करते है और जो लोकमें उत्तम समझा जाता है । जिस ऊँच गोत्रको प्राप्त करनेपर ही भव्यजीव मोक्षमार्गके योग्य होता है । ऊँच गोत्रके प्रभावसे ही जीव कर्मोंका नाश कर मोक्षसुखको प्राप्त होता है । ऊँच गोत्रसे जीव महान् उत्तम कुल, उत्तम जाति और उत्तम वंशको प्राप्त होते है । जिनको अतुल बल, वीर्य प्राप्त होता है । जिसका प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ हे । जिस कुलमे तेज-कांतिरूप आदि सर्व आश्चर्यकारो महिमा होतो है । और अन्तमें मोक्षसुखको प्राप्त होते है ॥ १३९-१४३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस जीवको पॉच प्रकार कारणोसे विविध दुःखोका दायक अन्तराय कर्मका बंध होता है ॥ १४४ ॥

दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यान्तराय । इस प्रकार पॉच कार्योंमें विघ्न करना सो इससे अन्तराय कर्मका बंध होता है ॥ १४५ ॥

विधिम् ॥ १४६ ॥
दातुः पात्रस्य भो भूपास्यैव हि वध्यते च यः। स्वात्मनि शर्महन्तारमन्तरायाभिधं
यच्छति कोपि पात्राय दानमाहारसञ्ज्ञकम् । वर्जयत्येव तं कोपि महाकृपणभावयुक् ॥ १४७ ॥
केनचिद्वा कुबुद्धेन भ्रांतिमुत्पादयत्यहो । येन तस्यैव दातुश्च मतिर्दाने न जायते ॥ १४८ ॥
दानातरायदुःकर्म स लभत्येव मूढधीः। अनेन कर्मणा तस्य द नाप्तिर्नो भवत्यहो ॥ १४९ ॥
लाभाप्तिर्जायते कस्य विघातार्थं च तस्य वै । कुबुद्ध्या यः करोत्येव लाभस्यैव विनाशकम् ॥ १५० ॥
वध्यते सैव दुःकर्म लाभान्तरायसंज्ञकम् । ह्यनेन विधियोगेन लाभाप्त्यस्यैव नो भवेत् ॥ १५१ ॥
भोगवस्तो करोत्येव वियोग यो हि मानवः। कस्यैव पुरुषस्यैवासहमानस्तदोदयम् ॥ १५२ ॥
भोगान्तरायमज्ञ च सैव दु कर्म दु खदम् । परजन्मनि प्राप्नोति सशयो नात्र भूपते ॥ १५३ ॥

अर्थ—यदि दाता इस प्रकार दानादिक कार्योमें विघ्न करता है तो दाताको अन्तराय कर्मका आस्रव होगा। यदि मात्र इस प्रकार विघ्न करावे तो उसको आस्रव होगा। इसका स्पष्टीकरण आगे लिखा है ॥१४६॥

दानातराय—

अर्थ—हे राजन् ! कोई भव्यजीव किसी पात्रको आहार दान करनेका भाव करता हो या देता हो, उसको देखकर कृपणबुद्धिसे या दुर्भावोसे निषेध करना, अथवा कोई विशेष कारण बतला कर दान करनेसे रोक देना या कुबुद्धिको धारण कर पात्रकी अयोग्यता (मिथ्या कल्पना कर) प्रकट कर दान देनेमे विघ्न कर देना इत्यादि कार्योसे दानांतराय कर्मका आस्रव होता है जिससे जीवोको सब कुछ साधन मौजूद होनेपर भी दान देनेके भाव नही होते है या दान देनेका नियोग नही प्राप्त होता है ॥ १४७-१४८ ॥

अर्थ—जिस किसी जीवको धनादिक वस्तुका लाभ प्राप्त हो, व्यापारादिकके द्वारा धन प्राप्त होता हो तो कुबुद्धि या दुर्भावनासे उसके लाभ प्राप्तिमे विघ्न कर देना या उस लाभको ही नष्ट कर देना अथवा ऐसे व्यापारको किसी प्रकार जानकर स्वतः उसका फल (लाभ) लेकर उसको लाभसे वचित रखना सो इससे लाभातराय नामका कर्म बँधता है। जिससे जीवको लाभ प्राप्तिका योग नही होता है ॥ १४९-१५१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जो मनुष्य दूसरोके भोग वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करे अथवा किसीको भोग प्राप्त होते हो तो उसको नष्ट कर देना, भोगोको भोगनेमें विघ्न कर देना, भोगने नही देना, इससे भोगांतराय नाम-

उपभोगस्य मद्वस्तो नाश करोति य कुधी । कस्यैव सैव भो नूनमग्रजन्मनि जन्मनि ॥ १५४ ॥
लभते उपभोगातरायाख्यं शर्मनाशकम् । कुकर्म मगधाधीश परोपभोगवर्जनात् ॥ १५५ ॥
केनचित्कारणेनैव कोपि कस्यैव भूपते । नाश करोति वीर्यस्य नानादु खप्रदायकम् ॥ १५६ ॥
वीर्यान्तिरायसज्ञ च विधि च वध्यते खलु । सैव ससारकातारभवभ्रमणकारकम् ॥ १५७ ॥
यात्रादिधर्मकार्येषु कृपणत्वान्नराधिप । कारणाद्दाननिंदाया देवनैवेद्यभक्षणात् ॥ १५८ ॥
जिनकोशस्थवित्तस्य क्रयविक्रयकारणात् । तदशनाल्लोपनाच्चैव धारणाद्वाहि स्वापणे ॥ १५९ ॥
छेदनाज्जिनधर्मस्य परविश्वासहापनात् । अधर्माचरणाच्चैव वधनाद्वधनात्तथा ॥ १६० ॥

का कर्मबंधका आस्रव होता है । इसके फलसे परजन्ममें दुःखोकी प्राप्ति होती है और भोग्य वस्तुएं भोगनेमें विघ्न आते हैं ॥ १५२-१५३ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उपभोग वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न करना, दूसरोको उपभोगोके भोगनेमें विघ्न कर देना, उपभोगोंको नष्ट कर देना सो इससे शान्तिका नाशक उपभोगान्तराय नामका कर्मका आस्रव होता है । हे मगधाधीश ! इसके फलसे आगे अनेकों जन्मोमे उपभोगकी वस्तुओसे वंचित रहना पड़ता है ॥१५४-१५५॥

अर्थ—किसी कारणसे या दुर्भावोंसे किसी जीवके वीर्यका नाश करना, उसकी शक्तिका ह्रास करना या लोप कर देना इससे वीर्यातराय नामका कर्मबन्ध होता है । यह वीर्यातराय संसारके भ्रमण करानेमें मुख्य सहायक है ॥ १५६-१५७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! यात्रा, प्रतिष्ठा, रथमहोत्सव, जिनमंदिर निर्माण आदि धर्मकार्योमें विघ्न करना । कोई प्रतिष्ठादि करता हो तो उसको रोकना "अभी प्रतिष्ठा व प्रतिमा बहुत हो गई अब जरूरत नही ।" इस प्रकार प्रलोभन या दुर्भावोसे उत्तम प्रतिष्ठादिक कार्योमें विघ्न करना, कृपणतासे धर्मकार्य नही होने देना, देवकी पूजाके लिये अर्पण किया हुआ धन, जमीन आदि द्रव्यका भक्षण करना । ये सब अतरायके कारण हैं ॥ १५८ ॥

अर्थ—तीर्थ, जिनमंदिर, जिनशास्त्र, भंडार और जिनायतनोके भंडारका भक्षण करना । जिनधर्मका ध्वंस, जिनमूर्तिका खडन करना, जिनधर्मका विश्वास (सत्यता) का लोप करना, पवित्राचरणोंका नाश

कर्त्तनाच्चैव जिह्वायाः विपस्यचैव दापनात् । अबकोत्पाटनाच्चैव तथातकविवर्द्धनात् ॥ १६१ ॥
इत्याद्या आस्रवा भूप अतरायस्य कर्मणः । भवति सर्वमर्त्यानां शर्मान्तरायकारकाः ॥ १६२ ॥
सदेव एभिः भो भूप अस्य नु. चाष्टकर्मभिः । वध्यते कर्मणो बधा शर्माशर्मप्रदायकाः ॥ १६३ ॥
सातार्प्तिश्चैव दु.खाप्तिः यत्तद्धि प्राणिना नृप । जायते नात्र सदेहः शुभाशुभैककर्मणा ॥ १६४ ॥
मृते भर्तरि या नारी व्यभिचार करोत्यहो । तथा भरणवस्त्राद्यै. बहुमूल्यात्समुद्भवैः ॥ १६५ ॥
नेत्राणा नददेश्चैव भूपयत्येव स्वतनो । नेत्राजन करोत्येव केशादिमडन तथा ॥ १६६ ॥
गार्यात भडराग च ब्रह्मचर्यविनाशकम् । तथैव पोपयत्येव शरीर च रसोत्करैः ॥ १६७ ॥
परनिदात्मशंसा च मायामान च स्वात्मनि । कुकथा प्रकरोत्येव कुशिक्षा कामवर्द्धका ॥ १६८ ॥

करना, अधर्माचरणोंको बढाना, बध बंधनादि हिंसा कार्योको वृद्धि करना, दूसरोकी नाक काटना, जिह्वाका छेदन करना, विना प्रयोजन वृक्षोंका छेदन कराना, गुह्य अङ्गोका छेदन-भेदन करना इत्यादिक बहुतसे कारणोंसे अन्तराय कर्मका आस्रव होता है ॥ १५९-१६२ ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस प्रकार आठ कर्मोके आस्रव बतलाये है इनमे कितने ही पुण्योत्पादक है और कितने ही पापोत्पादक हे । जोवोको शुभाशुभ कर्मोसे सुखदुःख प्राप्त होता है ॥ १६३-१६४ ॥

अर्थ—विधवा स्त्री व्यभिचार सेवन करे अथवा व्यभिचार सेवन करनेके कारणों (पुनर्विवाह) को धारण करे । शरीरपर सुन्दर मनको लुभानेवाले वस्त्राभूषण पहने-बहुमूल्य साड़ी पहने । शरीरका श्रृंगार करे, केशोंको रचना करे, नेत्रमें शुरमा आदि लगाकर कामोत्पादक वेशको बनावे । भंड रागको गान करे, ऐसा कि जिससे ब्रह्मचर्य नष्ट हो जावे । पुष्ट रसोसे अपने शरीरको कामोत्पादक योग्य बनाये रखें या पुष्ट रसभोजन पान सेवन कर कामोत्पादक बनावे । दूसरोकी निंदा और अपनी प्रशसाके गान करे । मायाचार और मानको धारण कर धर्म धारण करनेका ढोग वतलावे । कुकथा और कुशिक्षाका ऐसा पठन-पाठन और अभ्यास करे कि जिससे कामवृद्धि हो, व्यभिचारकी वृद्धि हो अथवा मिथ्या शास्त्रोका पठन-पाठन करे जिससे कि सदैव कुबुद्धि बनी रहे और कुमार्ग (धर्मलोप करनेके मिथ्यामार्ग) की वृद्धिकी वासना बढ़े इत्यादि कारणोंसे स्त्री मर कर भवभवमें जन्म जन्मांतरोमें विधवा होती है क्योंकि उसने अपने धर्माचरण वैधव्य दीक्षाका नाश किया ।

पठति पाठयत्येव मिथ्याशास्त्र कुबुद्धिदम् । इत्यादिकर्मभि नारी विधवा च भवे भवे ॥ १६९ ॥
भवति शोकसयुवता धर्माचरणविघाननात् । अतिनिर्दयभावेन स्वपति मारयत्यहो ॥ १७० ॥
भक्त्वा त मेवते चान्य जीवत स्वपति खला । पापाचार सदा पालयत्येव धर्मवर्जिता ॥ १७१ ॥

विधवा स्त्रीको वैधव्य दीक्षा देना ही जरूरी है, धर्मशास्त्रोमें विधवाके लिये वैधव्य दीक्षाका विधान बतलाया है । वैधव्य दीक्षाका धारण कर वह केशका उत्पाटन, श्रृंगारका त्याग, सुन्दर वस्त्र जिसे सौभाग्य-शाली स्त्रियाँ पहनती है उनका त्याग करना पडता है ।

असलमें जो स्त्री वैधव्य दीक्षाको धारण कर संयमसे धर्माचरण पूर्वक रहती है वह एक प्रकारकी घरमें रहनेवाली आर्यिकाके समान है, परम साध्वी है । उससे समस्त कुटुम्बको शीलकी शिक्षा प्राप्त होती है वह सबको पवित्र आचरण सिखलाती हैं और शीलकी रक्षा और माहात्म्यका आदर्श जगतके सामने रखकर स्त्री समाजका और अपना कल्याण करती है । किन्तु जो विधवा वैधव्य दीक्षाको स्वीकार न कर श्रृंगार करती है, उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनती है और ऐसी कुशिक्षा प्राप्त करती है कि जिससे व्यभिचार बढ़े और धर्मा-चरणका लोप हो, शील (ब्रह्मचर्य) व्रत नष्ट हो जावे । ऐसी ही विधवायें धर्मका लोप कर केवल व्यभिचार बढ़ाती हैं ॥ १६५-१६८ ॥

कुशिक्षाका फल—

अर्थ—असलमें व्यभिचारकी जड़ कुशिक्षा है, कुशिक्षाके प्रभावसे विधवा स्त्रियाँ ब्रह्मचर्यकी मर्यादाका परित्याग कर निर्लज्ज बनकर व्यभिचारमें प्रवृत्त हो जाती हैं और उसको निर्भत्स कर तथा धर्मका लोप कर पुनर्विवाहके द्वारा व्यभिचार बढ़ाती हैं ।

कुशिक्षासे सब कुछ हो जाता है कुशिक्षासे समस्त मार्ग खुले है । और कुशिक्षाका परिणाम सबसे प्रथम धर्म लोप–तथा ढीट बनना है ॥ १६९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! कुशिक्षासे स्त्री अपने पतिको सजीवन अवस्थामें अतिशय निर्दय भावोसे मार डालती है । अथवा जीवित सुन्दर पतिको छोड़कर भग जाती है । दूसरोको पति बना लेती है । यह पापाचार कुशिक्षा-के प्रभावसे धर्मका नाश करनेवाला होता है ॥ १७०-१७१ ॥

कर्मणामितरत्वेन एतेषा साहि भूपते । शीलव्रतान्विता चाग्रे जन्मनि जन्मनि तथा ॥ १७२ ॥
भवति नात्र सन्देहो नानाशर्मविमण्डिता । अत्ययात्येव सधवा महासौभाग्यमण्डिता ॥ १७३ ॥
वित्तागनाश्च मृत्वाहि शीलहीना भवन्त्यहो । सदैव कामदेवस्य क्रीडाशक्ता मदोद्धताः ॥ १७४ ॥
म्लेच्छोत्पन्ना[1] नरा नार्यः मृत्वाहि मगधेश्वर । भवन्ति व्रतहीनाश्च इमे वामाश्च मानवा ॥ १७५ ॥
भूत भातमभूतमेव ह्यखिल ससारतापापह, वीरा वीरगुणाकरो मुनिनुतो वृतान्तमेवांजसा ।
आयु कायसुमारवैभवयुतान् पुण्योदयात् सत्सुखान्, मर्त्याना च पृथक् पृथक् जिनपति· त्रिषष्टिकाना शुभम् ॥ १७६ ॥

अर्थ—ऊपर जितने कारण विधवा होनेके बतलाये है उनसे विपरीत कारण सधवा होनेके जानना चाहिये । जो स्त्री शीलव्रतका पालन करती है, श्री जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका श्रद्धान कर अपना आचरण आगमके अनुकूल रखती है । वैधव्य दशा प्राप्त होनेपर वह वैधव्य दीक्षा धारण कर ससार देह भोगोसे उदास रहती है । न शृंगारादि कामोत्पादन दुष्ट कार्योको करती हैं वह भवभवमें सधवा होती है । महान् सौभाग्य उसको प्राप्त होता है ॥ १७२-१७३ ॥

अर्थ—वेश्यायें जो व्यभिचारका धन्धा फैलाकर शीलसे रहित होती है, वे मरकर परजन्ममे शीलविहीन मदोद्धता अनन्त पापोको सेवन करनेवाली और संसारमें परिभ्रमण करनेवाली होती हैं ॥ १७४ ॥

अर्थ—जिनके यहाँ पुर्नविवाहादि मलिन आचरण हैं जिनको उत्तम व्रत धारण करनेकी योग्यता ही नहीं प्राप्त होती है उनको म्लेच्छ वा शूद्र कहते है । शूद्रोको शीलव्रत किसी प्रकार भी पालन नही हो सकता है । क्योंकि उनके यहाँ उनकी जातिमें पुर्नविवाह होता है । पुर्नविवाह व्यभिचार हैं । व्यभिचार करनेवालोके शीलव्रत हो नहीं सकता हैं । शीलव्रतके अभावसे अन्य व्रतोका पालन भी परिपूर्ण नही होता है । अतएव ऐसे स्त्री-पुरुष मरकर व्रतविहीन होते हैं ॥ १७५ ॥

अर्थ—हे मगधेश्वर ! जो कुछ संसारमें जितना वृत्तान्त हो गया है, आगे होगा और वर्तमानकालमें

---

१ म्लेच्छ । शूद्र जो स्त्री पुर्नविवाह करते हो, अतएव व्यभिचार जिनके मुतरा होना है व्रत होनेकी योग्यता उनको नही प्राप्त होती है । शीलव्रत धारण करनेका जिनको अवसर ही प्राप्त नही होता है ऐसे म्लेच्छ जीव मरकर व्रतविहीन अनन्त संसारके भ्रमण करनेवाले होते हैं । +

पौराणाश्च तथा हि अन्यमनुजाना च चरित्र महत्, तत्त्वातत्त्वविभेदक च स्मरतो मोक्षस्वरूप तथा ।
कृत्वैत्थ च जिनेश्वरो ह्यघहरो व्याख्यानक चोत्तम, मोक्ष ह्याप दयार्द्रधी- जितरिपुः सर्वाधिपैर्वन्दित ॥ १७७ ॥
इत्थ कर्णसुखप्रदा मुनिवरैर्वंद्या च मोक्षप्रदाम्, श्रीतीर्थङ्करवक्त्रजामघहरा श्रुत्वा गणास्तेऽखिला ।
वाणोमापुस्तदा च वै निरुपमा सन्देहवृन्दापहा, मोद मोदकरा सुरासुरगणै पूज्या च पूज्योदयाम् ॥ १७८ ॥
केचिद्भव्यास्तदा भीत्वा ससाराशमत खलु । स्वीचक्रु जिनमुद्रा च श्रावकाचारज व्रतम् ॥ १७९ ॥
दाने च पूजने केचित् मति चक्रु शिवाप्तये । दिनाभिषेकनियम पञ्चामृतरसोत्करै- ॥ १८० ॥
निशाया भक्षणस्यैव त्याग चक्रुश्च केचन । स्वस्त्रिया नियम केचित् पर्वण्या चाग्रशर्मणे ॥ १८१ ॥

हो रहा है वह सब वीर प्रभु अपने दिव्य ज्ञानसे परिपूर्ण यथार्थ रूपसे जानते हैं । इसीलिए वीर प्रभु सर्वज्ञ वीतराग और त्रिलोक वन्दित है । मुनिगणोसे पूज्य हैं । जो मनुष्य वीर प्रभुके वचनोका श्रद्धान कर उनको ही अपना ध्येय समझता है, अपना कर्तव्य मानता है वही आयु, काय, भोग, सम्पदा आदि उत्तमोत्तम सामग्रीको प्राप्त कर महान् पुण्यका सम्पादन करता है । वह पुण्य त्रिषष्टि पुरुषोके चरित्रादिकोका श्रवण करनेसे सम्पादित होता है ॥ १७६ ॥

अर्थ—श्री वीर प्रभुने त्रिषष्टी शलाका पुरुषोंका पुण्योत्पादक जीवन चरित्र, तत्त्वातत्त्वका विवेचन, मोक्षका स्वरूप आदि समस्त पदार्थोका व्याख्यान समोशरणमें दिया । वे दयालु भगवान् सदैव जयवत रहो ॥१७७॥

अर्थ—इस प्रकार मुनिगणोसे भी पूजित समस्त प्रकारके सुखोको प्रदान करनेवाली, समस्त पापोका नाश करनेवाली, निरुपम–समस्त सन्देहोको विध्वंस करनेवाली, समस्त जीवोंको आनन्द प्रदान करनेवाली, महान् पुण्योदयसे प्राप्त होनेवाली ऐसी वीर प्रभुकी मनोहर श्रीजिनवाणीको प्रभुके मुखकमलसे श्रवण कर समस्त गणधर देव प्रसन्नताको प्राप्त हुए ॥ १७८ ॥

अर्थ—वीर प्रभुकी दिव्यध्वनि श्रवण कर कितने ही भव्योंने संसारके दुःखोंसे भयभीत होकर श्रीजिनदीक्षा धारण कर ली । श्रावकाचारके व्रतोको धारण किया । कितनोने दान करनेकी प्रतिज्ञा ली, कितनोने जिनपूजनका नियम ग्रहण किया । कितनोंने पंचामृतसे नित्य जिनाभिषेक करनेका नियम लिया । रात्रिमें भोजनका त्याग कितनोंने किया । बहुतोंने स्वदारसन्तोष नियम पालन करनेकी प्रतिज्ञा ली व ब्रह्मचर्यव्रत

अष्टान्हिकविधिं केचित् कर्मादिदहनं व्रतम् । रत्नत्रयव्रत केचित् जग्रहुः कनकावलिम् ॥ १८२ ॥
पञ्चकल्याणनामापि पञ्चकल्याणदायकम् । पल्याख्य व्रतमुख्य च केचिच्च जग्रहुस्तदा ॥ १८३ ॥
सम्मेदाचलयात्रार्थं मतिं चक्रुश्च केचन । दुष्टाष्टविधिनाशार्थं शुद्धभावेन मण्डताः ॥ १८४ ॥
श्रेणिकोपि नराधीशो भावितीर्थङ्कराग्रणी. । शुद्धसम्यक्त्वभूपाढ्य वीरनाथस्य भाक्तिकः ॥ १८५ ॥
महावीरस्तदाकाले भावयामास भावनाम् । तेषा यात्राव्रतादीना स्वहृदि शुद्धभावतः ॥ १८६ ॥
इत्याद्यं धर्मसदोह स्वस्वशक्त्यनुसारत. । गृहीत्वा सह भूपेन ययुस्ते स्वपुरे मुदा ॥ १८७ ॥
चेलनाद्या प्रियास्तस्य वारिषेणादयः सुताः । नागरा भव्यभावाढ्या तेषा वामाश्च नन्दनाः ॥ १८८ ॥
इत्याद्याः सकला भव्याः व्रत तं कर्मनाशकम् । यथोक्तविधिना चक्रुः कर्मादिदहनाभिधम् ॥ १८९ ॥
राज्ञः संजायते भव्या धर्मोत्पत्तिर्न सशय. । यत्र राजा च धर्मात्मा भवत्येन प्रजापि च ॥ १९० ॥

धारण किया। कितने ही जीवोने आष्टान्हिक, रत्नत्रय, कर्मदहन, पल्यव्रत, पंचकल्याणव्रत, कनकावलि, द्विकावलि, मेरुपंक्ति आदि व्रतोंको पालन करनेका नियम लिया। श्री सम्मेदाचलकी यात्रा चतुर्विध संघ सहित करनेका पुण्यकार्य कितने ही भव्यजीवोने स्वीकार किया।

इस प्रकार शुद्ध भावोंसे मण्डित भव्यजीवोने श्रीवीर प्रभुकी दिव्य-ध्वनिको श्रवण करके दुष्ट अष्ट कर्मोंको नाश करनेके लिए विविध प्रकारका चारित्र धारण किया ॥ १७९-१८४ ॥

अर्थ—महाधीर ! भावी तीर्थङ्कर ऐसे श्रेणिक महाराजने श्रीवीर प्रभुकी भक्तिसे शुद्ध सम्यक्त्वसे अपनेको विभूषित किया और जो देशना (धर्मोपदेश) वीर प्रभुने दिया था उसकी भावना की, तीर्थ यात्रादिकोंकी भावना की। इस प्रकार धर्म श्रवण कर समस्त भव्यलोक अपने-अपने स्थानको गये ॥ १८५-१८७ ॥

अर्थ—श्रेणिक महाराजकी चेलना आदि महादेवी वारिषेण आदि राजकुमार और नगरके समस्त भव्य नर-नारीगणने इस कर्मदहनव्रतको यथोक्त विधिसे धारण किया ॥ १८८-१८९ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्रेणिक महाराजकी धर्मभावनाको देखकर समस्त प्रजा धर्ममय बन गई। नीति है कि राजा धर्मात्मा होनेसे प्रजा भी धर्मात्मा होती है क्योंकि राजाके भले-बुरे आचरण प्रजा सीख लेती है। धर्मकी वृद्धि और धर्मकी मर्यादा राजाओंसे ही स्थिर रह सकती है। क्योंकि राजगण दण्ड आदिके

[illegible] मता नृणा व्रतम्य चास्य वे । कुर्वीत मद्व्रत चेम तृणमेव शिवप्रदम् ॥ १९१ ॥
[illegible] कृता इमे सर्वे नरोत्तमा. । विधिना क्रियमाणाश्च शिवशर्मप्रदायका. ॥ १९२ ॥
[illegible] विधिना व्रतमेकमप्येव ये नरा । करिष्यति भजिष्यति मोक्षसौख्य न सशय ॥ १९३ ॥
मातगाद्यारा ये मर्त्या शुद्धैकव्रतपालनात् । सुखमाप्ता ह्यनो भव्या बहुभि कारण च किम् ॥ १९४ ॥
कर्तव्य यत्न भो भव्या निरारभेण तद्व्रतम् । आरभेणैव सयुक्ता इमे हि भवदायका ॥ १९५ ॥
कृत्वा चेत्प्रोषधम न आरभ य करोत्यहो । गजस्नानसम शर्म प्राप्नोति सेव मानव ॥ १९६ ॥

द्वारा प्रजाको अनीति ओर असदाचार (अधर्म) से रोक सकते है । राजाओकी आज्ञा समस्त प्रजाको पालन करनी ही पडती हे । राजाकी आज्ञा धर्मरूप-नीतिसे पूर्ण होगी तो प्रजा भी वही नीति, वही धर्मव्यवस्था सांगोपाग स्वीकार करेगी ।

वर्तमानमें वर्णव्यवस्था लोप, विधवा विवाह, स्पर्शास्पर्श लोप, समान हक आदि समस्त धर्मविरुद्ध, नीतिविरुद्ध, मर्यादाविरुद्ध बातोको धर्मनीति और कर्तव्य बतलाया जा रहा है, यह सब राजा और राजाकी ऐसी ही कुशिक्षाका फल है । यह बात सच है कि यथा राजा तथा प्रजाः ॥ १९० ॥

अर्थ—हे राजन् ! कर्मदहनकी महिमा अपरंपार है । इस प्रकार जो भव्य जोव इस महिमाको सर्वोत्कृष्ट और परम दुर्लभ समझते है वे मोक्षको प्रदान करनेवाले इस व्रतको भावोकी विशुद्धिसे करें । हे भव्य जीवो ! यह व्रत श्री जिनेन्द्र देव भगवान्के मुखकमलसे प्रकाशित है । इसलिये जो भव्य शास्त्रोक्त विधिसे इस व्रतका पालन करते है वे मोक्षसुखको प्राप्त होते है ॥ १९१-१९३ ॥

अर्थ—हे भव्य जीवो ! मातग आदिक अनेक भव्य प्राणी इस व्रतके माहात्म्यसे सुखको प्राप्त हुए है तो आप लोगोंको भी निःसदेह भावसे शुद्ध व्रत पालन करना चाहिये ॥ १९४ ॥

अर्थ—समस्त प्रकारके हिंसक और मोहोत्पादक आरम्भोका परित्याग कर व्रतोका परिपालन करना चाहिये । जो उपर्युक्त प्रकारका आरम्भ कर व्रतोका पालन नहीं करता उसके संसारके मार्गकी वृद्धि होती है ॥ १९५ ॥

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य आरम्भ सहित उपवास करते है उनके व्रत सुख प्रदायी नही होते है । गजस्नानके समान उनकी क्रिया है ॥ १९६ ॥

अथ श्रीमज्जिनाधीशो महावीरः सुरार्चितः । विहारं कृतवान् आर्ये वर्षे भव्यनरैर्भृते ॥ १९७ ॥
तर्पयतिस्म तान् भव्यान् वचनामृतवर्षणै. । मिथ्यातमो हि तेषा च वाग्मयूखैर्विघट्टयन् ॥ १९८ ॥
स्थापयन् श्रीजिनेन्द्रोक्तं सद्धर्मं मौक्षदायकम् । उत्थापयन् कुधर्मं च भवसंततिदायकम् ॥ १९९ ॥
एव कृते च भव्योघा. तद्वदनेन्दुज वरम् । राद्धान्तामृतसत्पानमितरेषा च दुर्लभम् ॥ २०० ॥
जहुरनादितो लग्न भवाकूपारवर्द्धकम् । मिथ्या विष महाक्रूरं शर्मलेशविनाशकम् ॥ २०१ ॥
ततश्च जगहुः शुद्धसम्यक्त्व भवनाशकम् । यस्यैव धारणात्सर्वे तरति भवतो नराः ॥ २०२ ॥
याता॰ याति तथा भव्याः यास्यन्ति शिवसत्पदे । अस्यैव पालनात्कोपि अन्योपायो हि नो बुधा. ॥२०३॥
एवं सबोधयन् भव्यान् पावापुरस्य सो जिनः । प्रत्यागूर्णस्थकासारे सिताम्भोजैर्विमडिते ॥ २०४ ॥
तन्मध्ये रचिते देवैश्चन्द्रकातिमये शुभे । शिलापट्टे निरौपम्ये सर्वदेवाधिपै. सह ॥ २०५ ॥
आययौ तत्प्रभावाच्च पूर्वमेव सुरार्चितः । तस्योपरि तदा दध्रे प्रतिमायोगमुत्तमम् ॥ २०६ ॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकगुरु श्री वीर भगवान्‌ने अपने वचनामृतसे समस्त भव्य जीवोंको परम सतोष कराते हुए अपने वचन रूपी किरणोंसे जगत्‌के निबिड मोहांधकारको नाश करते हुए श्रीमज्जिनेन्द्र देवके अनादिनिधन जैनधर्मको समस्त जगतमें स्थापन करते हुए तथा कुधर्मोका नाश करते हुए भरत क्षेत्रके आर्यखंडसे विहार किया। और अगणित भव्योको संसारसे पार कर परमसुख धाममे पहुँचाया ॥१९७-२००॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकबन्धु श्री भगवान् महावीर भगवान्‌के मुखकमलसे विनिगर्त वचनामृतका पानकर अनेक भव्योने अनादिकालसे संलग्न ऐसे मिथ्यात्वरूपी हालाहलका परित्याग किया ॥ २०१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! श्रीवीर भगवान्‌के वचनामृतके पानसे बहुतसे भव्यजीवोने शुद्ध सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति की। जिस सम्यग्दर्शनके प्राप्त होनेपर अनन्तभवके समस्त पाप एक क्षणमात्रमे नष्ट हो जाते हैं। और भव्य-जीव ससार समुद्रसे पार हो जाते हैं ॥ २०२ ॥

अर्थ—इस सम्यग्दर्शनके प्रभावसे ही भव्यजीव संसारसे पार हुए, होते हैं और आगे होगे। इसके सिवाय मोक्षपद प्राप्त करनेका अन्य उपाय नही है ॥ १०३ ॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिलोकगुरु देवाधिदेव श्रीवीर भगवान् समस्त भव्यजीवोको सबोध (रत्नत्रयका परिज्ञान) कराते हुए पावापुरके तालाबके मध्यभाग भूमि पर आये। देवगणोने कमलोसे विभूषित उस तालाब-के मध्यभागमें चन्द्रकातमणिकी दिव्य और परम सुन्दर एक शिला स्थापन की। देवगणोसे पूज्य श्रीवीर भग-

अ…शुक्लाग्निना हत्वा कर्मारातीन् ततो जिन.। बाहुलाभिधमन्मासे दर्शे च शर्वरीक्षये ॥ २०७ ॥
मोक्षमाप गुणाढ्य न नक्षत्रे स्वातिकाभिधे। महावीरो गुणे पूर्ण तारको भव्यप्राणिनाम् ॥ २०८ ॥
चतुर्णिकायदेवेन्द्रा तदैवासनकम्पनात् । आजग्मु तस्य पूजार्थं ज्ञात्वा निर्वाणसद्गतिम् ॥ २०९ ॥
महदानन्दसंपन्ना: सैन्यसप्तविमण्डिता । नानाशोभाभिसंपन्ना: सागना. सहवाहना ॥ २१० ॥
पदे पदे प्रकाशार्थं चक्रु देवा मुदान्विता नाकरत्नोद्भवाना च प्रकाश तमनाशकम् ॥ २११ ॥
सुराधिपा विभो देह दृष्ट्वा वस्वगतस्तदा। नत्वा च स्थापयामासु शिविकाया सुरैः कृताम् (?) ॥२१२॥
अग्नीन्द्रमुकुटोद्भूतपावकेन पुनः शुभे । काश्मीरागुरुकर्पूरैरन्यैर्द्रव्यै सुरोद्भवैः ॥ २१३ ॥

वान्ने उस रत्नमयी शिला पर प्रतिमायोग धारण किया और कार्तिक वदी चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम समय स्वाति नक्षत्रके उदयमें वे अन्त्य शुक्लध्यानके प्रभावसे समस्त कर्मशत्रुओंका समूल नाश कर निर्वाण पदको प्राप्त हुए ॥ २०४-२०८ ॥

भावार्थ—भव्य जीवोको संसारसे पार करनेवाले समस्त आत्मीक शुद्ध गुणोंसे परिपूर्ण ऐसे वीर (महावीर) भगवान् पावापुरके तालाबके मध्यभागसे मोक्षको पधारे।

अर्थ—वीर भगवान्के मोक्ष पधारनेके समय देवोके आसन कम्पायमान हुए। जिससे चतुर्णिकाय देव भगवान्के निर्वाणके समयको जानकर भगवान्की निर्वाण पूजा करनेके लिए वहाँ पर आये ॥ २०९ ॥

अर्थ—महान् आनन्द और हर्षसे प्रफुल्लित सात प्रकारकी सेनासे विभूषित अपनी-अपनी देवांगनाओं सहित अपने-अपने वाहनों पर बैठे हुए देवता अपूर्व शोभाके साथ वहाँ पर आये ॥ २१० ॥

अर्थ—उस समय हर्षसे प्रफुल्लित देवगणोने अन्धकार नाश करनेवाले और अपूर्व प्रकाशको प्रकट करनेवाले ऐसे स्वर्गके रत्नमयी दीपक स्थान-स्थान पर रखे। अगणित दीपकोंसे दीपावली (दिवाली) को प्रकट किया। उसी दिवससे यह उत्सव दीपावलीके नामसे दिवाली आजतक प्रचलित है ॥ २११ ॥

अर्थ—देवगणोंने त्रिलोकपूज्य वीर भगवान्के उस परम औदारिक दिव्य देहको एक सुन्दर पालकीमें विराजमान कर महान् उत्सव प्रकट किया ॥ २१२ ॥

अर्थ—पावापुरके उस तालाबके मध्यभागमें ही अग्निकुमारके देवोंके मुकुटोंसे प्रज्वलित अग्निके द्वारा

पर्यायातरमेवाशु चक्रुस्ते सुरनायकाः । तं कायं अतिहर्षेण शिवशर्मकरं वरम् ॥ २१४ ॥
तदग्रे मृतपिंडेज्या शुभा चक्रुः शिवाप्तये । महामंत्रेण सौधर्मप्रमुखाश्च सुरेश्वराः ॥ २१५ ॥
मोक्षाभिधेहि कल्याणे मोदकेन मता बुधाः । गणाधीशैर्जिनेन्द्रस्य इज्या मोक्षप्रदायिका ॥ २१६ ॥
प्रपेठुः शांतिसत्पाठं गर्वशांतिप्रदायकम् । सर्वेन्द्राश्चातिहर्षेण महदानदसंभृताः ॥ २१७ ॥
तद्भस्म भुजयोः भाले नेत्रे च हृदये सुराः । तथा सर्वशरीरेषु विभोः कायसमुद्भवम् ॥ २१८ ॥
सद्वृत्त्वा चेति दध्रुस्ते इयमस्तु हि नो शुभा । शिवदा स्वामिनो नून मतिर्नास्त्यत्र संशयः ॥ २१९ ॥
आनदनाटकं चक्रे सौधर्मेन्द्रो हि हर्षतः । अग्रे निर्वाणसद्भूमेः सह शच्या तथा सुरैः ॥ २२० ॥

अत्यन्त सुगन्धित केशर, अगर, चन्दन, कपूर आदि स्वर्गकी पवित्रतम दिव्य वस्तुओंसे वीर भगवान्‌के परम पुनीत उस दिव्य देहको देवेन्द्रोने पर्यायान्तर किया ॥ २१३-२१४ ॥

अर्थ—सौधर्म इन्द्र आदि मुख्य देवेन्द्रोने भगवान्‌के उस (पर्यायांतर अवस्थाको प्राप्त हुए) शरीरको मोक्षकी प्राप्तिके लिए महान् मन्त्रोंके द्वारा पूजा की (मृतपिण्डकी पूजा की) ॥ २१५ ॥

अर्थ—मोक्ष कल्याणकी कल्याणक पूजा गणधर देवोने मोक्षको प्रदान करनेवाली बतलाई है इसलिये प्रत्येक भव्यजीवको अति हर्षभावसे करना चाहिये ॥ २१६ ॥

अर्थ—देवगणोने अति हर्षभावसे मंत्रपूर्वक विधिक्रमसे निर्वाण कल्याणक पूजाको कर अन्तमें शान्ति-पाठ जगत्‌की शान्तिके लिये किया ॥ २१७ ॥

अर्थ—भगवान्‌के शरीरको भस्मको देवगणोंने अतिशय पूज्य भावोंसे उस भस्मको अतिशय पूज्य समझकर सुखकी प्राप्तिके लिये अपने भुजोंपर, हृदयमें, भाल, नेत्र और समस्त शरीरमें लगाई और अपनेको पवित्र माना ॥ २१८ ॥

अर्थ—देवगणोने उस 'पवित्रतम' और मोक्षको प्रदान करनेवाली भगवान्‌के शरीरकी भस्मको उत्तम और शुभवस्तुको अत्यन्त संरक्षणीय समझ कर अपनी-अपनी रत्नोंकी पिटारियोंमें बड़े यत्नसे गोप्य कर रखी। और उससे देवोने अपनेको मोक्षगति प्राप्त होगी ऐसा निश्चय किया ॥ २१९ ॥

अर्थ—सौधर्म इन्द्रने उस समय निर्वाण भूमिपर अपनी इन्द्राणी और देवगणोंके साथ आनन्द नाटक अत्यन्त हर्षसे किया ॥ २२० ॥

आतोद्याना तदा श्रुत्वा ध्वनिं कर्णसुखप्रदम् । श्रेणिकाद्याश्च भव्यौघा प्रचेलु सह भीरुभि ॥ २२१ ॥
इज्याद्रव्येण सयुक्ता मोदवारविमंडिना । एव सर्वे च सप्रापु यत्र देवेश्वराश्च ये ॥ २२२ ॥
तमुत्सव च सदृष्ट्वा चिता ते भूमिपादय: । मुदमापुश्च सचक्रु प्रणतिमचला च ताम् ॥ २२३ ॥
सुनासीरकृतानदनाटक नददायकम् । विभो भूमे पुरस्त च ददृशुस्ते नरोत्तमा ॥ २२४ ॥
परिपूर्णं विधायाशु सुनृत्य नृत्यागमार्थवित् । मघवा सह देवौघै सर्वेपा वकनददम् ॥ २२५ ॥
सुनासीरस्ततश्चाह श्रृणु श्रेणिक भूपते । पष्टिसहस्रप्रश्नाना कर्तार मगधाधिप ॥ २२६ ॥
अद्य प्रभृतितो जाता वृषभाद्या: जिनेश्वरा । तेपा निर्वाणसत्पूजा अस्माभि रचिता वरा ॥ २२७ ॥
अद्येव वीरनाथस्य गतिर्निर्वाणकाऽभवत् । अस्यैव चितनार्थं च मोक्षसौख्याप्तये नृप ॥ २२८ ॥
प्रत्यब्दं मोदकेनैव दीपव्रातैर्घृतोद्भवै । राध्यते वीरनाथस्य इज्या कार्या सुभावत: ॥ २२९ ॥

अर्थ—वीर प्रभुके निर्वाण हर्षमें देवोने दुन्दुभि बाजे त्रिलोकको शब्दायमान करनेवाले बजाये । जिनकी ध्वनिको श्रवण कर श्रेणिक आदि प्रमुख राजाओंने वीर भगवान्‌का निर्वाण महोत्सव जान लिया । और उस महोत्सवकी पूजा करनेके लिये सपरिवार सेना और समस्त प्रजासहित सुन्दर-सुन्दर पूजाकी द्रव्यको साथ लेकर पावापुरके तालावपर वीरप्रभुकी निर्वाणभूमि पर आये ।

प्रभुके शरीरकी चिताको देखकर अतिशय हर्षको प्राप्त हुए । और भक्तिभावसे मोक्षकी प्राप्तिके लिये उस चिता की पूजा की, नमस्कार किया और देवोंके उस निर्वाण महोत्सवको देखकर हर्षित हुए ।

देवेन्द्रोंके उस आनन्द नाटकको समस्त राजाओने देखा और वीरप्रभुकी महिमाको अपूर्व समझ हर्ष प्रकट किया ॥ २२१-२२३ ॥

अर्थ—नृत्यकलामे प्रवीण ऐसे इन्द्रने नृत्यकी विधिको समाप्त किया ॥ २२४ ॥

अर्थ—आनन्द नाटकको समाप्त कर इन्द्रने श्रेणिक महाराज आदि प्रमुख राजगणोसे कहा । श्री वृष-भादि पार्श्वनाथ पर्यन्त तेवीस तीर्थंकर प्रभुकी निर्वाण पूजा (निर्वाण कल्याणक) विशुद्ध भावोसे उत्तम रीत्याकी और आज ही श्री वीर भगवान्‌की निर्वाण पूजा की है । इस महान् महोत्सवके स्मरणार्थ प्रत्येक वर्ष (रात्रिके अन्तप्रहर) इसी समयमें घृतोके उत्तमोत्तम दीपसमूहको प्रज्वालित कर और महा सुन्दर-दिव्य रससे परिपूर्ण इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले ऐसे लाडूसे निर्वाण पूजा करनी चाहिये ।

इत्युक्त्वा त च नाकेन्द्रः सहलेखैः सुरास्पद। जगाम वीरनाथस्य चिंतयन् सद्गुणोत्करान् ॥ २३० ॥
सह भव्यैस्तदा भूपो मोदकेन शुभेन च। कृत्वेज्या सिद्धभूमेश्च आयातवान् स्वमास्पदम्॥ २३१ ॥
तदा प्रभृतितो भव्याः आयत्रर्षे च सद्विधि । अय विख्याततता जातः सर्वकार्यकरात्रहः॥ २३२ ॥
कृत्वा सुरचना तत्र कासारे जलमभृते । तदालयस्य स भूपः प्रतिष्ठा तस्य स्थापना ॥ २३३ ॥
अन्तकाले च त्यावत्वा हि रौद्रध्यानस्य भावतः। प्रस्तरे प्रथमस्यैव श्वभ्रस्य गतिबधभाक् ॥ २३४ ॥
प्राणान् जगाम दुखाढ्ये तत्र भुक्त्वा च आयुपम्। मित्राष्टसहाव्दात पश्चान्निर्गत्य तत्रतः॥ २३५ ॥
अत्रैव कोशले देशे अयोध्याया भविष्यति । महापद्माख्यसयुक्तः आद्यस्तीर्थंकराग्रणोः॥ २३६ ॥

इस प्रकार कहकर वीर प्रभुके गुणोंको स्मरण करता हुआ इन्द्र अपने स्थानपर गया ॥२२५-२३०॥

अर्थ--इन्द्रकी आज्ञासे श्रेणिक महाराजने अनेक भव्य राजगणोके साथ सुन्दर लाडूसे श्रीवीर भगवान्‌की निर्वाण पूजा की तथा उस सिद्धभूमिको (पावापुरके तालावमध्य जहाँसे श्रीवीर भगवान् मोक्ष धामको पधारे) पूजा मुख्यतासे की। इस प्रकार समस्त प्रजाके समक्ष निर्वाण पूजा व सिद्धभूमि पूजाको यथाविधिसे परिपूर्ण कर श्रेणिक महाराज वीर भगवान्‌के गुणोका स्मरण करते हुए अपने स्थानको गये ॥ २३१ ॥

अर्थ--श्रीवीर भगवान्‌की निर्वाण पूजा भारतवर्षमें सर्वत्र उत्तमोत्तम लाडू और घृतोंकी सुन्दर दीपावलीसे भव्यजीव तबसे आज पर्यंत करते आ रहे हैं, कर रहे हैं और जबतब जिनशासन है तबतक करते रहेंगे।

दिवालीके दिवस लाडू चढानेकी विधिकी प्रवृत्ति उसी समयसे हुई है ॥ २३२ ॥

अर्थ--श्रेणिक महाराजने (जलसे परिपूर्ण) उस पावापुरके तालावके मध्यभागमें (जहाँसे श्रीवीर भगवान् निर्वाण पदको प्राप्त हुए थे।) श्रीवीर भगवान्‌का जिनालय बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा अतिशय धूमधामसे की। जिनालयसे श्रीवीर भगवान्‌के स्मरणार्थ वीर भगवान्‌की चरणपादुका स्थापित की ॥ २३३ ॥

अर्थ--श्रीवीर भगवान्‌से साठ हजार प्रश्नोको करनेवाले शुद्ध सम्यग्दृष्टि भव्य श्रेणिक महाराजने रौद्रपरिणामोसे नरक आयुका बंध किया था और इसीलिये अन्तसमयमें संक्लेश परिणामोसे प्राणोंका परित्याग कर श्रेणिक महाराजका जीव प्रथम नरकके प्रथम पाथडेमें चोरासी हजार वर्षकी आयु पाकर उत्पन्न

र र भूप: नारकी चैन का पुन: तीर्थनायक । अहो भव्याश्च पश्यध्व चरित्र कर्मणोद्भुतम् ॥ २३७ ॥
के के न कर्मणा प्राप्ता दुःखवृंदं बुवोत्तमा । देवमानवसमेव्या भरताद्या नरोत्तमा ॥ २३८ ॥
मन्येत्यं सकला भव्या कर्मारातिविहानये । एक श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं कुर्वीध्व धर्ममुत्तमम् ॥ २३९ ॥

श्री गिरनार सिद्धक्षेत्र प्रकरण

अथ शृणुथ भो भव्या वृत्तातमपर शुभम् । सक्षेपत प्रवक्ष्येह जिनमार्गस्य सूचकम् ॥ २४० ॥
श्रीनेमिनाथस्य सुशोभितेन, पादारविंदेन मनोहरेण । यदूर्जयताभिधभूधरोहि, पवित्रता भो गतनिर्जरार्च्यः ॥ २४१ ॥
यस्याद्गता मोक्षपुरे मुनीन्द्रा, द्विसप्ततिकोटिप्रमात्मध्यानात् । जायाशतैं सार्धमहो सुरार्च्या, वदाम्यह तान् सकलान् त्रिकाले॥२४२॥

हुआ । वहाँसे निकलकर कोशल देश अयोध्या नगरमें महापद्मनामके प्रथम तीर्थङ्करका महान् पद प्राप्त करेगा ॥२३४-२३६॥

अर्थ——कहाँ तो महा मडलीक राज्यपद और कहॉपर नारकी अवस्था तथा कहॉपर फिर तीन जगत्से पूज्य तीर्थंकर पद ! ये सर्व बातें एक आश्चर्य करनेवाली है । हे भव्य जीवो ! परंतु इसमे कुछ भी आश्चर्य माननेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये सब कर्मके चरित्र है । कर्म इससे भी अधिक आश्चर्यकारी घटनाको कराता है । ससारमे कर्मोंसे कौन-कौन जीवोंको दुःख प्राप्त नही हुए । अरे भरत महाराज सरीखे चक्रवर्ती पुण्य पुरुष भी कर्मोंके द्वारा दुःखको प्राप्त हुए तो अन्य साधारण जीवोंकी क्या बात ? इसलिए समस्त भव्य जीवोंको कर्मोंके नाश करनेके लिए श्रीजिनेन्द्र भगवान्के द्वारा प्रतिपादित दयामयी पवित्र एक जैनधर्मका पालन करना चाहिये ॥ २३७-२३९ ॥

अर्थ——हे भव्यजीवो ! समस्त जीवोंके कल्याणके लिये अब एक दूसरा वृतांत संक्षेपसे कहते है । जिससे जैनमार्गकी महत्वता प्रकट होगी ।

त्रिलोक पूजित देवाधिदेव श्री नेमिनाथ भगवान्के पवित्र चरण कमलोंसे पवित्र तीर्थ अवस्थाको प्राप्त हुआ ऐसा पवित्र नेमिनाथ स्वामीकी निर्वाणभूमि श्रीगिरनार पर्वत सोरठ देशमे प्रसिद्ध है। जहॉसे बहत्तर कोड़ि मुनीश्वर मोक्ष धामको पधारे हैं । उस पर्वतराजको मै त्रिकाल भावविशुद्धिसे नमस्कार करता हूँ ॥ २४०-२४२ ॥

तस्य गुहायां वसनैर्विहीनो धरादिसेन- सुरपूज्यपाद । तपोदयालंकृतगात्रमूर्ति- वासं चकार मुनिराट् शिवार्थं ॥ २४३ ॥
अगाधधारी तपदीप्तिधारी ध्यानाधिकारी सकलार्थचारी । श्रीजैनधर्माब्धिसुसोमकारी पुनातु नः स वसुभावधारी ॥ २४४ ॥
तेन मुनीन्द्रेण विचारितेय अगाश्च पूर्वा ह्यखिलाः गताश्च । स्वस्य हृदि ह्येकदिने शुभाख्ये श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्त्तनार्थम् ॥ २४५ ॥
शास्त्रादृते नैव नराखिलाश्च, धर्मस्य मार्गं श्रुतपाठन च । ज्ञास्यति नैवात्र श्रुतार्णव च, अतो रचिष्यामि दलेषु मध्ये ॥ २४६ ॥
जयादिगुभ्र प्रथम चकार, ग्रथ ह्यकूपारसम मुनीन्द्र । अनेकभेदार्थभृत मनोज्ञं, श्रीवीरनाथस्य ध्वनेश्च तुल्य ॥ १४७ ॥
प्रमाण तस्य ज्ञातव्य सहस्रसप्तति खलु । बुधैर्नमाम्यह त च शिरसा समये त्रिके ॥ २४८ ॥
विचित्रशब्द गहनार्थयुक्तं महादि अते धवल च ग्रथम् । ततः पर भो मतिराट् चकार बुद्धयाबलेन द्वितीय शुभं च ॥२४९॥
चत्वारिंशत्सहस्रस्य मानमस्य बुधैर्मतम् । तस्मै ग्रन्थाय शुद्धाय नमोस्तु समय प्रति ॥ २५० ॥

अर्थ—गिरनार पर्वतकी गुफामें नग्न दिगंबर धरसेन नामके एक योगीश्वर ध्यान धारण कर रहते थे। श्रीधरसेन योगीश्वर देवगणोंसे साक्षात् पूजित थे। दया, तप, संयम आदि उत्तमोत्तम गुणोंसे विभूषित अङ्गके कुछ अंश पर्यंत महान् ज्ञानके धारक, तपसे तैजस, ऋद्धिको प्राप्त, ध्यान क्रियामे अतिशय निपुण, समस्त तत्त्वके वेत्ता, श्रीजिनधर्मरूपी समुद्रको बढ़ानेके लिये चंद्र समान प्रभुताको धारण करनेवाले ऐसे श्रीधरसेन मुनीश्वर हमारी रक्षा करो ॥ २४३-२४४ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् श्रीधरसेनाचार्यने अगको अपने हृदयमे धारण कर जैनमार्गकी प्रवृत्तिके लिये ग्रन्थोकी रचना की।

श्रीधरसेनाचार्यने विचार किया कि अब आगे जीव मंदज्ञानी धारणाशक्ति विहीन होगें। इसलिये वे धर्ममार्ग व श्रुतका पठन-पाठन नही जान सकेंगे। इसलिये मै श्रुतको पत्रोपर लिखकर जगत्में प्रकाश करूँ।

श्रीधरसेनाचार्यने सबसे प्रथम समुद्रके समान गम्भीर अनेक शब्दार्थोसे मनोज्ञ जगत्के हित कारक श्रीवीर भगवान्की ध्वनि समान परमपूज्य जयधवलादि ग्रन्थ निर्माण किये ॥ २४५-२४७ ॥

अर्थ—जयधवल ग्रन्थकी श्लोक संख्या सत्तर हजार श्लोक प्रमाण है। उस ग्रन्थराजको मैं शिर नमाकर त्रिकाल वंदना करता हूँ ॥ २४८ ॥

अर्थ—विचित्र शब्दरचनासे गुंफित और गंभीर अर्थका प्रतिपादक ऐसा महाधवल ग्रन्थ बनाया जिसके श्लोकोंका प्रमाण चालीस हजार है ऐसे समय ग्रन्थको मैं त्रिकाल नमस्कार करता हूँ ॥ २४९-२५० ॥

ि ार्ि रने धाठ न गन्थ, गूढार्थगुप्त तनीग नर च । मतातरा गच्छणात्प्रयाति, विखण्डिता ह्युत्तरवर्जितारच ॥२५१॥

गष्टिसहस्रगन्थाद्य भव्यजीवैश्च पूजितम् । साष्टांगेन सदा त च वन्दे कर्मारिनाशकम् ॥ २५२ ॥

एषा त्रयाणा रचना कृता वै ज्येष्ठस्य मासे शुभध्यानयोगात् । तेन मुनीन्द्रेण दलेपुमध्ये शुक्लाभिधे पचमीवासरे च ॥२५३॥

गुन्याणि ।ाश्रावक्राविकाधीशनतु प्रकारे महतैः सुसघे । इज्या कृता वै अभिषेकमुख्या तेषा च गानैर्वरदानमानै ॥ २५४ ॥

गदमंध्यानेन प्राणान् प्रत्यक्त्वा धरादिसेनो यतिराट् गतश्च । स्वर्गेन्वभूत् शर्मतति शुभाच्च किं किं न यात्येव शुभोदयाद्धि॥ २५५ ॥

त्रयाणा धारकास्तस्य शिष्या बुद्धयब्धिपारगाः । भूतबल्यादयो जाता योगीन्द्रा वसनोज्झिता ॥ २५६ ॥

गन्थप्रवतना कृत्वा गतास्तेपि दिव खलु । मुनीन्द्रा ध्यानयोगेन त्यक्त्वा प्राणान् शिवाप्तये ॥ २५७ ॥

ह्यनुक्रमेण योगीन्द्रो नेमिचन्द्रो मुनीश्वरः । आसीत् क्षितौ प्रविख्यातः तत्त्रयाणा च वाचनात् ॥ २५८ ॥

अर्थ—विजयधवल ग्रंथ अतिशय गूढ़ार्थ बनाया जिसको श्रवण करते ही मतांतर खण्डित हो जाते हैं और बडे-बड़े प्रवादि निरुत्तर होकर सत्य मार्गको ग्रहण करते है । यह ग्रंथ साठ हजार श्लोक प्रमाण बनाया । उस ग्रथ राजको त्रिकाल मै वन्दना करता हूँ ॥ २५१-२५२ ॥

अर्थ—उक्त तीन ग्रन्थोंकी ज्येष्ठ सुदी ५ को ताड़पत्र पर लिपिरूप स्वामी श्रीधरसेनाचार्यने रचना की ॥ २५३ ॥

अर्थ—श्रीधरसेनाचार्यकी चार प्रकारके संघने (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) महान् उत्सव और भक्तिपूर्वक अभिषेक पूर्वक पूजा की ॥ २५४ ॥

अर्थ—श्रीधरसेनाचार्य शुभ ध्यानसे प्राणोंका परित्याग कर स्वर्गमे उत्तम सुखोंको प्राप्त हुए । शुभ ध्यानसे क्या-क्या नहीं होता है ॥ २५५ ॥

अर्थ—उक्त तीनों ग्रंथराजोको धारण करनेवाले आगमके पारगामी श्रीभूतबलि आदि अनेक दिगम्बर योगीश्वर उत्पन्न हुए ॥ २५६ ॥

अर्थ—श्रीमान् भूतबलि आदि आचार्यगण भी उन ग्रंथोंकी प्रवृत्ति समस्त संसारमें कराकर शुभध्यान-से उत्तम सुखको प्राप्त हुए ॥ २५७ ॥

अर्थ—आचार्य भूतबलि आदि महर्षियोंके बाद अनुक्रमसे श्रीनिखिल परमागमके वेत्ता श्रीदिगम्बर

तदनुसारतस्तेन ग्रन्थाना स्वस्य बुद्धित । कृता च रचना लोके ग्रन्थवर्द्धनहेतवे ॥ २५९ ॥
संस्कृतापि कृता ग्रन्थाः प्राकृतापि कृताः पुन । तेन धर्मप्रकाशार्थं चात्मकल्याणसिद्धये ॥ २६० ॥
त्रयाणा रचना तेन महाधवलग्रन्थतः । ग्रन्थानां च कृता नूनं सर्वार्थस्य प्रकाशिका ॥ २६१ ॥
अनागतप्रकाशाख्यमाद्यमानन्दद खलु । सर्वक्रियादिकथकं मतातरविघातकम् ॥ २३२ ॥
द्वितीयं मोक्षदं तत्त्वप्रकाशाख्यमघापहम् । ग्रथं सकलतत्वाना प्रकाशकरणे रविम् ॥ २६३ ॥
मुनीनां वा गृहस्थाना सद्धर्मोत्पादकं शुभम् । धर्मप्रकाशसंज्ञं च नाकशिवप्रदायकम् ॥ २६४ ॥
इमे च निर्मिताः शुद्धाः त्रयो ग्रन्थाश्च तेन वै । संभृताश्च विवेकाद्यैः कलाभि शिवदायकाः ॥ २६५ ॥

योगीश्वर सूरि श्रीनेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती उत्पन्न हुए। जिनने उक्त तीनों ग्रंथोंको पढ़कर अपनी प्रसिद्धि सर्वत्र अखण्ड रूपसे व्याप्त कर दी थी ॥ २५८ ॥

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीने उन ग्रन्थोंको (धवल, जयधवल, महाधवलादि) पारंगत कर उन ग्रन्थोके अनुसार प्राकृत-सस्कृतके बहुतसे ग्रन्थ बनाये। प्राकृतके ग्रंथ गोम्मटसार आदि प्रसिद्ध हैं। कितने ही ग्रंथ सस्कृत भाषामें भी बनाये। जिससे जैनधर्मकी महिमा बढ़े और अपनी आत्माका कल्याण हो ॥ २५९-२६० ॥

अर्थ—महाधवल ग्रंथसे उनने तीन ग्रथोंकी संस्कृत भाषामें रचना की। उसमें अनागत प्रकाश नामका ग्रन्थ निर्माण किया, जो समस्त मतमतांतरोका खण्डन करनेमें एक अद्वितीय श्रेणिको (छटा) धारण करता है और जिसमें समस्त क्रियाओका स्वरूप वर्णन किया है ॥ २६१-२६२ ॥

अर्थ—दूसरा ग्रन्थ तत्त्वप्रकाश नामका बनाया जो समस्त तत्त्वोका प्रकाश करनेके लिए सूर्य समान है। और समस्त पापोका नाश करनेवाला है ॥ २६३ ॥

अर्थ—तीसरा ग्रन्थ धर्मप्रकाश बनाया जिसमें मुनि और गृहस्थोके धर्मका पूर्ण रूपसे वर्णन है। जिसको पढ़नेसे स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त होते हैं। आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्तीने उन ग्रन्थोकी रचना की जिसमें विविध प्रकारकी कलाएँ गुम्फित की ॥ २६४-२६५ ॥

अनागतप्रकाशस्यानुसाराच्च प्रनिर्मित । सूर्यप्रकाशसन्नामा अय मया[1] बुधोत्तमा ॥ २६६ ॥
अनेकनयसयुक्तो मिथ्याधरविसदृश- । सज्जनैर्भव्यभावाढ्यै सदा मान्यो न दुर्जनै- ॥ २६७ ॥
अस्य श्रवणमात्रेण कुपथपोपका नरा । मूकवत् येत्र स्थास्यति यथा नागाश्च कीलिता ॥ २६८ ॥
सार्थनामयुत चेद सकलार्थप्रकाशकम् । सुमत्या दायक भव्या पठध्व शिवसिद्धये ॥ २६९ ॥
अस्मिन् ग्रथे धृताः केचित् सबधाश्चान्यग्रथत । केचिद्धि मूलग्रथाच्च जैनमार्गप्रकाशकाः ॥ २७० ॥
ग्रंथोऽय सज्जनाना च महद्धर्षप्रवर्द्धक । दुर्जनाना पुनश्चायं महत्क्रोधस्य वर्द्धकः ॥ २७१ ॥

इस ग्रंथका अवतरण

अर्थ—श्री आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्तीके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामक ग्रन्थके आधारसे यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रन्थ मैने हे विद्वानो ! बनाया है ॥ २६६ ॥

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश अनेक नय सहित मिथ्यांधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है और भव्य-भावोसे सज्जन पुरुष इसको सर्वोत्कृष्ट समझते हैं। और सदैव मान्य करते है। परन्तु दुर्जन पुरुष इसको श्रवणकर मनोनीत भावना करेंगे ॥ २६७ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थके श्रवण मात्रसे कुमार्गको पुष्ट करनेवाले मनुष्य के मूर्ख समान स्थगित रह जॉयगे। जैसे सर्प मन्त्रसे कीलित होकर स्थगित हो जाते है ॥ २६८ ॥

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश ग्रन्थका नाम सार्थक है। समस्त अर्थको प्रकाश करनेवाला और सुमतिका प्रदान करनेवाला यह ग्रन्थ है। इसलिये इसका पठन-पाठन मोक्षको सिद्धिके लिये करना चाहिये ॥ २६९ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थमें कितने हो सम्बन्ध अन्य ग्रन्थोंसे लेकर किये है। कितने मूलग्रन्थका प्रबंध जैसाका तैसा रख दिया है ॥ २७० ॥

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रन्थ सज्जनोको महान् हर्षको बढानेवाला है और दुर्जन पुरुषोंको क्रोध-को उत्पन्न करनेवाला है ॥ २७१ ॥

---

१ सूर्यप्रकाश यह स्वतन्त्र ग्रन्थ हे। परन्तु इसकी रचना आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके बनाए हुए अनागत प्रकाश नामके ग्रन्थसे की हे।

सज्जना दुर्ज्जना लोके हिताहितकरा घनाः । सति ह्यनादितः अस्मिन् गोपन्नगसमा बुधाः ॥ २७२ ॥
तत्क्षणे सज्जना नैव परकाव्य गुणोज्ज्वलम् । दूषयन्त्येव त दृष्ट्वा मुदमेव प्रयात्यहो ॥ २७३ ॥
चरत्यहो तृणानेव यथा गौः पयसततिम् । ददात्येव न रक्त च कदापि तद्धि द्वेषतः ॥ २७४ ॥
तथा हि सज्जनाना च मदा प्रकृति निर्मला । स्वयमेव मनोमोददायका द्वेषवर्जिता ॥ २७५ ॥
दह्यमानोपि भो भव्या. पावकेनैव चन्दनः । तथापि नैव दुर्गन्ध ददात्यहो न संशय. ॥ २७६ ॥
तथाहि सज्जनो नैव पीड्यमानोपि दुर्जनै । मुञ्चति सज्जनत्व च शत्रुमित्रसमानधीः ॥ २७७ ॥
शर्करामिश्रित दुग्ध पिवत्येव भुजगमा॰ । तथापि गरल येहि मुचत्येवामृत न च ॥ २७८ ॥

अर्थ—सज्जन और दुर्जन पुरुष गाय और सर्पके समान हिताहित करनेवाले अनादिसे ही है ॥२७२॥

अर्थ—सज्जनोका यह स्वभाव ही है कि दूसरोके निर्माण किए हुए काव्यको गुणसम्पन्न देखकर प्रसन्न होते हैं ॥ २७३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गाय तृणोंको भक्षण कर दूध देती है परन्तु कभी भी द्वेषसे रक्त नही देती है। ऐसे ही सज्जन पुरुष सदैव गुणग्राही ही रहते हैं ॥ २७४ ॥

अर्थ—सज्जन पुरुषोका ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे सबको आनन्द ही प्रदान करते है परंतु किसीसे भी द्वेष नही करते हैं ॥ २७५ ॥

अर्थ—चन्दन जिस प्रकार जलाने पर भी अपनी सुगन्धिको नही छोड़ता है और कभी किसी अवस्था में दुर्गन्ध नही देता हे। यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार सज्जनोंका भी ऐसा ही स्वभाव होता है कि वे गुणोंको ग्रहण करते हैं ॥ २७६ ॥

अर्थ—चदनके समान सज्जनोका भी यही स्वभाव है कि दुर्जनोके त्रासको सहन कर भी सज्जन पुरुष अपनी सुजनताका परित्याग नहीं करते हैं और शत्रुमित्र पर एक समान हित रखते हैं ॥ २७७ ॥

अर्थ—मिश्री मिश्रित दूध सांपको पिलाने पर भी सांप विप ही उत्पन्न करता है अमृत नही। वैसे ही दुर्जनोका यह स्वभाव ही है कि वे दोपोको ग्रहण करते हैं और गुणोका परित्याग करते हैं ॥ २७८ ॥

तथा हि दुर्जनाना च स्वभावोय न सशय । दोपाणा ग्रहणे दक्षा गुणग्रहणविच्युता ॥ २७९ ॥
दर्शने परदोपस्य खलाश्चात्येवचातुरा । स्वदोपदर्शने ते हि जन्माधसदृशा खलु ॥ २८० ॥
रुच्यते नैव दुष्टाना परोदय· कदाप्यहो । रवेस्तेजो यथा लोके दिवाधाना तथैव हि ॥ २८१ ॥
परोदय च दृष्ट्वा हि वृथा कोप भजन्त्यहो । ये ते च दुर्जना नून धिक् वृथा कोपकारिण. ॥ २८२ ॥
परकीय महाकाव्य निन्दयन्त्येव दुर्जना । मनोहर हि तेपा च स्वभावोय सनातन ॥ २८३ ॥
सज्जनाना गुणाना च गृह्णार्थं निर्मिता इमे । सज्जना अत्र लोके वा स्वयभुवा बुधोत्तमा. । २८४ ॥
गृह्णार्थं दोप वस्तूना इमे च निर्मिता· खला । ब्रह्मणा चात्र सन्देहो नो खलु सज्जनोत्तमा: ॥ २८५ ॥
सुज्ञानधारका लोके कुज्ञानधारका खलु । माहेपोसदृशा येहि ज्ञेया पन्नगसदृशा. ॥ २८६ ॥
वचनाडम्बरै किं स्यात् सज्जना गुणपोपका । भो बुधा दुर्जना नून दोपपोपणमरता ॥ २८७ ॥

अर्थ——दुर्जन पुरुष दूसरोके दोष देखनेमे ही अतिशय निपुण होते है । परन्तु कभी भी अपने दोषोंको जन्मांध पुरुषके समान चक्षु रहने पर भी नहीं देखते हैं ॥ २७९-२८० ॥

अर्थ——दुष्ट पुरुषोको दूसरोका अभ्युदय (उन्नति) रुचिकर नही होता है । जैसे सूर्यका प्रकाश उल्लू नामके जीवको नहीं रुचता है । दुष्ट पुरुष दूसरोके उदयको देखकर वृथा ही क्रोध करते है।इस प्रकार बिना कारण क्रोध करनेवाले दुर्जनोंको धिक्कार है ॥ २८१-२८२ ॥

अर्थ——दुर्जन पुरुष दूसरोके बनाये हुए काव्यकी निन्दा करते है यह उनका सनातन स्वभाव ही है ॥ २८३ ॥

अर्थ——सज्जन पुरुषोंका निर्माण गुणोंको ग्रहण करनेके लिए ही हुआ है । परंतु दुर्जन पुरुषोंका निर्माण दुर्गुणो (दोषो) को ग्रहण करनेके लिये हुआ है । इसमें हर्ष विषाद नही करना चाहिये । जिसका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही करता है ॥ २८४-२८५ ॥

अर्थ——इस विशाल संसारमें सुज्ञान और कुज्ञानके धारक अनेक मनुष्य है । कितने गायके समान सुजन है और कितने ही सॉपके समान दुर्जन हैं । इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है। परंतु सबका सारांश मात्र यही है कि सुजन गुणोंका पोषण करते है और दुर्जन दोषोंको पुष्ट करते है ॥ २८६-२८७ ॥

मे काव्योपरि कोप च मा कुरुध्व वृथा च भो। कोपोहि सर्वपापस्य वर्द्धको नात्र संशय ॥ २८८ ॥
हृदिहि भवता नैव रुच्यते भो नरोत्कराः। ग्रन्थोयं भजथ नून माध्यस्थं पापनाशकम् ॥ २८९ ॥
आत्मनिन्दा च कुर्वन्ति परेषा सज्जनाश्च न। परकाव्य च ते दृष्ट्वा हर्षोल्लास भजन्त्यहो ॥ २९० ॥
वातातकप्रयुक्तश्च यद्वत् कश्चित् ब्रुवति ना। वचसा सतति नून शब्दाशब्दविवर्जिताम् ॥ २९१ ॥
तद्वत् उक्ता मया ह्यस्मिन् ग्रन्थे च वचनावलिः। या दृष्ट्वा सज्जनास्ता च मा भजध्व क्षमापहं ॥२९२॥
अभिमानेन अस्यैव नो कृता रचना वुधाः। मया केवलधर्मस्योद्योतनार्थं शिवप्रदा ॥ २९३ ॥
आलस्ययोगाद् वुधसत्तमा हि, अस्मिन् धृतादित्यप्रकाशग्रथे ॥
शब्दा अशुद्धा यदि चेन्मया वै, क्षमध्वमेवाखिलसज्जनार्च्या ॥ २९४ ॥
मा यातु ज्ञानसम्पन्ना वालकोपरि मे खलु। रोपत्वं सज्जनास्तेहि हीनशब्दार्थदर्शनात् ॥ २९५ ॥

अर्थ—मेरे इस काव्यके लिये वृथा ही क्रोध किसीको नही करना चाहिये क्योंकि क्रोध समस्त पापों का मूल कारण है ॥ २८८ ॥

अर्थ—हे सज्जनो ! जो आपको यह मेरा बनाया हुआ सूर्यप्रकाश नामका ग्रंथ रुचि कर न हो तो आप पापनाशक मध्यस्थ भावको धारण करें ॥ २८९ ॥

अर्थ—सज्जन पुरुष दूसरोकी निन्दा नही करते हैं। और दूसरोंके काव्यको देखकर वे अतिशय हर्षित होते हैं ॥ २९० ॥

अर्थ—जिस प्रकार वात रोगी यद्वा तद्वा बकवाद करता है कुछ भी शब्दाशब्दका बोलने न बोलनेका विचार नही करता हे। ऐसे ही यह मेरी वचनावलि इस ग्रन्थमे गुंफित की है। सज्जन पुरुष इससे दुर्भावको धारण नही करेंगे ॥ २९१ ॥

अर्थ—मैंने यह ग्रन्थ अभिमान या किसी अन्य स्वार्थकी सिद्धिके उद्देश्यसे नही बनाया है। केवल धर्म का उद्योत हो एक इसी सद्भावनासे प्रेरित हो यह ग्रन्थ निर्माण किया है॥ २९२ ॥

अर्थ—इस सूर्यप्रकाश ग्रन्थमें प्रमादसे कोई अशुद्ध शब्द रखे हो। उस पर सज्जन पुरुष क्षमा भाव धारण करें। कोई हीन शब्द देखकर ज्ञानसे विभूपित सज्जन पुरुप मुझे बालक समझ कर क्रोधभावका प्रकाश नहीं करें ॥ २९३-२९५ ॥

वीर शर्मप्रदायको मुनिनुतो वीर श्रिता ज्ञानिनो। वीरेणैव समाप्यते शिवपदो वीराय मूर्ध्ना नम ॥ २९६ ॥
वीरान्नास्त्यपरोहि देव भवने वीरस्य शुद्धा गुणा । वीरे चित्तमह दधे ह्यनुदिन हे वीर मेघ जहि ॥ २९७ ॥
देवेश. पूज्यपाद हृतसकलमलश्चिन्मय' शातरूप' , वीरेश स्वात्मसस्थो गणधरमहितो लोकभागाग्रसस्थः ।
पापाना वारनाशे अतुलपविसमः काममातगसिंह , ह्यस्तु मेसौ जिनेन्द्रो विमलमतिप्रदो मगलाय शिवाते ॥ २९८ ॥
शेषास्ते जिननायका' शिवप्रदा ससारविच्छेदका' , देवेन्द्रै खचरेश्वरैमु'निवरै' सेव्याः सदा शप्रदा. ।
पापातकविघातकाः सुविमला नानागुणै. सभृताः , कुर्वंतु मम मगल शिवपद वद्या मया सस्तुता. ॥ २९९ ॥
सिद्धाः कर्माष्टहीना गणधरमहिता लोकभागाग्रसस्था , वद्या नेमीन्दुनाम्ना शिवपदजनकाः सर्वपापाग्निमेधा ।
निष्काया निर्विकल्पा गुणगणनिलयाः सर्वकालेषु सस्था , ते मे कुर्वंतु नित्य सकलसुखकर मगल पावन च ॥ ३०० ॥

अर्थ—वीर भगवान् ही सर्व सुखोको प्रदान करनेवाले है । श्रीवीर भगवान्का ही शरण सज्जन पुरुष स्वीकार करते है । श्री वीर भगवान्के प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । इसलिये श्री वीर भगवान्को मस्तक नमाकर नमस्कार है । श्री वीर भगवान्के सिवाय अन्य कोई इस जगत्में देव नही है । वीर भगवान्के शुद्ध गुण है । मै वीर भगवान्में अपने चित्तको लगाता हूँ । हे वीर प्रभो ! मेरे पापोंको दूर करो ॥ २९६-२९७ ॥

अर्थ—देवाधिदेव पूज्यपाद समस्त कर्ममल कलंकको नाश करनेवाले चिन्मय परमशांत अपने स्वरूपमें स्थिरीभूत गणधर देवोंसे पूजित लोकके अग्रभागमें विराजमान पापोंके नाशक कामरूपी हाथीका नाश करनेके लिये सिंह समान और विमल ज्ञानके प्रदान करनेवाले ऐसे अरहंत श्रीवीर परमात्मा हमें मंगल प्रदान करें॥२९८॥

अर्थ—मोक्षको प्रदान करनेवाले, संसारका नाश करनेवाले, देवेन्द्र, विद्याधर और मुनीश्वरोंसे सदैव पूज्य, पापोंका नाश करनेवाले, अनंत गुणोंको प्रदान करनेवाले ऐसे चतुर्विशति वृषभादि देव हमें मंगल प्रदान करो ॥ २९९ ॥

अर्थ—आठ कर्मोंसे सर्वथा रहित, गणधर देवोंसे पूज्य, लोकके अग्रभागमें विराजमान, मोक्षपदको प्रदान करनेवाले, समस्त पापोंको नाश करनेवाले, शरीर रहित, समस्त प्रकारके संकल्प-विकल्पोसे रहित, गुणोके स्थानभूत, सब कालमें अनादिनिधन रूपसे विराजमान और नेमिचंद्र (ग्रन्थकर्ताका नाम) आचार्यसे वंदनीक ऐसे सिद्ध परमात्मा परम पवित्र मंगल प्रदान करो ॥ ३०० ॥

आचार्या धर्मतीर्था मुनिवरनिवहैः पूजिता सत्पदाब्जाः । रामःशत्रुर्गुणाना सुधरणकुशला सर्वपापारिहोना ।
धीरा वै धीरसेव्या ,सुरअसुरनुता पूर्णज्ञानाब्धिचद्रा । नो वो यच्छतु शुद्धं शिवपथजनक मगल मत्तपाढ्याः ॥ ३०१ ॥
,वदेह पाठकाना पदद्वयमनिशं पावनाना त्रिशुद्धया । येपा शक्त्यस्ति नित्य अवगमपठने पाठने लेखपूज्यम् ।
शिष्यानां ते च दध्यु परममतियुताः पापसतापहारा । ये शुद्ध मगलौघ कविमतिजनकाः शुद्धाभावाय शुद्धाः ॥ ३०२ ॥
पक्षे वा मासमध्ये सुनिधसकरणे विद्यतेनल्पशक्तिः । मूले वृक्षस्य चापि गिरिशिरसि तथा वा तटे चैव नद्या ।
साधूना सर्वकाले पदयुगलमह वा त्रिशुद्धया च येपा । ते मे हि साधुवर्गाः परमसुखप्रदाः मङ्गलाय भवन्तु ॥ ३०३ ॥
एतेपा परमेष्ठिना बुधजना गात्रस्थपापोत्कराः, नानादुःखप्रदायका ह्यतिदृढाश्चैव प्रयांत्येव वै ।
नागत्व अमलाप्तये शुभहृद सस्मरणतः तत्क्षणे, कुर्वीध्वं शिवशर्मद हृदि सदा स्मरण ह्यतः पापहम् ॥ ३०४ ॥

अर्थ——धर्मतीर्थके नायक मुनिवरोंसे पूज्यपाद, छत्तीस गुणोसे विराजमान, समस्त पंचाचारके धारण करनेमें कुशल, समस्त पापोके नाशक, सुधीर वीर पूर्ण ज्ञानके समुद्र ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमें मोक्ष पंथमें जाने के योग्य मंगल प्रदान करो ॥ ३०१ ॥

अर्थ——जिनमें समस्त द्वादशांगके पठन–पाठनकी अपूर्व शक्ति विद्यमान है, देवोसे पूजित समस्त सतापका नाश कननेवाले और परमबुद्धिके प्रदान करनेवाले (पाठक) उपाध्याय परमेष्ठी मंगल प्रदान करो। मैं सतत वंदना करता हूँ ॥ ३०२ ॥

अर्थ——पन्द्रह दिवस अथवा एक मास पर्यंत प्रोषध (उपवास) धारण करनेकी जिनमें अपूर्व शक्ति होती है। जो वृक्षके मूल या पर्वतके शिखर अथवा नदीके किनारेपर योगासन लगाकर अपने आत्मध्यानमें लवलीन होते हैं ऐसे साधु परमेष्ठीके चरण कमलोको त्रिशुद्धिसे नमस्कार करता हूँ। वे साधु परमेष्ठी परम सुखको प्रदान करनेवाला मंगल प्रदान करो ॥ ३०३ ॥

अर्थ——ये उपर्युक्त अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु पंच परमेष्ठो भव्यजीवोके समस्त प्रकारके पापोका नाश करनेवाले हैं और जिनके स्मरणसे अमल गुणोंकी प्राप्ति होती है। वे पंचपरमेष्ठी हमें मगल प्रदान करो और हमारे पापोका नाश करो ॥ ३०४ ॥

आधिव्याधिहरा सुशर्मजनका पापालिनाशङ्करा, वद्या. पूज्या सुरेन्द्रैः सकलगुणधराः पापसन्तापहीना.।
येमे वद्या यया वै भवभयहतका ते दिशन्तु च नो व, शर्म मोक्षस्य नून गुणनिवहकराः तारका हि भवाब्धेः ॥ ३०५ ॥
त वन्दे सर्वकाले परमसुखप्रद श्रीजिनेन्द्रैः प्रणीतम्, भव्याना तारणेश सकलसुरगणैः सेव्यमान सदास्थम्।
निर्दोष सत्प्रपूज्य विपथनगपवि धीरवीरैर्गणेन्द्रै। सेवाद्यस्यैव भव्या अमलगुण (युता) याति मोक्षं सदा हि ॥ ३०६ ॥
यो धर्मोऽधर्महन्ता जिनवरपददो वन्दनीयो मुनीन्द्रैः, यावन्मुक्त्यङ्गनायाः परमतपवशान्नैव प्राप्तिर्भवेन्मे।
तावन्मे शुद्धचित्ते दुरितनगपवि. तिष्ठतु सर्वपूज्यः, दु.प्राप्यो दुर्जनानाममलमतिप्रद सो हि ससारहन्ता ॥ ३०७ ॥
वन्दे त धर्मनाथ नरसुरखचरैः सेव्यमान गणेश, प्राच्याया ब्रह्मरूप सकलमुनिगणैः सद्दिशाया च सस्थम्।
श्रीमन्त मुक्तिकात सकलभयहर वदनात्सेवकाना, भक्त्या सीमधराह्व हरतु मम हृद. सो जिन पापशत्रुम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ—समस्त प्रकारकी आधि-व्याधियोको दूर करनेवाले, पापोके सन्तापको हरनेवाले, देवेन्द्रोसे पूज्य, समस्त गुणोको धारण करनेवाले, ससारके समस्त दुःखोंका नाश करनेनाले, संसार समुद्रसे तारनेवाले ऐसे पंचपरमेष्ठी मोक्षसुख प्रदान करो ॥ ३०५ ॥

अर्थ—परम सुखको प्रदान करनेवाली, भव्यजीवोंको संसारसमुद्रसे पार करनेवाली, समस्त देवगणोसे पूज्य, समस्त दोषोंसे विमुक्त, कुमार्गका नाश करनेवाली, पूर्वापर विरोध रहित, निर्मल गुणोसे पूर्ण ऐसी श्री जिनेन्द्र भगवान्के मुखकमलसे विनिर्गत श्रीशारदा देवीको मै त्रिकाल वदना करता हूँ ॥ ३०६ ॥

अर्थ—अधर्मका नाश करनेवाला, श्रीजिनेन्द्र भगवान्का उत्तम पद प्रदान करनेवाला, मुनिगणोसे वंदनीय, परम तपसे प्राप्त, समस्त पापोंको नाश करनेवाला, संसारका विध्वंस करनेवाला, विमल बुद्धिका प्रदान करनेवाला और दुष्ट जीवोंको अप्राप्य ऐसा पवित्र जैनधर्म जबतक मोक्षसुखकी प्राप्ति न हो तबतक मेरे हृदयमें विराजित रहो ॥ ३०७ ॥

अर्थ—धर्मके ईश, नर-सुर विद्याधरोंसे पूज्य, गणधरोसे सेव्यमान, पूर्वदिशामे ब्रह्माका स्वरूप धारण करनेवाले, मुक्तिके वल्लभ, समस्त भयोंको हरनेवाले ऐसे देवाधिदेव श्रीसीमन्धर स्वामी मेरे पाप शत्रुओका नाश करो ॥ ३०८ ॥

नरसुरपतिवद्य पापदावाग्निमेघ मसमगुणनिधान सर्वतत्त्वार्थसारं ।
जिनवरमुखजात गौतमाद्यैः प्रणीतं, सकलमुनिपसेव्य हि इद भो भजध्वम् ॥ ३०९॥
अस्यैव श्रवणाद्भवेन्नरवरा ज्ञान क्रियाणा तथा, धर्मस्यैव फलस्य शर्मजनक मुक्तेः स्वरूपस्य वै ।
अन्यस्यापि सदैव भो हृदि खलु एव च ज्ञात्वा हृदि, कुर्वीध्व ह्यघहानये अनुदिन स्वाध्यायमस्यैव वै ॥ ३१० ॥
अस्य प्रयोगात्सकलाश्च अहा , प्रयात्यहो दूरतरा जनाना । खगेश्वरदर्शनतो यथा हि, पवनाशना दुर्जनरूपयुक्ता- ॥ ३११ ॥
पठतु चेम बुधसत्तमास्ते ग्रथ मन पापविभजक हि । वादस्य कर्तुः गजसिंहतुल्यमनेकभेदार्थभूत मनोज्ञम् ॥ ३१२ ॥

अर्थ——नर, देव, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि त्रिलोकके जीवोंसे पूज्य, पापरूपी दावाग्निको शांत करनेके लिये मेघके समान समस्त गुणोंका निधान, सर्व तत्त्वोंका सारभूत जिनेन्द्रके मुखकमलके उत्पन्न यह वाणी श्रीगौतम स्वामीने प्रतिपादन की है। और क्रमसे गुरुपरंपरा द्वारा वैसी ही अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप चली आ रही है। ऐसी दिव्यध्वनिरूप (जिनवाणी)को नमस्कार करता हूँ ॥ ३०९ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थराजके श्रवण करनेसे मनुष्य समस्त क्रियाओके ज्ञाता हो जाते हैं धर्म और धर्मफलके स्वरूपको जानने लग जाते हैं। जो इस ग्रन्थराजका स्वाध्याय करेंगे वे समस्त तत्त्वोके ज्ञाता होंगे। इसलिये पापोके नाशके लिये इस ग्रन्थराजका स्वाध्याय नित्य प्रतिदिवस करना चाहिए ॥ ३१० ॥

अर्थ—जिस प्रकार गरुड़के दर्शन मात्रसे सर्प भाग जाते है। उसी प्रकार इस ग्रन्थके पठन-पाठन, स्वाध्याय और श्रवण करनेसे समस्त पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाते है ॥ ३११ ॥

अर्थ—इस ग्रन्थका पठन-पाठन हे भव्यगणो अवश्य ही करिये। इससे मनके समस्त पाप शीघ्र ही नाशको प्राप्त हो जायेंगे। यह ग्रन्थ वाद-विवाद करनेवालेको सिंहके समान है और अनेक भेदार्थको प्रकट करनेवाला है ॥ ३१२ ॥

सूर्यप्रकाश ग्रंथ प्रशस्तिः

श्रीमलसघे विदिते धराया गच्छे हि तस्मिन् वरभारतीये । तस्मिन् बलात्कारगणेतिरम्ये श्रीकु दकु दाख्यसुवशयुक्ते ।। ३१३ ।।
तपर्द्धियुक्ते वरनंदिनाम्न आम्नायेपु तस्य ह्यभून्मुनेश्च । स्वर्णादिकीर्तिर्यवरसूरिनाम्ना चपावतीनामपुरे प्रशस्ते ।। ३१४ ।।
सूरे हि तस्य वर बोधयुक्त, ह्यभूत् सुनाम्ना विदुषा च मान्य । विद्वद्वर श्रीयुतराजमल्ल, शिष्यो नृपैः पूजितपादपद्मः ।। ३१५ ।।
नाम्ना फतेचद्र सुरूपयुक्त, शिष्यो ह्यभूत्तस्य मनोभिराम. । शास्त्राब्धिपारगतचित्तवृत्ति, रवीव दैगबरधर्मकारी ।। ३१७ ।।
तस्याप्यभूच्छोवरबोधवान् वै, वृ दावनाख्य सुरपूज्यपाद । प्रतापवान् शुभ्रगुणाकितश्च, जिनेन्द्रपादाब्जद्विरेफतुल्यः ।। ३१७ ।।
स्मरारिहन्ता सकलार्थवेत्ता, परोपकारे धृतशुद्धचित्त । धराधिपै. सेवितपादपद्म, धर्माब्धिइन्दुसमभावयुक्त ।। ३१८ ।।
कलाकलापाङ्कितविग्रहश्च, पञ्चाक्षशर्माद्विमुख सदा वै । मायाभिमानेन विवर्जिताग', नि क्रोधरूपश्च्युतलोभशत्रु ।। ३१९ ।।

अर्थ---संसार मात्रमें प्रसिद्ध ऐसे मूलसंघमें भारतीय नामक गच्छमें बलात्कारगणमें और श्रीकुदकुद आम्नायमें तप ऋद्धिसे विभूषित--पद्मनन्दी मुनिकी आम्नायमें स्वर्णकीर्ति नामके प्रसिद्ध आचार्य चंपापुर नगर में थे ।। ३१४-३१५ ।।

अर्थ---स्वर्णकीर्ति आचार्यके पट्ट पर विद्वानोंसे मान्य श्रेष्ठ विद्वद्वर्य श्रीयुक्त राजमलजी हुए। जिनके अनेक राजा शिष्य थे।

श्रीराजमलजीके फतेचन्द्रजी नामके सुजन शिष्य थे। फतेचन्द्रजी समस्त शास्त्रोंमें पारंगत सरस्वतीको अपने चित्तमें धारण करनेवाले और धर्मको प्रकट करनेवाले थे ।। ३१४-३१५ ।।

अर्थ---फतेचन्द्रजीके वृन्दावन नामके शिष्य थे। वे प्रतापी, गुणवान्, श्रीजिनधर्मके प्रेमी देवताओसे पूजित, ज्ञानकलामें अतिशय निपुण थे ।। ३१६-३१७ ।।

अर्थ---श्रीवृंदावनका वर्णन ऊपर कहा जा चुका है। फिर भी तीन श्लोकोंमें विशेष दिखलाते है।

कामदेवको नाश करनेवाले, समस्त तत्त्वको जाननेवाले, परोपकार करनेमें विशेप लवलीन, राजाओं से सदैव मान्य, धर्मको वृद्धिगत करनेके लिये चन्द्रमाके समान, अनेक कलाओंसे जगत्‌मे चमत्कार प्रकट करने-

मतातरपालकभिञ्च पादो, सद्वदितौ यस्य प्रतापतेजसा । तस्यापरा कि कथयामि शोभां, धर्मोपदेशे धृतचित्तवृत्तिः ।। ३२० ।।
वृंदावनस्यापि ह्यभूद्वरेण्य', सीतादिरामाभिधशिष्य वाग्मी । भव्यै नृभि. सेवितपादपद्मो, मृद्वाशयो वा वरपुण्यमूर्तिः ।। ३२१ ।।
विवेकधर्ता वररूपयुक्त', दयाव्रतपालनचचु शुद्ध. । श्रीजैनधर्मस्य प्रकाशकारी, विद्वज्जनाना मनमोदकारी ।। ३२२ ।।
पट्कर्मधर्ता विहताहवारः, श्रीसिद्धभूमेश्च कृता सुयात्रा । सच्छीलव्रत्तेन विभूपितागो, मानापमाने समधो सदैव ।। ३२३ ।।
श्रीराम ह्यते शिवजीहि आदौ, शिष्यो धराया विदित कृपाल्लु, अभूच्च तस्यापि गुणोत्कराढ्यो, विपश्चिदोघेषु सुमुख्यमूर्तिः ।
अनेकविज्ञानप्रकाशकारी, सद्धर्मध्याने धृतधी. निशान्हि । सिद्धात पौराणविचारदक्ष सद्गी. सदासेवितधर्मवर्त्मा ।। ३२४ ।।
कियत्प्रमाव्दैर्विहिता च तेन, तत्रैव चम्पावति सत्पुरे हि । सद्धर्मयुक्तेन गुणाकरेण भव्याब्जभानुसदृशेन येन ।
तस्माद्धि चागत्य पुरे मनोज्ञे, तक्षाभिधे सैव स्थितिं चकार । कियन्समैर्वा सुखतश्च वाग्मी श्रीधर्मवर्त्मैव प्रवर्द्धनार्थम् ।। ३२५ ।।

वाले, पाँच इन्द्रियोको जीतनेवाले, विषयोसे विरक्त, मान, माया, लोभ आदि कषायोसे रहित, क्रोधादि दुर्भावनासे विरक्त, परमशात, अनेक मतान्तरोका खण्डन कर समस्त वादियोसे पूजित, परम प्रतापी और तेजस्वी ऐसे वृंदावनके गुणोका कौनसे शब्दोंसे वर्णन करें । उनके समस्त गुण कह नहीं सकते ।। ३१८-३२० ।।

अर्थ—वृन्दावनके शिष्य सीताराम थे । सीतारामजी वाग्मी भव्यजीवोसे पूजित, सरल परिणामी, पुण्यमूर्ति, विवेकी, सुरूपवान, दयाव्रतके पालनेमें विशेष उपयोग लगानेवाले, अन्तःकरणकी शुद्धताको धारण करनेवाले, श्रीजैनधर्मके प्रभावक विद्वानोसे मान्य, आनन्द स्वभाववाले, षट्कर्ममें प्रवीण, पापोको नाश करनेवाले, सिद्धभूमिकी यात्रा करनेवाले, शील और व्रतसे विभूषित, मानापमानमे चित्तको सावधान रखनेवाले, परम शात थे ।। ३२१-३२३ ।।

अर्थ—सीतारामके शिष्य शिवजीराम प्रसिद्ध हुए । शिवजीराम कृपालु, गुणगणोसे विभूषित, विद्वानोमें सबसे अग्रेश्वर, विज्ञानको प्रकट करनेवाले, धर्मध्यानमें अपनी बुद्धिको लगानेवाले, धर्मके सूर्य सिद्धान्त, समुद्रके पारगत, श्रेष्ठ वाणीको प्रकाश करनेवाले और धर्ममार्गकी सदैव सेवा करनेवाले थे ।। ३२४ ।।

अर्थ—शिवजीरामजो चम्पापुर नगरमें विशेप रहे । और धर्मको महिमा चम्पापुरमें विशेष रूपसे प्रकट को । फिर वहाँसे तक्षाभिध नगरमें कुछ समय सुखसे रहे । और यहाँपर भी धर्मका उद्योत करते रहे ।

शिवजीरामने अपनी पर्यायमें अपनी शक्तिसे असीम धर्मकी महिमा प्रकट की । और स्थान-स्थान पर धर्मके प्रकाशनके लिये विहार करते थे ।। ३२५ ।।

गागत्य तस्मादपि नोहि भव्य, द्रोणीपुरे वा विदिते क्षितौ हि । अनेकशोभाभिभृते मनोज्ञे, सत्खातिकाशालविमण्डिते न ।
तस्मिन् विभात्येव मनोहरहि, जिनेन्द्रसद्मो नरभृतियुक्त । सशोभते तस्मिन् पापहन्ता श्रीपार्श्वनाथो हि जिनेन्द्रदेव. ॥ ३२६ ॥
मृगारिपीठोपरि सस्थित हि, दविकराक मनमोदद न । छत्रादि शोभाभि विराजमान, पद्मासनस्थ वरसौम्यमूर्तिम् ॥ ३२७ ॥
आतङ्कमातङ्गमृगेन्द्रतुल्य, सुरेन्द्रपूज्य न नरेन्द्रवद्य । चित्तस्थपापालिविनाशक त, हतारमेवाखिलदु खकाना ॥ ३२८ ।
इत्यादिशोभाभि विमण्डित त, दृष्ट्वा च नत्वा हृदि ह्याप्य मोद । वास चकार विदितो धरित्र्या, धर्मोपदेशार्थमहो हि तस्मिन् ॥३२९॥
तत्रैव तत्रापि अभूच्च शिष्यो, नेमीन्दु नाम्ना वरधीप्रयुक्त । श्रीशारदासेवनचित्तवृत्ति, तस्या प्रसादाच्च अय कृतो वै ॥ ३३० ॥
ग्रथेऽस्मिन् जिनवक्त्रेन तनुधिया किञ्चिद्विरुद्ध च यत्, मात्राशब्द पदाक्षरादिरहित आलस्यसयोगत ।
गद्धातागमतश्च भो शिवप्रदे नानाकथासभृते, प्रोक्त च क्षमता सुतद्धि विमले सर्वं ममाग खलु ॥ ३३१ ॥

अर्थ––श्रीयुक्त शिवजीरामजी वहाँसे (तक्षनगरसे) कुछ दिवस बाद चले आये और द्रोणी नामक ग्राममें रहे । उस समय द्रोणीपुर समस्त संसारमें प्रसिद्ध था । खातिका कोट-सरोवर आदिसे विशेष शोभा-युक्त और व्यापारका केन्द्र था । द्रोणीपुरमें एक पार्श्वनाथ भगवान्‌का दिगम्बर जैन मन्दिर था । यह जिन मन्दिर बड़ी भारी विभूतिसे सुशोभित था । उस मन्दिरमें समस्त पापोंका नाश करनेवाले स्वर्णके सिंहासन पर विराजमान समस्त प्राणियोंको आनन्दके देनेवाले छत्र, चमर, भामण्डलसे अनुपम आत्माको धारण करनेवाले, पद्मासन विराजमान, सौम्यमूर्ति, परमशांत मुद्राके धारक, समस्त रोग-शोक आदि व्याधिको दूर करनेवाले देव-गणोंसे पूजित व भव्यजीवोंसे वन्दनीय, सबके मनके पापोंको शांत करनेवाले, समस्त प्रकारके कष्टोंको नष्ट करनेवाले, सातिशय चमत्कारको धारण करनेवाले इत्यादि बहुत-सी शोभासे विभूषित श्रीपार्श्वनाथ भगवान् देवाधिदेव विराजमान थे ।

शिवजीरामजीने यह स्थान धर्मसाधनाके लिये सुयोग्य समझा । और यहाँपर वही धर्मोपदेश देकर (धर्मका प्रकाश कर) धर्मकी महिमाको बढ़ानेके अभिप्रायसे निवास किया ॥ ३२६-३२९ ॥

अर्थ––द्रोणी नगरमें शिवजीरामके शिष्य नेमिचन्द्रजीने अनेक शास्त्रोंका पठन-पाठन किया था और सरस्वती माताकी विशेष सेवा की थी जिसके प्रसादसे इस ग्रन्थकी रचना हुई ॥ ३३० ॥

अर्थ––इस ग्रन्थमें (सूर्यप्रकाशमें) श्रीजिनवर भगवान्‌के मुखकमलसे विनिर्गत दिव्यध्वनि (जिनागम)

यस्या. प्रसादाद्रचयन्ति ग्रथान् कवीश्वराः धर्मप्रकाशकान् हि । श्रीशारदायाः शुभबुद्धियोगात् ईडे हि ता सन्मतिसिद्धयेहं ॥३३२॥
पूजार्थं ख्यातितार्थं ननु च वुधजना नो कृतोय च ग्रन्थः । द्वेषाद्वा रागभावात् शिवपदजनको वा कवित्वाभिमानात् ॥ ३३३ ॥
वोधार्थं आत्मनो वै पुनश्च शिवपदप्राप्तये सज्जनाना । सबोधार्थं पुनातु मम च खलु हृद वा शरीर च वाक्यम् ॥ ३३४ ॥
वुधाश्चेमे ग्रथं प्रवरगुणद धर्मजनकम्, अघा नाश यान्ति श्रवणपठनादस्य निखिलाः ।
ततो नून दु खनिवहविपमाः दुर्जनसमा', सदाकाले शुद्धे अमलमतिभा भो पठथ वै ॥ ३३५ ॥

के विरुद्ध जो हो ओर अक्षरपद मात्रादि दोष तथा व्याकरणके दोष सहित जो कुछ कहा गया हो विद्वान् भव्य मेरे अपराधोको क्षमा करे । शास्त्र समुद्रमें कौन नहीं भूल खाता है ॥ ३३१ ॥

अर्थ—जिस सरस्वतीके कृपाकटाक्षसे कवीश्वर धर्मकी महिमाको प्रकट करनेवाले ग्रन्थोंकी रचना करते हैं । उस सरस्वती माताकी मैं भाव विशुद्धिसे सन्मतिकी प्राप्तिके लिये पूजा करता हूँ ॥ ३३२ ॥

अर्थ—मैंने यह ग्रन्थ अपनी प्रसिद्धिके लिये या मान बढ़ाई प्राप्त करनेके अभिप्रायसे नहीं बनाया है या द्वेष और राग भावसे अभिमानके वश होकर नहीं बनाया है । मैंने केवल अपनी आत्माको बोध करनेके लिये और सज्जनोको सवोध करनेके लिये पवित्र भावोसे बनाया है । इसलिये यह ग्रन्थ मेरे हृदय, वचन और शरीरको पवित्र करो ।

भावार्थ—ग्रन्थकारका अभिप्राय है कि इस ग्रन्थकी रचना किसी दुष्ट बुद्धिसे अभिमानकी रक्षाके लिये राग द्वेषके विकार भावोंसे या किसी भी स्वार्थबुद्धिसे नहीं की है । जिससे इस ग्रन्थमे जिनागमके विरुद्ध वर्णन लिखा जाय । जो कुछ वर्णन किया है वह श्री जिनागमका स्वरूप ही है । मात्र शब्द योजना मैंने की है ॥ ३३३-३३४ ॥

अर्थ—हे विद्वज्जन हो यह ग्रथ अनेक गुणोको प्रदान करनेवाला और धर्मका वीजभूत है । इसके श्रवण करने और पढनेसे पाप नाशको प्राप्त होते हैं । परन्तु दुर्जनोको यह न रुचेगा । सुजन जन तो सदा काल इसका पठन-पाठन करेंगे ॥ ३३५ ॥

नो नगि नज्जनात परममुनिनुता- पत्नमज्ञानिनो हि, लोकाना तारणेशा सकलसुरनुता- सपदासारयुक्ता ।
गगु हि नंगताग्र बुधजननिकरा तेपि शास्त्रेपु नूनम्, तत्तुल्या सति भव्या- कलियुगभवने नो खलु सशयोत्र ॥ ३३६ ॥
गंगो बुद्धिपद सदा सुखकरो गथ श्रिता ज्ञानिनो, गंथेनैव समाप्यतेऽमलपदो ग्रथाय तस्मै नम ।
गथान्नास्त्यपरो हितोत्र भवने सच्छर्मद सज्जना, ग्रन्थस्यैव शुभा- गुणाः शुभप्रदे तस्मिन् हि गन्थे सदा ॥ ३३७ ॥
नानासारकथाश्रितो बुधजनैर्वंद्यो च देवेश्वरे, प्रोक्ते श्रीजिनदेवैभिश्च महति सर्वेव ग्रथाः खलु ।
चित्त गोक्षपदे दधे च शुभग भो ईदृशे नददे, मा त्व चोद्धर शोघ्रमेव भवतः ईहाहि नो चापरा ॥ ३३८ ॥
गथेग बुधसत्तमा शिवप्रद विद्वद्वरेणैव वै, प्रोक्त पापप्रणाशक बुधनुत सद्बुद्धिद पावनम् ।
सार सिद्धातसिन्धो सकलमन' प्रिय नेमिचद्रेण धीरा, बुद्ध्यब्धे' पारप्राप्ताः सकलमदच्युतास्ते मुदा शोधयतु ॥ ३३९ ॥
जिनेन्द्रपादाब्जमधुव्रतेन गथः कृतोय शुभचेतसा वै । तेन मुदा भव्यप्रबोधनार्थं शिवाय वोस्तु ननु नोपि शुद्धः ॥ ३४० ॥

अर्थ—इस विषम पंचम कालमें, मुनियोसे पूज्य, समस्त जगत्के तारक, अनन्त चतुष्टय और समोशरणादि विभूतियुक्त ऐसे तीर्थंकर केवली भगवान् साक्षात् नहीं है। परन्तु उनके वचन ही गणधरोंने तीर्थंकर केवली भगवान् माने हे। केवली और उनके वचनोंमें भेद नही है। इसमे कुछ सन्देह नही करना चाहिये ॥३३६॥

अर्थ—ग्रन्थ ही बुद्धिके प्रदाता है, सुखको करनेवाले है। ज्ञानी पुरुषोंने ग्रन्थोका आश्रय ग्रहण किया है। ग्रन्थो से ही अमलपदकी प्राप्ति होती है। ग्रन्थके लिये मेरा नमस्कार हो। ग्रन्थके सिवाय अन्य कोई इस संसारमे सुखका प्रदाता नहीं है। ग्रन्थके शुभ गुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, ग्रन्थमें शुभ गुण रहते है ॥ ३३७ ॥

अर्थ—अनेक कथाओंसे विभूषित, बुध जनोंसे मान्य, श्रीजिनराजके मुखकमलसे प्रतिपादित, समस्त प्रकारके आनन्दको प्रदान करनेवाले, मोक्षको देनेवाले और संसारका नाश करनेवाले ऐसे शास्त्रोंको भव्य जीव अपने हृदय मन्दिरमें विराजमान करते हैं ॥ ३३८ ॥

अर्थ—समस्त पापोंका नाश करनेवाला, बुद्धिका प्रदाता, मोक्षके सुखको देनेवाला, परमपवित्र, सिद्धांतका सारभूत, समस्त जनोको प्रिय यह सूर्यप्रकाश ग्रन्थ श्री विद्वद्वर्य श्री नेमिचंद्रने बनाया है। इसका निरभिमानी विद्वान् गण शोधन करें ॥ ३३९ ॥

अर्थ— श्रीजिनराजके पवित्र चरणोंकी सेवा करनेमे तत्पर, विशुद्ध भावोंसे विभूषित ऐसे नेमिचन्द्रने भव्य जीवोंके प्रबोधके लिये तथा अपने आत्मकल्याणके लिये यह ग्रन्थ बनाया है ॥ ३४० ॥

कराच्च स्वस्यैव लिखति चेद वित्ताच्च स्वस्यैव च लेखयति । श्रीजैनमार्गस्य प्रवर्द्धनार्थं तेऽग्रे भविष्यति सुबोधयुक्ताः ॥३४१॥
ग्रथ· सूर्यप्रकाशनामकलितो विद्वज्जनैर्वंदित, सूर्याचद्रममा उडूपनिकरा अभ्रे महानिर्मले ।
स्थास्यत्थेव ह्यय यथाक्षितितले मिथ्यामतध्वसनो, मान्यो भव्यनृभिस्तथाहि भवने पूज्यश्चिर नदतु ॥ ३४२ ॥
अय च ग्रथः पठकस्य नित्य, करोतु पापालिविनाशन हि । सन्मगल बुद्धिवरा तथाहि, हृद्वाछितं शर्मतति पुनश्च ॥ ३४३ ॥
ममाधिमृत्यु सुगतिं तथैव, सद्दर्शन ज्ञान तथा च व्रतम् । पुत्रादिवृद्धि जिनधमसिद्धि, जिनपादद्वयसन्नुतिं च ॥ ३४४ ॥
ममापि सर्वे सुगुणा भवतु, इमे हि मोक्षपददायकाश्च । दुःपापसदोहविनाशकाश्च, नाकादि स्यात् तस्य कथा हि नास्ति ॥ ३४५ ॥
अकाभ्रनन्देन्दुप्रभेहि चाब्दे, मित्राद्रिशैलेन्दुसुशाकयुक्ते । मासे नभाख्ये शुभनदधस्रे, विरोचनस्यैव सुवारके हि ॥ ३४६ ॥
द्रोणीनगर्यां विदितेऽचलायामनेकशोभाभिमडिते च । मध्याह्नकाले अरुणस्य शुद्धे, राधानक्षत्रे शुभनामयोगे ॥ ३४७ ॥
श्रीपार्श्वनाथायतने हि तस्मिन्, सपूर्णता हि अगमदय च । सदा पुनातु प्रवरो हि ग्रंथो नो वश्च चित्त जयति धरित्र्याम् ॥ ३४८ ॥

अर्थ—जो सज्जन इस ग्रथको अपने हाथोंसे लिखेंगे या जो भव्य जीव अपनी सम्पत्तिसे लिखायेंगे ओर इसका विस्तार करेंगे वे जैनधर्मकी वृद्धि करेंगे उनको भविष्यमें श्रेष्ठ ज्ञान संपादन होगा ॥ ३४१ ॥

अर्थ—विद्वज्जनोसे वंदनीक, भव्य जीवोंसे सदैव मान्य और मिथ्या मतका ध्वंस करनेवाला यह सूर्यप्रकाश नामका ग्रन्थ संसारमें जब तक सूर्यचंद्र या ग्रहनक्षत्र हैं तब तक सदैव स्थिर रहो । चिरकाल तक जैनधर्मका प्रकाश करो ॥ ३४२ ॥

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश ग्रन्थ पढ़नेवाले भव्य जीवोके पापोंका नाश करो, मंगल करो, बुद्धि प्रदान करो और मनके मनोरथ सफल करो ॥ ३४३ ॥

अर्थ—यह ग्रंथ पढ़नेवालोंको समाधिमरण, सुगति गमन, बोधि लाभ, पुत्र-कलत्र आदिकी प्राप्ति और जिनधर्मकी सिद्धि प्रदान करो ॥ ३४४ ॥

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश ग्रन्थ ग्रन्थकर्ता श्रीनेमिचंद्रको भी समस्त गुणोंकी प्राप्ति करो जिससे मोक्षसुखकी प्राप्ति हो और पापोंका नाश हो । स्वर्गके सुखोकी आवश्यकता नहीं है ॥ ३४५ ॥

अर्थ—यह ग्रन्थ १९०९ संवत् के वैसाख मास मे रविवारको लिखा गया ॥ ३४६ ॥

अर्थ—यह सूर्यप्रकाश ग्रन्थ संसारमे प्रसिद्ध, विचित्र शोभासे सुशोभित द्रोणी (दूनी) नगरमें मध्याह्नके

ज्ञानी ध्यानी मुनीन्द्रो मुनिगणमहितो नेमिचद्रश्च नाम्ना, सिद्धान्तावारकर्ता सकलमुनिगणेपु च मुख्यत्वमाप।
योहि देवै प्रपूज्य सुगुरुप्रतिम· द्वद्वभिर्वजितागः, सैव सपातु नो व· शिवपदसुखद मंगल वा करोतु ।। ३४९ ।।

समय राधा नक्षत्र शुभयोगमें विशुद्ध भावोसे श्रीपार्श्वनाथ दिगम्बर जैन चैत्यालयमें पूर्ण किया। यह ग्रन्थ चिरकाल पर्यन्त ससारमे जेनधर्मकी वृद्धि करो, हमारे चित्तको पवित्र करो ।। ३४७-३४८ ।।

अर्थ—अनागत प्रकाशादिकके कर्ता और गोमट्टसार आदि महान् ग्रंथोंके निर्माता श्री नेमिचन्द्र सिद्धांत-चक्रवर्ती मुनीश्वरका आभार (नेमिचन्द्र ग्रन्थकार) माननेके लिये विनयसे श्रीनेमिचन्द्र मुनीश्वरका गुणानुवाद करता है। क्योंकि उनके अनागत प्रकाशसे हो यह ग्रंथ निर्माण किया है। अतएव जिसने उपकार किया है उनका आभार मानना परमावश्यक है।

आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी व समस्त मुनियोसे मान्य थे जिन्होने सिद्धांत ग्रन्थ बनाये है जो देवोसे पूज्य, समस्त प्रकारके द्वंद्वसे रहित, मुनियोके स्वामो, बृहस्पतिके समान ऐसे श्री नेमिचन्द्र आचार्य ग्रन्थकर्ता नेमिचंद्रको मंगल प्रदान करो ।। ३४९ ।।

इति श्री मुनिनेमिचद्रसिद्धातचक्रवर्तिना कृतः अनागत प्रकाशग्रन्थस्तदनुसारतोनिद्वद्वरश्रीनेमिचन्द्र-
विरचिते श्रीसूर्यप्रकाशनामग्रथे श्रीकुदकुदस्वाम्याद्युत्पत्तिवर्णनो नाम प्रथमोध्याय ।।

श्रीरस्तु-कल्याणमस्तु। श्री